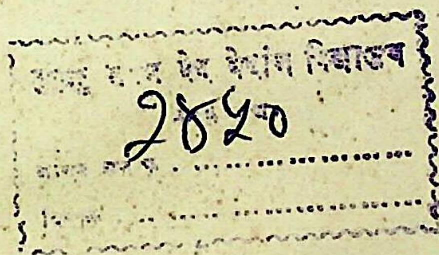



२४५०



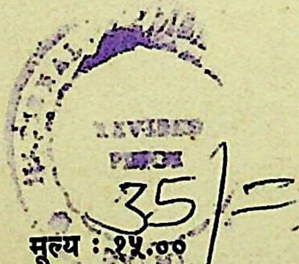
अनुवाद, विवेक व्याख्या, रामतीर्थकृतविद्वन्मनोरञ्जनी
एवं पारिभाषिकशब्दपरिचय आदि सहित

रामभूर्ति शर्मा

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, शास्त्री
प्रोफ़ेसर, संस्कृत-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
(स्वत्वाधिकारी : के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि०)
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएँ
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३
चौड़ा रास्ता, जयपुर



मूल्य : १५.००

स्वत्वाधिकारी के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि० के लिए नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित / प्रथम संस्करण १९७८ / सर्वाधिकार डॉ० राममूर्ति शर्मा/अमर प्रिंटिंग प्रेस, विजय नगर ८/२५ द्वारा मुद्रित।

VEDANTASARA *by Dr. Ram Murti Sharma*

पूज्यपाद पिताजी
स्वर्गीय पण्डित श्रीगङ्गारामजी शर्मा
की पुण्य-स्मृति में

उपस्थापन

अद्वैत वेदान्त भारतीय दर्शन की मुकुटमणि है। इस दर्शन के मूल सिद्धान्तों को समझने के लिए श्रीसदानन्दविरचित 'वेदान्तसार' का स्थान वास्तव में अनन्वय है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में श्री शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का इस पुस्तक में बहुत अच्छा सारसंग्रह है। अद्वैत वेदान्त के कठिन तथा श्रमसापेक्ष ग्रन्थों में प्रवेश नहीं पाने वाले जिज्ञासु विद्यार्थियों के लिए इससे अच्छा सरल ग्रन्थ अन्य कोई नहीं है। यही कारण है कि अद्वैत वेदान्त के विद्यार्थियों के लिए 'वेदान्तसार' अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। 'वेदान्तसार' का पहला संस्करण अंग्रेजी अनुवाद के साथ डा० वैलन्टाइन ने ई० स० १८५० में प्रकाशित किया था। १८७२ में डा० बोह्टलिंक ने जर्मन अनुवाद के साथ 'Chrestoma‘hei' में अपना संस्करण निकाला। इसी समय १८७५ में पण्डित जीवानन्द विद्यासागर ने नृसिंह सरस्वती की सुबोधिनी टीका के साथ 'वेदान्तसार' का संस्करण प्रकाशित किया, और जी० ए० जेकोब ने १८९३ में नृसिंह सरस्वती की सुबोधिनी तथा रामतीर्थ की विद्वन्मनोरञ्जनी इन दो टीकाओं के साथ सोलह हस्तलिखित प्रतियों का सम्पादन कर के अपनी महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी टिप्पणी के साथ वेदान्तसार का प्रामाणिक आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित किया। यह स्मरणीय है कि विद्वन्मनोरञ्जनी टीका १८२८ में कलकत्ता से तथा १८७३ में काशी से इसके पूर्व प्रकाशित हो चुका थी। जेकोब का यही संस्करण भारतीय विश्वविद्यालयों के वेदान्त दर्शन के प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए आज भी अत्यन्त लोकप्रिय है।

इधर अनेक वर्षों से उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों में हिन्दी माध्यम हो जाने से 'वेदान्तसार' के एक प्रामाणिक हिन्दी व्याख्यान की अपेक्षा थी। हिन्दी के माध्यम से चार-पांच संस्करण निकले किन्तु यह कमी फिर भी बनी ही रही। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि अब यह कमी मेरे विद्वान् मित्र डॉ० राममूर्ति शर्मा के प्रस्तुत संस्करण से पूरी हो रही है। इस संस्करण में श्रीरामकृष्ण की विद्वन्मनोरञ्जनी जुड़ जाने से संस्करण की

उपादेयता बढ़ गई है। हिन्दी व्याख्या में डा० शर्मा ने सदानन्द के हृदय को भली भांति समझा है और स्वयं अद्वैत वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वान् होने के नाते इन्होंने अनेक स्थान पर नृसिंह सरस्वती की सुबोधिनी टीका के अर्थ के साथ अपना मतभेद भी स्पष्ट प्रकट कर दिया है। वेदान्तसार में प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए डॉ० शर्मा ने अनेकानेक अन्य ग्रन्थों के सानुवाद उद्धरण भी साथ में दिए हैं। मैं डॉ० राममूर्ति शर्मा के इस हिन्दी संस्करण का हार्दिक स्वागत करता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वेदान्तसार के इस संस्करण से विद्यार्थियों का ही लाभ नहीं होगा, बल्कि अद्वैत वेदान्त के हिन्दीभाषी जिज्ञासुओं का भी बहुत हित होगा। प्रस्तुत हिन्दी-व्याख्या कलेवर में संक्षिप्त होते हुए भी मूल 'वेदान्तसार' की भाति सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में समर्थ हुई है, यह इस संस्करण की बहुत बड़ी विशेषता है।

दिल्ली

रसिक विहारी जोशी
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० (पेरिस)
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्राक्कथन

भारतीय आचार एवं संस्कृति के प्रतिफल—दर्शन के सम्बन्ध में प्रादुर्भूत जिज्ञासा एवं चिन्तन जहाँ एक भारतीय का महनीय कर्तव्य है, वहाँ वह उसके जीवन का सुखद पाथेय भी है। ये दोनों अनुभव मैंने १९५८ से, जब से मैंने वेदान्त का अध्ययन आरम्भ किया है, आजतक प्राप्त किए हैं। इस दिशा में, मेरा प्रथम प्रयास—'शङ्कराचार्य' है। उसके पश्चात् वेदान्त-विषयक अनुशीलन का मेरा दूसरा प्रयत्न 'अद्वैत वेदान्त' कहा जा सकता है। जैसे-जैसे मैं वेदान्त-विषयक अनुशीलन की ओर प्रवृत्त हुआ हूँ, मुझे इस शास्त्र की उस अगाधता का आभास हुआ है, जिसने मेरी वेदान्त-विषयक जिज्ञासा को पुनः-पुनः प्रेरित किया है। इसके अतिरिक्त सोलह-सत्रह वर्ष से वेदान्त का अध्यापन करते समय उद्भूत अनेक समस्याएं भी प्रस्तुत संस्करण की रचना का मूल कही जा सकती हैं।

वेदान्त-साहित्य में सदानन्दविरचित 'वेदान्तसार' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वेदान्त के विस्तृत सिद्धान्तों को संक्षिप्त एवं समन्वित रूप में प्रस्तुत करना सदानन्द की अप्रतिम विशेषता है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएं एवं टिप्पण लिखे गये हैं, जिनमें रामतीर्थ की विद्वन्मनोरञ्जनी, नृसिंह-सरस्वती की सुबोधिनी तथा अर्वाचीन विद्वानों में जैकब के टिप्पण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मैंने इन सभी से यथेष्ट लाभ लेने का प्रयत्न किया है। इसके साथ ही जैकब द्वारा सम्पादित विद्वन्मनोरञ्जनी को भी पाद-टिप्पणी सहित दे दिया गया है। मुझे विश्वास है, इस टीका से प्राचीन शास्त्रीय परम्परा एवं आधुनिक पद्धति के अध्येताओं—दोनों का ही उपकार अवश्यम्भावी है। इस प्रकार वेदान्तसार के अनुशीलन के सम्बन्ध में ये तीनों ही प्रयास अतिशय महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इनमें भी कतिपय समस्याएँ अनुत्तरित ही बनी रही हैं। इन समस्याओं का यत्-किञ्चित् विचार इस लघु प्रयास में यत्र-तत्र वर्तमान है, जिसके औचित्य का निर्णय वेदान्त-दर्शन के विद्वान् एवं मेरे विद्यार्थिबन्धु ही कर सकेंगे।

भारतीय दर्शन के अधिकारी विद्वान् परमशास्त्ररसिक डॉ० रसिकविहारी जी जोशी (प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) ने इस लघु प्रयत्न को अपनी प्रचुर आशीराशि से उपकृत किया है—यह उनके सहृदय स्वभाव एवं प्रेरक अगाध मनीषा का ही फल है। उनके अमूल्य स्नेह का मैं ऋणी हूँ। यहाँ अपनी प्रिया सहधर्मिणी चेतन शर्मा के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन भी मेरा पवित्र कर्तव्य है, जिनकी प्रेरणा एवं सहयोग के अभाव में मेरा कुछ न कर पाना स्वाभाविक है। चिरञ्जीवी वाचस्पति शर्मा एवं सुनील शर्मा की स्नेहमयी प्रेरणा के लिए मैं उनका शुभैषी हूँ।

अन्त में, नेशनल पब्लिशिंग हाउस के स्वामी श्री कन्हैयालाल जी मलिक एवं उनके सुपुत्र श्री सुरेन्द्र मलिक विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके माध्यम से मेरा यह प्रयास पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो सका है। मुद्रण के सम्बन्ध में श्री शाम लाल जी, स्वामी, शाम प्रिंटिंग एजेन्सी भी धन्यवादार्ह हैं, जिन्होंने प्रस्तुत कार्य में यथाशक्ति सावधानी बरती है। अब परमेश्वर से यही प्रार्थना है—

"निखिलमनुजचित्तं ज्ञानसूत्रैर्नवैर्यः
स्रजमिव कुसुमानां कालरन्ध्रैर्विधत्ते।
स लघुमपि ममैतं प्राच्यविज्ञानतन्तु-
मुपहृतमतिभक्त्या मोदतां मे गृहीत्वा॥"

संस्कृत-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ रामसूर्ति शर्मा

विषय-सूची

भूमिका

वेदान्त दर्शन भारतीय दर्शन ही नहीं विश्व की दर्शन-पद्धतियों में शिरोमणि है। यों तो रामानुज, निम्बार्क, मध्व एवं वल्लभ की दर्शन-पद्धतियाँ भी वेदान्त के ही अन्तर्गत आती हैं, किन्तु आज प्रायः वेदान्त से शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित वेदान्त का ही आशय ग्रहण किया जाता है। इसका कारण शाङ्कर वेदान्त दर्शन की स्पष्टता, तर्क-सम्मतता, समन्वयता एवं शङ्कराचार्य की प्राञ्जल शैली है। इन्हीं विशेषताओं के कारण वेदान्त दर्शन भारतीय ही नहीं, विदेशी समीक्षकों के द्वारा भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसित हुआ है। थीवो[1] ने वेदान्तदर्शन की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

...Neither those formus of the Vedānta which diverge from the view represented by Śaṅkara, nor any of the non-Vedāntic system can be compared with the socalled orthodox Vedānta in boldness, depth and subtility of speculation.

वेदान्तसार शाङ्करवेदान्त-परम्परा का अनुपम ग्रन्थ है। शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य, गीताभाष्य, उपनिषद्भाष्य एवं प्रकरण-ग्रन्थों में वेदान्त के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, वेदान्तसार के प्रणेता सदानन्द ने अपने ग्रन्थ में उन्हीं का संक्षिप्त एवं स्पष्ट निरूपण मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया है। वेदान्त के शङ्कराचार्य-परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में वेदान्तसार को जो लोकप्रियता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, मेरे विचार से वह पञ्चदशी के अतिरिक्त किसी दूसरे ग्रन्थ को नहीं। १५वीं शताब्दी में प्रादुर्भूत आचार्य सदानन्द के दार्शनिक विचारों का विश्लेषण करने से पूर्व वेदान्त की पृष्ठभूमि एवं आचार्यपरम्परा का उल्लेख करना अपेक्षित होगा।

वेदान्त की पृष्ठभूमि एवं आचार्य-परम्परा

वेदान्त की आचार्य-परम्परा का आरम्भ यद्यपि बादरि से ही माना जा सकता है, किन्तु वेदान्त के सिद्धान्त बीज ऋग्वेद संहिता से ही मिलने आरम्भ हो जाते हैं। इस प्रकार वेदान्त की मूल पृष्ठभूमि को वैदिक वाङ्मय में खोजना असमीचीन नहीं कहा जा सकता। श्रीमद्भागवत[2] का कथन—

१. Thibaut, Introduction, Vedāntasūtra, p. xiv (S. B. E.)
२. श्रीमद्भागवत ११।२१।२१

"वेदाः ब्रह्मात्मविषयाः" उक्त विचार का ही समर्थक है। अतः यहाँ पहिले वैदिक वाङ्मय में वेदान्त की पृष्ठभूमि के दर्शन का प्रयास किया जाएगा।

वैदिक वेदान्त (संहिताएँ)

वैदिक वाङ्मय में वेदान्त का अनुशीलन करते समय सर्वप्रथम संहिताएँ आती हैं और उनमें भी ऋग्वेद-संहिता। ऋग्वेद संहिता के "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति[1]" प्रभृति कथन एवं पुरुषसूक्त,[2] नासदीय सूक्त[3] तथा हंसवती ऋचा[4] के दार्शनिक प्रतिपादन निःसन्देह वेदान्तिक अद्वैतवाद की प्रबल पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार सामवेद-संहिता के "तदिहास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेष नृम्णः"[5] आदि मन्त्रों में भी हमें अद्वैतिक दृष्टि के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। सामवेद के उक्त मन्त्र में 'तत्' शब्द का अर्थ सृष्टि का मूल कारण प्रतीत होता है। सायणाचार्य ने यहाँ तत् शब्द का अर्थ ब्रह्म किया है। किन्तु स्टीवेन्सन ने यहाँ तत् शब्द का अर्थ मूल तत्त्व ग्रहण किया है।[6] यहाँ यही अर्थ संगत प्रतीत होता है। इसी प्रकार सामवेद[7] के अन्य स्थलों में भी वेदान्त दर्शन के बीज प्राप्त किए जा सकते हैं। जहाँ तक यजुर्वेदसंहिता का प्रश्न है, वहाँ ३२ वें काण्ड के अन्तर्गत इन्द्र, मित्र, वरुण एवं अग्नि आदि का वर्णन परमात्मा के रूप में किया गया है।[8] इसके अतिरिक्त वीसवें काण्ड में परमात्मा को समस्त भूतों का अधिपति तथा समस्त लोकों का अधिष्ठान कहा गया है।[9] इसी प्रकार चालीसवें अध्याय के अन्तर्गत 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' भी वेदान्तिक अद्वैतवाद का ही पोषक है। यजुर्वेद में विराट् पुरुष का वर्णन भी अद्वैत वेदान्त की परम्परा के ही अन्तर्गत आता है। इसी प्रकार यजुर्वेद में वेदान्त-सिद्धान्तों के पोषक अनेक स्थल

---

१. श्रीमद्भागवत १।१६४।४६
२. ऋग्वेद १०।९०।१-५
३. वही १०।१२९।१, २, ३
४. वही ४।४०।५
५. सामवेद ६।३।१७
६. Griffith R. T. H., The Hymns of the SāmaVeda, p. 266 (F.N.).
७. दे० सामवेदसंहिता ९।२।१० (ग्रिफिथ सम्पादित) तथा ६।३ ४।१० (श्रीराम शर्मा द्वारा सम्पादित)
८. यजुर्वेदसंहिता ३२।१-४
९. यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः—यजुर्वेद २०।३

उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेदसंहिता में तो वेदान्त के विचारों की भरमार है। अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड में माया-विशिष्ट ब्रह्म का निरूपण वर्तमान है। सप्तम काण्ड में ब्रह्म की व्यापकता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म ही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र, अक्षर एवं परम तत्त्व के रूप में वर्तमान है।[१] अथर्ववेद-संहितावर्ती विराट् पुरुष का वर्णन भी वेदान्त-सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतीक है।[२] किन्तु फिर भी प्राचीनता की दृष्टि से अथर्ववेद का महत्त्व ऋग्वेद जैसा नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि संहिताओं में वेदान्त की विचारधारा के मूल स्रोत ढूंढना आश्चर्यास्पद नहीं है।

संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण एवं आरण्यक-ग्रन्थ आते हैं।

ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों में भी वेदान्तिक विचारधारा का आरम्भिक स्वरूप देखने को मिलता है। यहाँ यह कथन उपयुक्त होगा कि ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द का दार्शनिक अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता। सर्वप्रथम शतपथब्राह्मण में ही ब्रह्म-सम्बन्धी निरूपण करते हुए कहा गया है कि आरम्भ में यह जगत् ब्रह्मरूप ही था,[3] यही देवादि का स्रष्टा एवं उन्हें भिन्न-भिन्न रूप प्रदान करने वाला था। शतपथब्राह्मण के एक अन्य स्थल पर ब्रह्म का एक पूर्ण सत्ता के रूप में वर्णन किया गया है।[४] ऐतरेय ब्राह्मण में परमात्मा का विराट् रूप में वर्णन किया गया है।[५] तैत्तिरीयब्राह्मण में ब्रह्मरूप काष्ठ एवं ब्रह्म-रूप वृक्ष से ही स्वर्ग एवं भूलोक का निर्माण बतलाया गया है।[६] तैत्तिरीयब्राह्मण में एक स्थान पर उपलब्ध ब्रह्मवादी की चर्चा भी वेदान्त के ब्रह्मवाद सिद्धान्त का स्पष्ट सङ्केत देती है।[७] ब्राह्मण ग्रन्थों के समान ही आरण्यक ग्रन्थों में भी वेदान्त सिद्धान्तों का स्पष्ट आधार मिलता है। ऐतरेय आरण्यक में आकाश तथा पृथिवी को आत्मा का ही रूप कहा गया है।[८] तैत्तिरीय आरण्यक के अन्तर्गत परब्रह्म की सत्ता का निरूपण करते हुए कहा गया है कि परब्रह्म ही अग्नि, वायु,

---

१. सायणभाष्य, अथर्ववेद-संहिता, ७।१।१।१
२. अथर्ववेद-संहिता, ८।५।९।९
३. शतपथब्राह्मण, ११।२।३।१
४. S. B. E. vol. XLIII, pp. 59, 60, 400, vol. XLIV, p. 409
५. ऐतरेयब्राह्मण (प्रथम भाग), पृ० २८, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज।
६. ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। तै० ब्रा० २।८।९।६
७. ब्रह्मवादिनो वदन्ति। तै० ब्रा० ३।३।१०।६
८. यावती वै द्यावापृथिवी तावानात्मा। ऐ० आ० ३।३।२

सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र, जल और प्रजापति है।[1] शाङ्खायनारण्यक के अन्तर्गत जिसे कावेल ने कौषीतक्यारण्यक भी कहा है, आत्मतत्त्व का निरूपण करते हुए कहा गया है कि आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म अपूर्व, अपर, अनपर, अनन्त एवं अबाह्य है।[2]

उपर्युक्त विचार-संकेतों के आधार पर संहिताओं के साथ-साथ ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों में भी वेदान्त-दर्शन के आरम्भिक सूत्र स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं। अब यहाँ वेदान्त के प्राणभूत एवं अपर-पर्यायस्वरूप उपनिषदों के अन्तर्गत वेदान्त के स्वरूप को देखने का प्रयत्न किया जाएगा।

उपनिषद् और वेदान्त

यों तो, जैसाकि रानाडे प्रभृति चिन्तकों ने प्रस्तुत किया है,[3] उपनिषदों में सभी प्रमुख भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के बीज उपलब्ध होते हैं, किन्तु फिर भी उपनिषत्-साहित्य में किसी सिद्धान्त-विशेष की उपलब्धि का कथन न्यायोचित नहीं प्रतीत होता। इसका कारण यह है कि उपनिषदों में तत्त्वज्ञानी मनीषियों की किसी सम्प्रदाय-विशेष से अनाबद्ध अनुभूतियाँ एवं अभिव्यक्तियाँ ही वर्तमान हैं। अतः उन्हें किसी सम्प्रदाय-विशेष से आबद्ध करना समुचित नहीं प्रतीत होता। ऐसी स्थिति में रानाडे एवं ड्यूसन प्रभृति विद्वानों एवं तादृश विचारकों के उपनिषदों में वेदान्त-दर्शन प्रभृति सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के बीजान्वेषण के प्रयास भी थोथे ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि यदि यह स्वीकार किया जाए कि उपनिषदों में सभी प्रमुख परस्पर-विरोधी न्याय-सांख्य-वेदान्तादि दार्शनिक सिद्धान्तों के बीज उपलब्ध होते हैं, तब तो उपनिषदों का दर्शन अत्यन्त विवादास्पद सिद्ध होगा। मेरे विचार से उपनिषदों में न्याय-सांख्य आदि सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के अन्वेषण का यही तात्पर्य है कि वहाँ उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि ही मिलती है, सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण नहीं। यह बात दूसरी है कि यह पृष्ठभूमि अद्वैत-वेदान्त के अधिक निकट प्रतीत होती है। सदानन्द की 'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्' जैसी उक्तियों के मूल में यही धारणा देखने को मिलती है। आधुनिक युग के विद्वानों में मैक्समूलर, ड्यूसन, मेकेन्जी एवं गफ उपनिषदों में शाङ्कर वेदान्त की स्पष्ट पृष्ठभूमि के दर्शन करते हैं। ब्लूम-

---

१. तदेवाग्निस्तद् वायुस्तत् सूर्यस्तच्चन्द्रमाः तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तद् आपस्तत् प्रजापतिः। तै० आ० १०।१।२

२. शाङ्खायनारण्यक, अध्याय ६।३

३. Ranade : Constructive survey of Upaniṣadic philosophy.

फील्ड का तो कथन है कि नास्तिक बौद्ध दर्शन को मिलाकर हिन्दू दर्शन का कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं है जिसका मूलरूप उपनिषदों में प्राप्त न हो। ब्लूमफील्ड ने लिखा है—

'There is no important form of Hindu thought, heterodox Buddhism included, which is not rooted in the Upanishads.'[1]

ब्लूमफील्ड का उक्त कथन सामान्य कथन के रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य प्राचीन उपनिषदों में वेदान्त की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि का दर्शन है। उपनिषदों में अद्वैत-वेदान्त-सम्बन्धी पृष्ठभूमि उपलब्ध है अथवा नहीं, यह विचार करने के लिए अद्वैत-वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर प्राचीन उपनिषदों के सम्बन्ध में विवेचन करना उपयुक्त होगा।

अद्वैत ब्रह्मतत्त्व एवं प्राचीन उपनिषदें

जिस प्रकार कि उपनिषदों में ब्रह्म-तत्त्व को सर्वोच्च सत्य,[२] निर्गुण[३] एवं जगत्कारण[४] के रूप में प्रतिपादित किया गया है, उसी प्रकार शाङ्कर वेदान्त में भी ब्रह्म-तत्त्व की परमार्थता,[५] निर्गुणता[६] एवं जगत्कारणता[७] के विचार स्पष्ट-रूप से परिलक्षित होते हैं। इसी प्रकार अद्वैत-ब्रह्म के निर्गुण पक्ष के साथ-साथ सगुण पक्ष की अभिव्यक्ति भी उपनिषदों में स्थान-स्थान पर मिलती है।

जगन्मिथ्यात्व एवं माया का विचार

जगत् एवं माया के मिथ्यात्व का विचार शाङ्कर वेदान्त का प्रमुख विचार है। शङ्कराचार्य ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' (विवेक-चूडामणि २०) आदि उक्तियों के द्वारा जगत् के सम्बन्ध में मिथ्यात्व-दृष्टि का प्रतिपादन किया है। किन्तु उपनिषदों में हमें इस मिथ्यात्व-दृष्टि का अभाव मिलता है।

---

१. Religion of the Veda, p. 51
२. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, तै० उ० २।१।१
३. श्वे० उ० ६।११, मैत्री उ० ६।१०
४. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते...तद् ब्रह्म। तै० उ० ३।१
५. ब्र० सू० शा० भा० ३।२।३, २।२।४२
६. समस्तविशेषरहितम् (ब्र०सू०शा०भा० ४।३।१४, ३।२।१६, ३।२।११)
७. कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म। ब्र० सू० शा० भा० २।१।१६

यहाँ तक कि प्राचीन उपनिषदों में मिथ्या शब्द का प्रयोग तक नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त परवर्ती वेदान्त में जगत् के मिथ्यात्व के बोधक माया शब्द का प्रयोग भी उपनिषदों में मिथ्यात्व के अर्थ में नहीं मिलता। प्राचीन उपनिषदों में—प्रश्नोपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् में माया शब्द का प्रयोग एक-एक बार मिलता है। प्रश्नोपनिषद् में माया का प्रयोग आचार की कुटिलता के अर्थ में किया गया है[1] और बृहदारण्यकोपनिषद् में रहस्यमयी शक्ति के अर्थ में।[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी माया शब्द का प्रयोग ईश्वर की शक्ति के अर्थ में किया गया है। इस प्रकार परवर्ती वेदान्त में अविद्या, अज्ञान एवं मिथ्यात्व के अर्थ में जो माया शब्द का प्रयोग मिलता है वह उपनिषदों में अप्राप्त है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मायावाद का सिद्धान्त शाङ्कर दर्शन की विशेष देन है और इस सिद्धान्त का विकास उपनिषदों में नहीं हो पाया था। अतः उन विचारकों का मत युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता जो यह कहते हैं कि शङ्कर ने किसी नवीन दर्शन को जन्म नहीं दिया था प्रत्युत औपनिषद विचारधारा का ही पुनः प्रतिपादन किया था।[3] यदि शङ्कर उपनिषद् दर्शन का ही पुनः प्रतिपादन करते तो उन्हें विश्व में वह प्रतिष्ठा नहीं मिलती जो आज प्राप्त है।

उपनिषदों में जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त

जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त वेदान्तदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। इस सिद्धांत के अनुरूप जीव को जब तत्त्व-ज्ञान हो जाता है तो वह प्रारब्ध-कर्म के भोग-पर्यन्त ही शरीर धारण करता है। यही स्थिति जीवन्मुक्ति की स्थिति है। इस स्थिति में प्राणी के सञ्चित एवं सञ्चीयमान कर्मों का क्षय हो जाता है।[4] यद्यपि उपनिषदों में जीवन्मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्गत हमें जीवन्मुक्ति का स्पष्ट संकेत मिलता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार सर्प जब अपनी निर्जीव त्वचा का त्याग कर देता है तो उसका उस केंचुली से कोई सम्बन्ध नहीं होता, उसी

---

१. प्र० उ० १।१६

२. बृ० उ० २।५।१९

३. Max Muller, Vedanta Philosophy, p. 135

४. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ मु० उ० २।२।८

प्रकार ज्ञानी का भी तत्त्वज्ञान होने पर शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।[1] इस स्थिति में तत्त्वज्ञानी शरीर रहते हुए भी समस्त भोगों से निर्लिप्त रहता है। शाङ्कर वेदान्त में जीवन्मुक्तिसम्बन्धी उक्त दृष्टिकोण का ही विकास देखने को मिलता है। जैसाकि वेदान्तपरक जीवन्मुक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते समय स्वतः सिद्ध हो जाएगा।

इस प्रकार यह निःसंकोच रूप से स्वीकार किया जाना चाहिये कि उपनिषदों में परवर्ती वेदान्त-दर्शन की स्पष्ट पृष्ठभूमि देखने को मिलती है। यह बात दूसरी है कि वेदान्त के शङ्कराचार्यप्रभृति दार्शनिकों ने अनेक नवीन दार्शनिक विचारों की भी उद्भावना की है।

उपनिषदों के अतिरिक्त बादरायण के ब्रह्मसूत्र, पुराण-साहित्य, श्रीमद्-भगवद्गीता, तन्त्र-साहित्य एवं योगवासिष्ठ से भी शाङ्कर-वेदान्त को एक प्रबल पृष्ठभूमि प्राप्त हुई थी।[2]

शङ्कराचार्यपूर्ववर्ती वेदान्त के आचार्य

वेदान्त दर्शन के कतिपय ऐसे प्राचीन आचार्य भी मिलते हैं जिनका वेदान्तदर्शन से यत्किञ्चित् सम्बन्ध देखा जा सकता है। इन आचार्यों में बादरि, जैमिनि, काशकृत्स्न, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, आश्मरथ्य, एवं काश्यप के नाम उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों के अतिरिक्त आचार्यों की एक ऐसी परम्परा भी है जिसका वेदान्तदर्शन से स्पष्ट एवं साक्षात् सम्बन्ध है। इस परम्परा के अन्तर्गत बोधायन, उपवर्ष, गुहदेव और कपर्दी, भारुचि, भर्तृहरि, ब्रह्मनन्दी, टङ्क, द्रविडाचार्य, ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपञ्च एवं सुन्दरपाण्ड्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शङ्कराचार्यपूर्ववर्तीवेदान्त के आचार्यों के सम्राट् हैं—गौडपादाचार्य। गौडपादाचार्य शङ्कराचार्य के परमगुरु थे। गौडपादाचार्य ने अपनी गौडपादकारिका के अन्तर्गत अजातवाद सिद्धान्त की स्थापना की है। यद्यपि गौडपादाचार्य एवं शङ्कराचार्य के सिद्धान्तों में सूक्ष्म मतभेद है, किन्तु गौडपाददर्शन को शाङ्कर दर्शन का प्रमुख आधार कहा जा सकता है।

---

१. यद् यथा हि निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव ते, ज एव। बृ० उ० ४।४।७

२. विशेष देखिए, राममूर्ति शर्मा, अद्वैतवेदान्त पृ० ११६-१२६

अब यहाँ शङ्कराचार्य के उस दार्शनिक प्रासाद के स्वरूप का निरूपण किया जाएगा जिसे परवर्ती आचार्य सदानन्द ने अपने वेदान्तमुक्तामाल—वेदान्तसार से अलङ्कृत किया था।

शङ्कराचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त

अद्वैतवाद—

भारतीय दर्शन की सभी पद्धतियों के सिद्धान्तों में शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद का सिद्धान्त मूर्धन्य है। अपने दार्शनिक औचित्य एवं व्यावहारिक महत्त्व के कारण अद्वैतवाद को विश्वदर्शन के क्षेत्र में जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, वह किसी अन्य दार्शनिक सिद्धान्त को नहीं। शाङ्कर अद्वैतवाद का अनेक भारतीय दार्शनिको एवं कान्ट, बर्गसां तथा बर्कले प्रभृति विदेशीय दार्शनिकों पर जो प्रभाव परिलक्षित होता है वह इस दर्शन की व्यापक प्रतिष्ठा का ही प्रमाण है। यद्यपि संहितागत अद्वैतवाद, औपनिषद अद्वैतवाद, शक्त्यद्वैतवाद शिवाद्वैतवाद, बौद्ध अद्वैतवाद, योगवासिष्ठगत कल्पनावादसम्मत अद्वैतवाद, भर्तृहरिप्रतिपादित शब्दाद्वैतवाद, गौडपाद के अजातवादसम्मत अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद एवं द्वैताद्वैतवाद आदि सिद्धान्तों मे अद्वैतवाद का न्यूनाधिक स्वरूप देखने को मिलता है, किन्तु शङ्राचार्य के अद्वैतवाद में जो समन्वयवादिता, व्यावहारिकता, दार्शनिक उदात्तता एवं तर्कसङ्गति मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। शङ्कराचार्य ने अपने अद्वैत-दर्शन के मूलाधार ब्रह्मसूत्रभाष्य में उपनिषदों, श्रीमद्भगवद्गीता एवं ब्रह्मसूत्र के सिद्धान्तों का जो समन्वय प्रस्तुत किया है, वह अद्वितीय है। यही कारण है कि शङ्कराचार्य का अद्वैतदर्शन अपने उद्भवकाल से आज तक दार्शनिक जिज्ञासुओं का मनोहर कण्ठहार बना हुआ है। ब्रह्मसूत्र के प्रख्यात अनुवादक थीबो ने शाङ्कर अद्वैत का मूल्यांकन करते हुए निम्न शब्द कहे हैं—

The task of reducing the teachings of the Upanishads to a system consistent and free from contradiction is an intrinsically impossible one. But the task once given we are quite ready to admit that Śaṅkara's system is most probably the best that can be desired.[1]

---

१. Thibaut—Introduction, Vedāntasūtra, p. xxxiv

शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद सिद्धान्त का मूल केन्द्रविन्दु ब्रह्मतत्त्व है। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मतत्त्व को सर्वोच्च एवं निर्गुण सत्य के रूप में स्वीकार किया है। जहाँ तक जगत् के स्वरूप का प्रश्न है, सत् ब्रह्म एवं जगत् में अनन्यत्व है। शाङ्कर वेदान्त के अन्तर्गत जगत् ब्रह्म का विवर्त है, न कि विकार। जीव भी स्वरूपतः ब्रह्म ही है। अज्ञान के कारण ही जीव की जीवता है। इस प्रकार जीव, जगत् एवं ब्रह्म में ब्रह्ममात्र की ही परमार्थसत्यता स्वीकार की गई है। यही अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त है। यहाँ वेदान्त के ब्रह्म, जीव, जगत् एवं मुक्ति-विषयक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से विचार करेंगे। इससे सदानन्द द्वारा प्रतिपादित वेदान्तिक सिद्धान्तों के बोध में सुगमता होगी।

ब्रह्मसम्बन्धी सिद्धान्त

शङ्कराचार्य का विचार है कि ब्रह्मतत्त्व के सर्वाधिक महान् होने के कारण ही इसे ब्रह्म शब्द से अभिहित किया गया है।[1] वस्तुतः शाङ्कर वेदान्त का ब्रह्म परमार्थसत्यस्वरूप[2] है। परमार्थ सत्य से उस सत्य का तात्पर्य है जो भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान इन तीनों कालों में अबाधित रूप से वर्तमान रहता है।[3] ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप है। सत् होने के कारण उसे शून्य एवं अभावात्मक नहीं कहा जा सकता। अतः ब्रह्म के उक्त स्वरूप के कारण डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त का शङ्कराचार्य के ब्रह्म को बौद्धों के शून्य के समकक्ष रखना[4] तथा शङ्कराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध सिद्ध करना समुचित नहीं प्रतीत होता। अपनी 'चित्' विशेषता के कारण उसे जडरूप भी नहीं कह सकते तथा आनन्दस्वरूप होने से उसकी निष्प्रयोजनता नहीं कही जा सकती। वेदान्त का ब्रह्म अनुभूतिस्वरूप एवं भावात्मक सत्य है। मुक्ति को ब्रह्म का पर्याय ही समझना चाहिए। ब्रह्म जीव का स्वभाव

---

१. बृहत्तमत्वाद् ब्रह्म। शा० भा० तै० उ० २।१

२. परमार्थसत्यं ब्रह्म। शा० भा० तै० उ० २।६

३. यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत् सत्। शा० भा० भ० गी० २।१६, सर्वदैकरूपम्। शा० भा० ई० उ० ४

४. His Brahman was very much like the Śūnya of Nāgārjuna. S. N. Dasgupta, Indian Philosophy, vol. 1, p. 493

है। जब जीव अपने स्वभाव ब्रह्म का बोध कर लेता है तो उसे मुक्त की संज्ञा दी जाती है। अतः ब्रह्म एवं मुक्ति एक ही हैं। जब जीव को अपने स्वरूप ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है तो वह निर्विकार एवं शुद्ध तथा शान्त भाव को प्राप्त होता है। ब्रह्म को वेदान्त में कूटस्थ नित्य'[1] दिक्-काल आदि के भेद से अतीत एवं सर्वव्यापी[2] सिद्ध किया है।

समस्त जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही माया शक्ति के कारण प्रपञ्च रूप जगत् का कारण है।[3]

सदानन्द ने ब्रह्मतत्त्व को सच्चिदानन्द, अद्वय एवं वस्तुस्वरूप कहा है।[4] वस्तु से सदानन्द का परमार्थसत्यता का आशय है। सदानन्द के अनुसार जगत् अवस्तुरूप एवं अध्यास है।

वेदान्त में ब्रह्म की जगत्कारणता सिद्ध करते समय यह प्रश्न स्वाभाविक है कि कूटस्थ, नित्य एवं निर्विकार ब्रह्म से अनित्य एवं विकारस्वरूप जगत् की सृष्टि किस प्रकार हो सकती है। इस शङ्का का समाधान वेदान्त की पर एवं अपर ब्रह्म की कल्पना से स्वतः हो जाता है। अविद्याकृत नामरूप आदि के भेद से रहित सूक्ष्म तत्त्व को परब्रह्म एवं नामरूप आदि विशेषताओं से विशिष्ट को अपर ब्रह्म कहते हैं।[5] यही क्रमशः निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म का स्वरूप है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि माया-विशिष्ट ब्रह्म सगुण एवं माया-विरहित ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म है। इस प्रकार सगुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा के कारण वेदान्त में उपासना की सङ्गति भी सिद्ध हो जाती है।

ईश्वर—

शाङ्कर वेदान्त के अनुरूप मायाविशिष्ट ब्रह्म को ईश्वर संज्ञा दी गई

---

१. कूटस्थनित्यम्। ब्र० सू० शा० भा० १।३।१९
२. दिग्देशकालाद्यनपेक्षसर्वगम्। आत्मबोध, ६३
३. अस्य जगतो...जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति, तद् ब्रह्म। ब्र० सू० शा० भा० १।१।२
४. वेदान्तसार ६
५. किं पुनः परं ब्रह्म किमपरमिति, उच्यते, यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेष-प्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत् परम्। तदेव यत्र नामरूपादि-विशेषेण केनचिद् विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते, मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० उ० ३।१४।२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम्। ब्र० सू० शा० भा० ४।३।१४

है। माया शक्ति के कारण ही ईश्वर में जगत का कर्तृत्व है।[1] ईश्वर सर्वान्तर्यामी, जगन्नियन्ता एवं सर्वज्ञ है। सदानन्द ने ईश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वनियन्तृत्व एवं ईश्वरत्व आदि में हेतु प्रदर्शित करते हुए कहा है कि अज्ञान की समष्टि, जो विशुद्धसत्त्वप्रधान है, से उपहित ईश्वर समस्त अज्ञान का अवभासक या प्रकाशक होने के कारण सर्वज्ञत्वादि विशेषणों से विशिष्ट है।[2] ईश्वर नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्तस्वभाव है। यहाँ यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मायावी होने पर भी ईश्वर की शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावता में कोई बाधा नहीं पड़ती। इस तथ्य का प्रतिपादन शङ्कराचार्य ने मायावी ऐन्द्रजालिक के दृष्टान्त द्वारा किया है। जिस प्रकार कि कोई ऐन्द्रजालिक (जादूगर) दूसरों को अपने जादू से आकर्षित करता है, परन्तु स्वतः उससे तनिक भी प्रभावित नहीं होता, क्योंकि वह उसकी निस्सारता से परिचित होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी माया से स्पृष्ट नहीं होता।[3] सृष्टि भी आप्तकाम ईश्वर के स्वभाव का ही फल है।[4] अतः ईश्वर का कर्तृत्व सांसारिक मानवों जैसा न होकर निष्पक्ष एवं स्वाभाविक है। सृष्टि को ईश्वर का स्वभाव समझ लेने पर ईश्वर की पूर्णता के सम्बन्ध में सन्देह का अवसर नहीं रहता। उक्त तथ्य की ओर ध्यान न जाने के कारण ही कदाचित् डा० राधाकृष्णन को ईश्वर की स्वरूपसिद्धि में सन्देह हो गया था और उन्होंने लिखा था—

A perfect God does not require the world for his satisfaction. If it is said that the world is for his enjoyment then God is no God but a Saṁsārin.[5]

विषम-सृष्टि के कर्ता ईश्वर के सम्बन्ध में कहीं पक्षपातपूर्ण दृष्टि का भ्रम न हो जाए, इसीलिए शङ्कराचार्य ने पर्जन्य का दृष्टांत दिया है। ईश्वर

---

१. नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति। ब्र० सू० शा० भा० १।४।३

२. इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्व-सर्वेश्वरत्व-सर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात्। वेदान्तसार, ७

३. ब्र० सू० शा० भा०

४. देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा। गौ० का० १।९

५. Radhakrishnan—Indian Philosophy, Vol II, p. 544

पर्जन्य के समान साधारण कारण है। जिस प्रकार कि पर्जन्य सभी जगह समान रूप से बरसता है, किन्तु तत्तद् धान्यों की उत्पत्ति का तत्तद् बीजों के अनुरूप भेद देखने में आता है, उसी प्रकार देव, मनुष्यादि की सृष्टि में ईश्वर साधारण कारण है, किन्तु जीवों के कर्म ही उनकी विषम सृष्टि के असाधारण कारण है। अतः सृष्टि की विषमता का उत्तरदायित्व ईश्वर का न होकर जीवों के कर्मों का है। इस प्रकार सृष्टि में ईश्वर को तो जीव के धर्माधर्म-स्वरूप कर्म की ही अपेक्षा है।[1] इस प्रकार यदि देखा जाय तो ईश्वर उच्च एवं नीच सृष्टि का निर्माता होने पर भी निर्दोष है। यह आक्षेप कि जीव के शुभ एवं अशुभ कर्मों का प्रेरक ईश्वर ही है और वह किसी से शुभ एवं किसी से अशुभ कर्म कराता है, अतः उसका व्यवहार पक्षपातपूर्ण है, उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में यह तर्क विचारणीय है कि जीव अनादि काल से वर्तमान साधु एवं असाधु वासनाओं के आधार पर ही स्वभाव से तत्-तत् कर्मों में प्रवृत्त होता है, ईश्वर तो तत्-तत् कर्मों के कर्तृत्व में साधारण कारण मात्र है, अतः ईश्वर सर्वथा निर्दोष है।[2] इसी तथ्य को एक न्यायाधीश के दृष्टान्त के द्वारा भी समझा जा सकता है। जिस प्रकार कि न्यायाधीश अपराधी के अपराध-कर्म के अनुरूप उसे निष्पक्ष भाव से मृत्युदण्ड तक देता है, उसी प्रकार निष्पक्ष भाव से ईश्वर जीव को उसके शुभ एवं अशुभ कर्मों के अनुरूप शुभ एवं अशुभ फल प्रदान करता है। सत्य तो यह है कि ईश्वर सर्वथा पक्षपात-रहित है।

जीव—

ईश्वर जहाँ समष्टिरूप माया या अज्ञान की उपाधि से उपहित है,[3] वहाँ जीव अज्ञान की व्यष्टि या उपाधि से उपहित है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शङ्कराचार्य के द्वारा माया एवं अविद्या के भेद का उल्लेख नहीं

---

१. धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः। ब्र० सू० शा० भा० २।१।३४

२. अनादिपूर्वार्जितसाध्वसाधुवासनया स्वभावेन तत्-तत्-कर्मसु प्रवृत्तौ ईश्वरस्य साधारणहेतुत्वात्, अतोऽनवद्य ईश्वरः। रत्नप्रभा, ब्र० सू० शा० भा० २।१।३४

३. यावदेव चायं बुद्धयुपाधिसंबन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च। ब्र० सू० शा० भा० २।३।३०

किया था। यह भेद वाचस्पतिमिश्र के द्वारा निरूपित हुआ था। जहाँ शङ्कराचार्य ने "अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः" (ब्र० सू० शा० भा० १।४।३) कहकर माया के समान अविद्या को भी परमेश्वर की शक्ति के रूप में स्वीकार किया है, वहाँ वाचस्पतिमिश्र अविद्या को जीवाश्रया मानते हैं।[1] सामान्य-रूप से ईश्वर एवं जीव दोनों ही माया की देन हैं। इसीलिए पञ्चदशीकार ने कहा है—"मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।"

अद्वैत वेदान्त के अनुसार अज्ञान के कारण ही जीव का जीवत्व है। परमार्थरूप से तो जीव ब्रह्म ही है। जीव ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का अभिमान करने वाला है। जीव ही इस लोक एवं परलोक में गमन करने वाला है। इस सम्बन्ध में जीव का लक्षण बतलाते हुए सदानन्द ने कहा है—

"अयं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानित्वेनेहलोक-परलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते।"[2]

संसार में ममत्व एवं परत्व की भावना का पात्र भी जीव ही है। जीवत्व के आश्रय से ही पुत्रत्व एवं प्रियाप्रिय की भावना का उदय होता है। जीव एक है या अनेक इस विषय में वेदान्त में दोनों प्रकार के विचार मिलते हैं। एकजीववाद के अनुसार एक ही जीव अविद्या से प्रपञ्चमय संसार की कल्पना करता है। एक जीववादी अनेकजीववाद की कल्पना को अज्ञानकृत मानते हैं तत्त्वज्ञान होने पर अनेक जीवों की कल्पनाएं उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं जिस प्रकार कि निद्राभंग होने पर स्वप्न की कल्पनाएं समाप्त हो जाती हैं। एकजीववादियों का उक्त मत तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। इसका कारण यह है कि यदि एकजीववाद को स्वीकार किया जाएगा तब तो एक काल में समस्त प्राणियों को समान रूप से दुःख-सुखादि की अनुभूति होगी जो नितान्त असम्भव है। इसी प्रकार एकजीववाद को स्वीकार करने पर एक जीव के मुक्त होने पर समस्त संसार की ही मुक्ति हो जाएगी। अतः वेदान्त दर्शन के अनुसार अनेकजीववाद को ही स्वीकार करना श्रेयस्कर है। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब जीव स्वभावतः ब्रह्म ही है तो उस एक ब्रह्म में अनेक जीवों की

---

१. नाऽविद्या ब्रह्माश्रया किन्तु जीवे सा त्वनिर्वचनीयेत्युक्तम्। भामती, पृ० ६५ (बालशास्त्री सम्पादित)
२. वेदान्तसार, १३

कल्पना किस प्रकार सम्भव है। इस सम्बन्ध में वेदान्त का समाधान है कि जिस प्रकार एक ही आकाश घट, मठ एवं कक्ष आदि के आश्रय से अनेक आकारों को प्राप्त करता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अविद्योपाधि के कारण अनेक जीवों के स्वरूप को प्राप्त करता है। वेदान्त में उक्त सिद्धान्त को प्रतिबिम्बवाद सिद्धान्त के आधार पर भी स्पष्ट किया गया है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार जिस प्रकार एक ही सूर्य कि अनेक स्थलों में वर्तमान जल में अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अविद्योपाधि के कारण अनेक रूपों को ग्रहण करता है। परमार्थतः जीव एवं ब्रह्म में अभेद है।

जगत्—

शाङ्कर वेदान्त के अनुरूप जगत् अनित्य है।[1] वेदान्त दर्शन के परिप्रेक्ष्य में जगत् के सम्बन्ध में विचार करते समय जगत् की मिथ्यात्वदृष्टि के विषय में विवेचन अपेक्षित है। यह इसलिए कि अनेक विचारक जगत् के मिथ्या होने की बात को सुनकर उसके अस्तित्व को ही नकारने लगते हैं एवं शाङ्कर-वेदान्त पर उसके अव्यावहारिक होने का निराधार आरोप लगाते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शाङ्कर वेदान्त के अनुसार जगत् मायोपादान से उत्पन्न होने के कारण माया के ही लक्षणों से सम्पन्न है। जिस प्रकार कि सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण माया अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार जगत् भी न ब्रह्म की तरह सर्वथा सत् है और न शशशृंग अथवा आकाश-कुसुम की तरह सर्वथा असत्। जगत् सर्वथा सत्—परमार्थ सत् इसलिए नहीं है—कि उसका कभी-न-कभी बाध एवं नाश होता है, किन्तु सत् (परमार्थ सत्) का कभी बाध नहीं होता।[2] जगत् के परमार्थ सत् न होने के कारण ही शाङ्कर वेदान्त में इसे मिथ्या कहा गया है। जहाँ तक प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् के सर्वथा असत्, जिसे वेदान्त में अलीक असत् कहा गया है, होने की बात है, उसे कौन स्वीकार कर सकता है, क्योंकि जगत् तो प्रत्यक्ष रूप से दृश्यमान है। इसीलिए ब्रह्म में अध्यस्त जगत् को वेदान्त में व्यावहारिक कहा गया है।[3]

---

१. अनित्यं संसाररूपम्। ब्र० सू० शा० भा० १।१।४
२. सत्यत्वं बाधराहित्यम्। पञ्चदशी, ३।२९
३ सत्यानृते मिथुनीकृत्याहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः। ब्र० सू० शा० भा० १।१।१

जगत् के ब्रह्म में अध्यस्त होने के कारण ही जगत् के लोकव्यवहार को सत्य एवं असत्य (अनृत) के मिथुनभाव का परिणाम कहा गया है।[२] यहाँ यह प्रश्न विशेष रूप से विचारणीय है कि जब जगत् व्यावहारिक रूप से सत्य है तो तत्त्व-ज्ञानी एवं अज्ञानी के जगद्विषयक अनुभव के सम्बन्ध में क्या भेद है। इस सम्बन्ध में वेदान्त का उत्तर है कि ज्ञानदशा में भी जगत् के अवयव हम और आप तथा पशु, पक्षी एवं तरु लता आदि अज्ञान दशा की ही तरह वर्तमान रहते हैं, उनका अस्तित्व बना रहता है। अन्तर केवल यही है कि ब्रह्मज्ञानी या तत्त्वज्ञानी को जगत्- की विविधता के सम्बन्ध में द्वैतता का अनुभव नहीं होता, वह समस्त जगत् को अद्वैतभावना—ब्रह्मभावना से ही देखता है। जबकि अज्ञानी को सदा जगत् में द्वैतरूपता का ही अनुभव होता है।

शङ्कराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने जगत् के स्वरूप को आभासवाद, अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद के आधार पर स्पष्ट किया है। आभासवाद के प्रवर्तक सुरेश्वराचार्य, प्रतिबिम्बवाद के प्रवर्तक शङ्कराचार्य तथा अवच्छेदवाद के प्रवर्तक वाचस्पतिमिश्र हैं। यहाँ इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से विचार करना उपयुक्त होगा।

आभासवाद का सिद्धान्त

सुरेश्वराचार्य के अनुसार जगत् आभासमात्र होने के कारण उसी प्रकार मिथ्या है जिस प्रकार कि समस्त ऐन्द्रजालिक विषय आभासमात्र होने के कारण मिथ्या हैं। आभासवाद सिद्धान्त के अनुसार अविद्या के कारण मिथ्या वस्तुओं की उसी प्रकार सत्य प्रतीति होती है, जिस प्रकार कि विक्षिप्त व्यक्ति को उसके सम्मुख अवर्तमान वस्तुएं भी सत्य-सी आभासित होती हैं। किन्तु जिस प्रकार कि विक्षेपावस्था के समाप्त होने पर उन असत्य वस्तुओं का आभास समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या निवृत्ति होने पर जगत्-सत्यता की आभासमात्र-प्रतीति होती है। इस प्रकार परमार्थसत्यस्वरूप ब्रह्म की जगत् के अनेक रूपों में प्रतीति को आभास कहते हैं और इसका कारण अविद्या है। आभासवाद सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य सुरेश्वर हैं।

प्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त

प्रतिबिम्बवाद के अनुसार बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब में अभिन्नत्व है। जिस प्रकार एक ही सूर्य अनेक प्रदेशवर्ती जलों में अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्मतत्त्व अविद्या में प्रतिबिम्बित होने के कारण अनेक

जीवों के रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार ब्रह्म और जागतिक जीवों [illegible] विम्बप्रतिविम्बभाव है। जब प्रतिविम्ब की आधार अविद्या का उच्छेद [illegible] जाता है तो विम्बस्वरूप ब्रह्ममात्र ही शेष रह जाता है। इस प्रकार प्रतिवि[illegible] अविद्याजन्य है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक विवरणसम्प्रदाय के आचा[illegible] प्रकाशात्म यति हैं।

अवच्छेदवाद का सिद्धान्त

वाचस्पतिमिश्र ने अवच्छेदवाद सिद्धान्त के आधार पर अद्वैतवा[illegible] सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अवच्छेदवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत, जि[illegible] प्रकार एक ही आकाश घट, मठ एवं कक्ष आदि के भेद से अनेक रूपों [illegible] धारण करता प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म जो सर्वव्यापक ए[illegible] असीम है, अविद्या से अवच्छिन्न होकर जीवरूपता को प्राप्त होता है। जि[illegible] प्रकार कि घट एवं मठ का विनाश होने पर घट एवं मठवर्ती आकाश में कोई [illegible] भेद नहीं रहता अपितु आकाशमात्र शेष रहता है, उसी प्रकार अविद्या की [illegible] उपाधि समाप्त होने पर जीव का जीवत्व समाप्त हो जाता है और जीव [illegible] ब्रह्मतत्त्व के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाता है।

जहाँ तक वेदान्तसार का प्रश्न है, इसके अन्तर्गत आभासवाद, प्रतिबिम्ब-वाद एवं अवच्छेदवाद, इन तीनों सिद्धान्तों का आश्रय व्यष्टि की अनेकता एवं व्यष्टि तथा समष्टि की अभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिए लिया गया है।[1]

वेदान्त के सम्बन्ध में ऊपर किये गए संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि वेदान्तसार के रचयिता सदानन्द को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों [illegible] वेदान्तदर्शन की एक प्रबल पृष्ठभूमि उपलब्ध हुई थी। अब यहाँ सदानन्द

---

१. आभासवाद—

तथाहि—यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः 'अजामेकाम्' इत्यादिश्रुतेः। वेदान्तसार, ७

प्रतिबिम्बवाद एवं अवच्छेदवाद—

एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशय-जलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाऽभेद 'एष सर्वेश्वरः' इत्यादिश्रुतेः।

वेदान्तसार, [illegible]

उनकी कृतियों तथा उनके वेदान्तसारवर्ती दार्शनिक सिद्धान्त की समीक्षा करना आवश्यक है।

सदानन्द और उनका स्थितिकाल

सदानन्द का ही दूसरा नाम सदानन्दयोगीन्द्र था। इनके गुरु का नाम अद्वयानन्द था। वेदान्तसार पर सुबोधिनी टीका के लेखक नृसिंहाश्रम इनके प्रशिष्य थे। नृसिंहाश्रम के गुरु कृष्णानन्द थे। सदानन्द के परमगुरु होने का संकेत स्वयं नृसिंहाश्रम ने अपनी सुबोधिनी टीका के अन्तर्गत किया है।[1]

यद्यपि सदानन्द नामक अनेक विद्वान्[2] होने के कारण विद्वान् पाठकों को

१. इयत्ता प्रबन्धेन प्रतिपादितेऽस्मिन् वेदान्तसाराख्ये ग्रन्थे श्रीमत्परमगुरुपरमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्दयोगीन्द्रेण महापुरुषेण । सुबोधिनी

२ वेदान्तसार के लेखक सदानन्द (१५०० ई०) के अतिरिक्त दो सदानन्द और मिलते हैं। एक काश्मीरक सदानन्द यति (१७०० ई०), जिन्होंने अद्वैतब्रह्मसिद्धि की रचना की थी और दूसरे सदानन्द व्यास (१८०० ई०)। सदानन्द व्यास ने अद्वैतसिद्धिसार, प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि स्वरूपनिर्णय, गीताभावप्रकाश एवं दशोपनिषत्सार नामक ग्रन्थों की रचना की थी। इनका मूल निवास-स्थान रावलपिंडी के समीप कुन्त्रील नामक ग्राम था। किन्तु अपने जीवन के उत्तरकाल में इन्होंने काशी में निवास किया।

डॉ० राधाकृष्णन् प्रभृति कतिपय विद्वानों ने वेदान्तसार के लेखक सदानन्द एवं अद्वैतब्रह्मसिद्धि के लेखक काश्मीरक सदानन्द-यति का सदानन्द के नाम से ही उल्लेख किया है (Radhakrishnan : Indian Philosophy vol. 2 p, 452N.), जो भ्रमोत्पादक है। वस्तुतः सदानन्दयोगीन्द्र एवं काश्मीरक सदानन्द का स्पष्ट भेद मिलता है, क्योंकि काश्मीरक सदानन्द ने अपने ग्रन्थ अद्वैतब्रह्मसिद्धि के आरम्भ में स्वयं को काश्मीरक कहा है। जबकि, जैसाकि अभी कह चुके हैं, नृसिंहाश्रम ने वेदान्तसार के लेखक सदानन्द को सदानन्दयोगीन्द्र (सदानन्दयोगीन्द्रेण) कहकर उल्लेख किया है। सदानन्दयोगीन्द्र एवं काश्मीरक सदानन्दयति का भिन्नकालिक होना इससे भी स्पष्ट है कि काश्मीरक सदानन्दयति के गुरु ब्रह्मानन्द सरस्वती ने मधुसूदन (१६०० ई०) की अद्वैतसिद्धि एवं सिद्धान्तबिन्दु पर टीका की थी। इससे सदानन्द काश्मीरक का काल १७०० ई० के लगभग निश्चित होता है। इस प्रकार १५०० ई० में वर्तमान सदानन्द योगीन्द्र एवं सदानन्द काश्मीरक में २०० वर्ष का अन्तर स्पष्ट है।

भ्रम अवश्य हुआ है, किन्तु वेदान्तसार के लेखक सदानन्द के स्थितिका सम्बन्ध में भ्रम का अवसर नहीं है। इसका कारण यह है कि सदान प्रशिष्य सुबोधिनी के लेखक नृसिंहाश्रम ने अपनी टीका सुबोधिनी का र काल स्पष्टतया संवत् १५१० (१५८८ ई०) बतलाया है। सदानन्द के न श्रम के परम गुरु होने के कारण सदानन्द का स्थितिकाल १५०० ई० स से माना जा सकता है।

वेदान्तसार में प्रतिपादित वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्त

यद्यपि जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, वेदान्तसार के प्रणेत अपने ग्रन्थ की रचना करते समय वेदान्तदर्शन की प्रबल पृष्ठभूमि प्राप्त उसी पृष्ठभूमि के आधार पर विद्वान् लेखक ने वेदान्त के प्रमुख सिद्ध का प्रतिपादन संक्षिप्त एवं वैज्ञानिक पद्धति से वेदान्तसार के अन्तर्गत कि है। यहां वेदान्तसार में प्रतिपादित कतिपय प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों निरूपण किया जाएगा।

अज्ञान का सिद्धान्त

वेदान्त में माया, अविद्या, अज्ञान, प्रकृति, अव्यक्त, आकाश, अक्षर, अ कृत, प्रधान, अध्यास, शक्ति एवं उपाधि प्रायः पर्यायवाची शब्द हैं। शङ्कराचार्य ने इनमें विशेष रूप से माया एवं अविद्या शब्दों का ही प्र किया है। यद्यपि अन्य शब्दों का प्रयोग भी उनके द्वारा किया गया है। चलकर वाचस्पति मिश्र ने अविद्या एवं माया में भी सूक्ष्म भेद की स्थाप की थी। उन्होंने अविद्या को जीवाश्रया एवं माया को ब्रह्मविषयिणी मा था। सदानन्द ने अविद्या एवं माया के स्थान पर अज्ञान शब्द का प्रयोग कि है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीव, जगत् और ब्रह्म के ऐक्य का बोध होना अज्ञान है। सदानन्द ने वेदान्तसार के अन्तर्गत अज्ञान की परिभा प्रस्तुत करते हुए कहा है—

"अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भाव यत्किञ्चिदिति वदन्ति।"

इस परिभाषा के अनुसार अज्ञान सत् एवं असत् से विलक्षण हो के कारण अनिर्वचनीय, सत्त्व, रजस् एवं तमस् से विशिष्ट, ज्ञानविरो एवं भावरूप है, अभावात्मक नहीं। अज्ञान अनिर्वचनीय इसलिए है कि न परमार्थ सत्स्वरूप ब्रह्म के सदृश है और न सर्वथा असत् शशशृंग अथ आकाशकुसुम के समान असत्। यदि अज्ञान परमार्थ सत् हुआ होता तो उस

ाध कदापि न होता और यदि यह सर्वथा असत् हुआ होता तो उसकी प्रतीति हुई होती। अज्ञान का, ज्ञान होने पर बाध होता है, अतः वह परमार्थ त् नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार अज्ञानस्वरूप जगत् की व्यवहार में पष्ट प्रतीति होती है, अतः उसे सर्वथा असत् भी नहीं कहा जा सकता। अज्ञान ी अनिर्वचनीयता से यही तात्पर्य है। शङ्कराचार्य ने भी माया को निर्वचनीय कहा था।[1]

सदानन्द ने अज्ञान की दूसरी विशेषता त्रिगुणात्मकता बतलाई है। तदनुरूप अज्ञान सत्त्व, रजस् एवं तमोगुण से युक्त है। समस्त प्रपञ्चरूप संसार अज्ञानजन्य होने के कारण त्रिगुणात्मक है। त्रिगुणात्मकता का यह विचार में छान्दोग्योपनिषद्[2] एवं श्वेताश्वतरोपनिषद्[3] में स्पष्ट रूप से मिलता है।

अज्ञान के सम्बन्ध में सदानन्द का यह कथन कि वह ज्ञानविरोधी एवं भावरूप है, महत्त्वपूर्ण है। अज्ञान ज्ञान का विरोधी इसलिए है कि जब तक अज्ञान रहता है, ज्ञान नहीं होता। उदाहरण के लिए जब तक व्यक्ति अज्ञानवश शुक्ति को ही रजत समझता है, रजत का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार जब तक कोई व्यक्ति मिथ्या संसार को ही सत्य समझता रहता है तब तक उसे परमार्थ ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का बोध नहीं होता। यही दोनों का विरोध है। इस प्रकार यद्यपि ज्ञान एवं अज्ञान में विरोध है, किन्तु सदानन्द ने अज्ञान को अभावरूप न मानकर भावरूप माना है। अज्ञान की भावरूपता का यही आशय है कि अज्ञानवान् व्यक्ति अध्यारोप पद्धति से ज्ञानस्वरूप आत्मा में अज्ञान बुद्धि का आरोप करता है। जैसा कि सदानन्द ने स्वयं 'अहमज्ञः' (मैं अज्ञ हूँ) यह दृष्टान्त प्रस्तुत कर उक्त तथ्य को स्पष्ट किया है। मैं अज्ञ हूँ; यह अभिव्यक्ति अभावात्मक न होकर भावात्मक है, क्योंकि इस स्थिति में व्यक्ति को अपनी अज्ञता का अनुभव होता है और इस प्रकार यह अनुभव नकारात्मक नहीं है। इसी प्रकार जगत् का समस्त अज्ञान रज्जुसर्पादिदृष्टान्त के रूप में

---

१. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो, महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा॥
विवेकचूडामणि, १११

२. यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्। कृष्णं तदन्नस्य। छा० उ० ६।४।१

३. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। श्वे० उ० ४।५

अध्यारोप स्वरूप होने के कारण भावरूप है। अध्यारोप के द्वारा ही रज्जु आदि में सर्पादि के आरोप की भावरूपता है, क्योंकि जब अज्ञानवश व्यक्ति रज्जु में सर्प का आरोप कर लेता है तो उसे रज्जु में सर्प की आरोपित सत्ता का मिथ्या अनुभव होता है। इस प्रकार सर्प की भावरूपता का मूल अध्यारोप है। जिस समय व्यक्ति को रज्जु आदि वास्तविक पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, सर्पादि के अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार, जैसा कि शङ्कराचार्य ने स्पष्ट किया है, जगत् का समस्त व्यवहार सत्य एवं असत्य का मिथुनरूप है।[1] अज्ञानजन्य जागतिक व्यवहार के सत्यासत्य के मिथुन रूप होने से अज्ञान की भावरूपता स्वाभाविक है।

अज्ञान को 'यत्किञ्चित्' कहकर सदानन्द ने उसकी अवर्णनीयता किन्तु अस्तित्व की ओर संकेत किया है। अपने मत के समर्थन में सदानन्द का कथन है कि अज्ञानी व्यक्ति भी "मैं अज्ञानी हूँ" यह कहकर अपनी अज्ञानता का अनुभव करता है। इससे यह पुनः प्रतिपादित होता है कि वेदान्त का अज्ञान अभावात्मक अथवा बौद्धों के शून्य जैसा नहीं है।

आवरण एवं विक्षेप शक्तियाँ

सदानन्द ने अज्ञान की आवरण एवं विक्षेप शक्तियों का उल्लेख किया है। अज्ञान की आवरण-शक्ति जीव पर अज्ञान का आवरण डाल देती है जिसका परिणाम यह होता है कि जीव अपने स्वरूप—आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं कर पाता। विक्षेप शक्ति का कार्य यह है कि यह लिङ्ग-शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त समस्त जगत् की सृष्टि करती है।[2] आवरण एवं विक्षेप शक्तियों का संक्षिप्त उल्लेख करते हुए शङ्कराचार्य ने कहा है कि जिस प्रकार किसी दुर्दिन में सघन मेघों के द्वारा सूर्य के आच्छादित होने पर भयंकर झंझावात व्यथित कर देती है, उसी प्रकार बुद्धि के निरन्तर तमोगुण से आवृत होने पर अज्ञानी पुरुष को विक्षेप-शक्ति अनेक प्रकार के दुःख देती है।[3]

---

१. मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य 'अहमिदं' 'ममेदमिति' नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः। ब्र० सू० शा० भा० १।१।१

२. विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्। वाक्यसुधा०, १३

३. कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघै
व्यथयति हिमझञ्झावायुरुग्रो तथैतान्।
अविरततमसात्मन्यावृते मूढबुद्धि
क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः॥ विवेकचूडामणि, १४५

यदि विचार किया जाए तो आवरण एवं विक्षेप शक्तियाँ विषयित्व एव विषयत्व के ही अपर नाम हैं। अज्ञान की उपाधि के कारण जब जीव परमात्म-साक्षात्कार में असमर्थ होता है तो यह अज्ञान की विषयिता है। इस प्रकार विषयित्व-रूप से अज्ञान समस्त सांसारिक बुद्धि-रूप अनर्थ का मूल है—सा चाविद्या सर्वस्यानर्थस्य प्रसवबीजम्। (बृ० उ० शा० भा० ३।५।१) इस प्रकार अज्ञान का विषयित्व ही आवरण शक्ति है। किन्तु जब जीव अज्ञान से आवृत होकर जगत् के सम्बन्ध में अनेकविध कल्पनाएं करता है तथा मिथ्या जागतिक प्रपञ्च को सत्य समझता है तो यह अज्ञान का विषयत्व है। यह अज्ञान का विषयत्व इसलिए है कि इस स्थिति में जीव अज्ञानमय विषयों की सत्यता का अनुभव करता है। अज्ञान की विषयिता (Subjectivity) एवं विषयता (objectivity) यही है। ऐसा प्रतीत होता है कि अज्ञान की विषयिता एवं विषयता के आधार पर ही शङ्कराचार्यपरवर्ती वेदान्त में वाचस्पतिमिश्र आदि विद्वानों के द्वारा अविद्या एवं माया का भेद स्थापित किया गया है। इसीलिए नलिनीमोहन शास्त्री ने कहा है—

'What is Māyā from the ojbective side is Avidyā from the subjective side.'[1]

व्यष्टि एवं समष्टि रूप में अज्ञान का स्वरूप

सदानन्द ने व्यष्टि एवं समष्टि के रूप में अज्ञान का निरूपण करके इस सम्बन्ध में अपनी वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है। तदनुसार भोक्ता जीव-जो अनन्त हैं तथा स्रष्टा ईश्वर—जो एक है, दोनों ही अज्ञानोपाधि से उपहित हैं। जीव का सम्बन्ध अज्ञान की व्यष्टि से है तथा ईश्वर, का समष्टि से। दोनों के ही अज्ञानोपहित होने पर भी दोनों के कार्य-कलाप में भेद है। जीव-जैसा अल्पज्ञत्व एवं भोक्तृत्व ईश्वर में नहीं है तथा ईश्वर जैसी सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता एवं सर्वनियन्तृता आदि जीव में नहीं है। दोनों की इस भिन्न स्वरूप-स्थिति के कारण को स्पष्ट करते हुए सदानन्द का तर्क है कि ईश्वर की उपाधिरूप अज्ञान की समष्टि जहाँ विशुद्धसत्त्वगुणप्रधान है, वहीं जीव की अज्ञानोपाधि में सत्त्वगुण—रजोगुण एवं तमोगुण से अभिभूत होने के कारण मलिनता को प्राप्त हुआ होता है। इस प्रकार सत्त्व गुण की प्रधानता के कारण ही ईश्वर में सर्वज्ञत्व आदि गुण पाए जाते हैं, जीव की अज्ञता या अल्पज्ञता का मूल कारण यही है कि उसमें जगत् के समस्त विषयों का अवभासक सत्त्वगुण, जिसका स्वभाव ही प्रकाशकत्व है, मलिनता को

१. A Study of Śhaṅkara, p. 142 (Calcutta 1942)

प्राप्त होता है। अज्ञान की उपर्युक्त व्यष्टि एवं समष्टि को स्पष्ट करने लिए सदानन्द ने क्रमशः वृक्ष एव वन तथा जल एवं जलाशय के दृष्टान्त दिए हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अज्ञान के सम्बन्ध में सदानन्द ने साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया है। यदि विचार कर देखा जाय तो अज्ञान या माया के सिद्धान्त का प्रतिपादन किए बिना न ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट होता है और न जगत् का। इसीलिए ब्रह्मसूत्र के अनुवादक थीबो ने लिखा है—

Brahma is assosiated with a certain power called māyā or Avidyā to which the appearance of this entire world is due.[1]

अध्यारोपवाद

सदानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में अध्यारोपवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सिद्धान्त अज्ञानवाद का ही पूरक है। ब्रह्म एवं जगत् की स्वरूपसिद्धि में यह अध्यारोपवाद अतिशय सहायक सिद्ध हुआ है। समस्त ब्रह्माण्ड में दो तत्त्व हैं—एक वस्तु एवं दूसरा अवस्तु। ब्रह्म वस्तु अर्थात् परमार्थ-स्वरूप है। असत् से असत् वस्तु की सत्ता तब तक सिद्ध नहीं जा सकती जब तक कि उसके आधार का स्वरूप स्पष्ट न किया जाए। इसीलिए शङ्करा-चार्य ने कहा है कि बिना अधिष्ठान के सर्वथा असत् मृगतृष्णा की सम्भावना भी नहीं की जा सकती।[2] अतएव सदानन्द ने वस्तुस्वरूप ब्रह्म में अवस्तुरूप जगत् को अध्यारोप कहा है।[3] ब्रह्म में अवस्तुरूप जगत् उसी प्रकार आरोपित है जिस प्रकार शुक्ति में रजत एवं रज्जु में सर्प आरोपित हैं। अध्यारोप की इस क्रिया का मूल अज्ञान है। अज्ञान के द्वारा ही जीव ब्रह्म में अवर्तमान जगत्, रज्जु में अवर्तमान सर्प एवं शुक्ति में अवर्तमान रजत का दर्शन करता है। किन्तु जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तो न जगत् का दर्शन होता है न सर्प का और न रजत का। शुक्ति आदि की तरह इस स्थिति में ब्रह्ममात्र की ही सत्ता शेष रहती है। वस्तुबोध की इसी स्थिति को वेदांत में अपवाद कहा गया है।[4]

---

१. Thibaut—Introduction, Vedāntasūtra, p. xxv

२. न हि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरास्पदा भवितुमर्हन्ति।
शा० भा० गी० १३।१४

३. वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वेदान्तसार, ६

४. अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्या वस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। वेदान्तसार, २१

मुक्ति का सिद्धान्त

वेदान्त में अविद्यानिवृत्ति का फल आत्मबोध या मुक्ति है। शङ्कराचार्य ने मुक्ति को पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य, आकाशवत् सर्वव्यापी, समस्त विकारों से रहित, नित्यानन्दस्वरूप, अवयवरहित तथा स्वयंप्रकाशस्वभाव कहा है। मुक्ति की इस स्थिति में धर्म तथा अधर्म अपने कार्य सुख-दुःख से त्रिकाल में भी सम्बन्ध नहीं रखते।[1] इस प्रकार वेदान्त में मुक्ति विशुद्ध आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप है।

यद्यपि मुक्ति के अखण्ड ब्रह्मस्वरूप होने के कारण, उसमें भेद की कल्पना सङ्गत नहीं प्रतीत होती, तथापि सदानन्द ने स्थिति-भेद से जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति के स्वरूप का संक्षिप्त निरूपण किया है। जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है, जीवन्मुक्ति का विचार उपनिषदों में प्राप्त है। सदानन्द के अनुसार अज्ञान का बोध होने पर जीव को अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तो उस ब्रह्मनिष्ठ को जीवन्मुक्त कहते हैं। इस स्थिति में जीव के अज्ञानजन्य सञ्चित एवं सञ्चीयमान कर्मों का विनाश हो जाता है। किन्तु आत्मसाक्षात्कार होने पर भी जीव प्रारब्धकर्मों का भोग पूरा न होने के कारण शरीर ग्रहण करता है। यही जीवन्मुक्ति का स्वरूप है। मुक्त एवं बद्ध पुरुष के कर्मयोग को स्पष्ट करते हुए सदानन्द का कथन है कि जीवन्मुक्त प्राणी प्रारब्ध-कर्मों के फलों का भोग करते हुए उन्हें परमार्थबुद्धि से नहीं भोगता। सदानन्द ने इस सम्बन्ध में ऐन्द्रजालिक का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जैसे कोई ऐन्द्रजालिक (जादूगर) अपने इन्द्रजाल को देखते हुए भी उसे वास्तविक नहीं समझता, उसी प्रकार जीवन्मुक्त भी कर्मफलभोग को वास्तविक नहीं समझता। तत्त्व-ज्ञानी जीवन्मुक्त द्वारा शुभ कर्म सम्पन्न होते हैं अथवा अशुभ कर्म, इस सम्बन्ध में सदानन्द का विचार है कि जीवन्मुक्त के द्वारा स्वभावतः शुभ कर्म ही सम्पन्न होते हैं, अशुभ कर्म नहीं। वैसे तो जीवन्मुक्त शुभ एवं अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों के प्रति उदासीन रहता है। जैसा कि गीता में कहा गया है

---

१. इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यं व्योमवत् सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयंज्योतिःस्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सहकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम्।

ब्र० सू० शा० भा० १।१।४

जैसे मोक्ष-विद्या के प्रकरण-ग्रन्थ का लेखक इस तथ्य से परिचित होगा ही कि मोक्ष का अभिलाषी ग्रन्थ नहीं लिखता, वह तो 'श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः' (श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए, निदिध्यासन करना चाहिए) की विधि को ही अपनाता है। अतः यहाँ ग्रन्थकार की अभीष्टसिद्धि से ग्रन्थ की निर्विघ्न पूर्णता का ही आशय ग्रहण करना चाहिए।

जिस आत्म-तत्त्व को सदानन्द ने अखण्ड एवं वाणी तथा मन से अतीत (अवाङ्मनसातीत) कहा है उसका आश्रय ग्रहण करने अथवा ध्यान करने का औचित्य विचारणीय है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अद्वैत-वेदान्त के अन्तर्गत आत्मतत्त्व निर्गुण एवं निराकार होते हुए भी 'सत्' रूप है, वह शून्य-रूप नहीं है। इस सत्-स्वरूप आत्मा के प्रति ही आस्तिक लेखक ने अपनी आस्था प्रकट की है। आत्मतत्त्व को समस्त प्रपञ्च का आधार कहकर ग्रन्थकार ने ब्रह्म के अधिष्ठान स्वरूप की ओर संकेत किया है। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान है और जगत् अध्यास है। ब्रह्म-स्वरूप अधिष्ठान में जगत् उसी प्रकार अध्यस्त है जिस प्रकार शुक्ति में रजत एवं रज्जु में सर्प अध्यस्त होता है।

गुरुप्रणति

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः।
गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति ॥२॥

समस्त द्वैतभान के दूर हो जाने के कारण जो न केवल नाम मात्र से अपितु अर्थ की दृष्टि से भी अद्वयानन्द हैं ऐसे गुरु जी को श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके अपनी बुद्धि के अनुसार वेदान्तसार को कहूँगा।

विवेक

इस श्लोक में लेखक की गुरुभक्ति का स्पष्ट परिचय मिलता है। 'अर्थतोऽप्यद्वयानन्दान्' कहकर ग्रन्थकार ने अपने गुरुजी—अद्वयानन्द के बारे में बतलाते हुए कहा है कि वे नाम के ही अद्वयानन्द नहीं थे, अपितु गुणों से भी अद्वयानन्द थे अर्थात् अद्वैत आत्मतत्त्व में लीन होकर आनन्द का अनुभव करते थे। इससे अद्वयानन्द के जीवन्मुक्त होने का संकेत मिलता है।

'अतीतद्वैतभानतः' की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—

१. अतीतं द्वैतं यस्मात् तदतीतद्वैतम्, तस्य भानतः (जिस परमात्मतत्त्व से द्वैत

प्रपञ्च नष्ट हो गया है उसका साक्षात्कार होने के कारण); २—अतीतं गतं द्वैतभानं यतः तस्मात् (परमात्मसाक्षात्कार से द्वैतभान के नष्ट हो जाने के कारण)। यहाँ प्रथम व्याख्या समुचित नहीं प्रतीत होती। इसका कारण यह है कि परमात्मसाक्षात्कार के लिए भान शब्द का प्रयोग प्रायः देखने में नहीं आता। मिथ्या भ्रम के लिए ही भान शब्द का प्रयोग होता है जैसे, शुक्ति में रजत का भान एवं रस्सी में सर्प का भान आदि। इस प्रकार यहाँ दूसरा अर्थ ही ग्राह्य प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ द्वैतप्रपञ्च के भान की बात कहीं गई है।

वेदान्त किसे कहते हैं ?

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च। अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात्तदीयैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न ते पृथगालोचनीयाः। तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि ॥३॥

जिस शास्त्र में उपनिषदें प्रमाण हैं, उसे वेदान्त कहते हैं। शारीरक सूत्र (ब्रह्मसूत्र) एवं श्रीमद्भगवद्गीता आदि उस वेदान्त के उपकारक (ग्रन्थ) हैं। इस (वेदान्तसार) के वेदान्त का प्रकरणग्रन्थ (Hand Book) होने के कारण जो वेदान्त के अनुवन्ध हैं, वे ही इस (वेदान्तसार) के भी अनुवन्ध हैं, इसलिए उनके पृथक् विवेचन की आवश्यकता नहीं है। इनमें अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन को 'अनुवन्ध' कहते हैं।

विवेक

इस प्रकरण में 'वेदान्त' की परिभाषा प्रस्तुत की गई है तथा वेदान्त का 'अनुवन्धचतुष्टय' वतलाया गया है।

यहाँ यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि वेदान्त से यहाँ अद्वैतवेदान्त (शाङ्कर वेदान्त) का ही आशय है। वेदान्त से रामानुजवेदान्त, वाल्लभ-वेदान्त, निम्बार्कवेदान्त एवं माध्ववेदान्त आदि का भी तात्पर्य ग्रहण किया जाता है। किन्तु आज प्रायः वेदान्त शब्द से शाङ्करवेदान्त का ही तात्पर्य ग्रहण किया जाता है। इसका कारण शाङ्करवेदान्त की दार्शनिक विशेषता एवं प्रख्याति है। इसीलिए इलियट ने शाङ्कर-दर्शन की महत्ता का उल्लेख करते हुए लिखा है—

He...in consistency, thoroughness & profundity holds the first place in Indian philosophy.[1]

1. Hinduism and Buddhism, Vol. II, p. 208.

साधारणतया वेदान्त शब्द का अर्थ वेद का अन्त है। परन्तु यहाँ अन्त शब्द का अर्थ समाप्ति न होकर सिद्धान्त है। यह उपयुक्त ही है, क्योंकि उपनिषत्प्रमाणित दर्शन ही वेद का सिद्धान्त पक्ष है। यही वेदान्त दर्शन के नाम से प्रचलित है। वेदान्त के वेद का सिद्धान्तपक्ष होने के कारण इसे उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। पूर्वमीमांसा वेद का पूर्वपक्ष है।

वेदान्त को उपनिषत्प्रमाण कहने का यही आशय है कि वेदान्त-दर्शन उपनिषदों के मूल सिद्धान्तों पर आधारित है। वैसे, वेदान्तदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि, ये ६ प्रमाण स्वीकार किए गए हैं। इस प्रकार सदानन्द द्वारा गृहीत उपनिषत्प्रमाण शब्दप्रमाण के ही अन्तर्गत आता है।

वेदान्त के उपकारक जिस शारीरक सूत्र का उल्लेख ग्रन्थकार ने किया है उसका अर्थ ब्रह्मसूत्र इसलिए है कि उसमें शारीरक अर्थात् जीव के स्वरूप (ब्रह्म) का निरूपण किया गया है। ब्रह्मसूत्र का आरम्भ ही ब्रह्मजिज्ञासा (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, ब्र० सू० १।१।१) से होता है। इस प्रकार शारीरक सूत्र की व्याख्या इस प्रकार होगी—

'शरीरमेव शारीरकं तत्र भवः शारीरकः जीवः सः निरूपितोऽस्ति यस्मिन् तद् शारीरकसूत्रम्' अर्थात् शरीर में रहने वाले जीव का निरूपण जिस ग्रन्थ में मिलता है, वह ब्रह्मसूत्र है। शारीरक में 'कुत्सिते' (५।३।७४) सूत्र से कुत्सा अर्थ में 'क' प्रत्यय लगा है। नश्वर शरीर का कुत्सित होना स्वाभाविक ही है। यहाँ जैसा कि अनेक आलोचक विद्वानों ने किया है, शारीरक सूत्र से जीवविषयक सूत्र का अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थों का उद्देश्य जीव का विचार न होकर उसके स्वरूप अर्थात् ब्रह्म का विचार है। इसीलिए रत्नप्रभाकार गोविन्दानन्द ने शारीरकमीमांसा का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है—"शरीरमेव शारीरकं, कुत्सितत्वात्, तन्निवासी शारीरको जीवः तस्य ब्रह्मत्वविचारो मीमांसा।"

(रत्नप्रभा, ब्र० सू० शा० भा० १।१।१)

ग्रन्थकार ने 'शारीरकसूत्रादीनि' में आदि शब्द का उल्लेख करके श्रीमद्भगवद्-गीता एवं उपनिषदों के भाष्यग्रन्थों की ओर सङ्केत किया है।

वेदान्तसार वेदान्त का प्रकरण-ग्रन्थ है। प्रकरण-ग्रन्थ के स्वरूप को बतलाते हुए पराशर उपपुराण में कहा गया है—

शास्त्रैकदेशसम्वद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ॥
(पराशर उपपुराण, १८।२१,२२)

प्रकरण की इस परिभाषा के अनुरूप प्रकरण किसी विषय के लघुग्रन्थ का नाम है। शङ्कराचार्य द्वारा विवेकचूडामणि आदि ३६ प्रख्यात प्रकरण-ग्रन्थों की रचना की गई है।

किसी ग्रन्थ के आरम्भ में अनुबन्धचतुष्टय का विचार स्वाभाविक है। अनुवन्धचतुष्टय के अन्तर्गत ग्रन्थ के अधिकारी, विषय, सम्वन्ध एवं प्रयोजन आते हैं। अनुवन्धचतुष्टय के अभाव में न ग्रन्थ का साफल्य सिद्ध होता है और न अध्येता को ही ग्रन्थ के उद्देश्य का बोध होता है। अधिकारी की महत्ता के सम्बन्ध में शङ्कराचार्य ने 'विवेकचूडामणि' में कहा है—

अधिकारितामाशास्ते फलसिद्धिविशेषतः।
उपाया देशकालाद्याः सन्त्यस्मिन् सहकारिणः ॥
(विवेकचूडामणि, १४)

अर्थात् फलसिद्धि अधिकारी को ही होती है। देश, काल आदि उपाय उसमें सहायक होते हैं। द्वितीय अनुवन्ध—'विषय' का तात्पर्य ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय से है। तृतीय अनुवन्ध—'सम्बन्ध' का आशय मूल ग्रन्थों के 'विषय तथा पुस्तक के सम्वन्ध' से है। चतुर्थ अनुवन्ध—'प्रयोजन' है। प्रयोजन का अर्थ ग्रन्थ का प्रमुख प्रयोजन है। अनुवन्धचतुष्टय का ग्रन्थ के आरम्भ में स्पष्ट कर देना आवश्यक है। इसीलिये कहा है—

ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥
(वाचस्पत्यम्)

अव यहाँ अनुबन्धचतुष्टय का विवेचन किया जाएगा।

अनुबन्धचतुष्टय का विवेचन

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तःसाधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता। काम्यानि स्वर्गादीष्ट-

साधनानि ज्योतिष्टोमादीनि। निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि। नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि। प्रायश्चित्तानि—पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि। उपासनानि—सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि। एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परमप्रयोजनम्। उपासनानां तु चित्तैकाग्र्यं 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' (बृ० उ० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतेः, तपसा कल्मषं हन्ति (मनु० १२।१०४) इत्यादिस्मृतेश्च। नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक' (बृ० उ० १।५।१६) इत्यादिश्रुतेः। साधनानि—नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि। नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद् ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम्।

ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थफलभोगविरागः। शमादयस्तु—शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः। शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः। दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्। निवर्तितानामेतेषां 'तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिरथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः। तितिक्षा—शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता। निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्। गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा। मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा। एवंभूतः प्रमाता अधिकारी 'शान्तो दान्तः' (बृ० उ० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च—

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षव इति॥

(उपदेशसाहस्री, ३२४।१६।७२)

विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्। सम्बन्धस्तु तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावः। प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दा-

वाप्तिश्च 'तरति शोकमात्मविद्' (छा० उ० ७।१।३) इत्यादिश्रुतेः 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (मु० उ० ३।२। ९) इत्यादिश्रुतेश्च ।।४।।

वेदान्त का अधिकारी वह जिज्ञासु है जिसने वर्तमान जन्म में या पूर्व जन्म में विधिवत् वेद एवं वेदाङ्गों का अध्ययन करके स्वतः समस्त वेदों के तात्पर्य को जान लिया है, जिसका अन्तःकरण काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का परित्याग करके नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त एवं उपासन कर्मों के अनुष्ठान से समस्त पापों के नष्ट होने के कारण अत्यन्त निर्मल हो गया है और जो नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमादिषट्कसम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्व, इन चार साधनों से सम्पन्न है। स्वर्गादि इष्ट वस्तुओं के साधनरूप कर्म काम्य कर्म कहलाते हैं, जैसे, ज्योतिष्टोम आदि कर्म। नरक आदि अनिष्ट (अप्रिय) वस्तुओं के साधन-रूप कर्म निषिद्ध कर्म हैं, जैसे, ब्राह्मणहत्या आदि। नित्य कर्म वे सन्ध्यावन्दन आदि कर्म हैं जिनके न करने से हानि होती है (किन्तु जिनके करने से पुण्य नहीं मिलता)। पुत्र-जन्म आदि के अवसर पर सम्पन्न होने वाले जातेष्टि आदि कर्म **नैमित्तिककर्म** कहलाते हैं। पापों के नाश के साधनरूप चान्द्रायण व्रत आदि कर्म **प्रायश्चित्त** कर्म कहलाते हैं। सगुण ब्रह्म जिनका विषय है, ऐसे मानसिक ध्यान रूप शाण्डिल्यविद्या आदि कर्म **उपासनकर्म** कहलाते हैं। इनमें नित्यादि (नित्य, नैमित्तिक एवं प्रायश्चित्त) कर्मों का परम प्रयोजन बुद्धि की शुद्धि है। उपासन कर्मों का प्रयोजन चित्त की एकाग्रता है। जैसा कि श्रुति में कहा गया है—इस आत्मा को ब्राह्मण वैदिक अनुशीलन एवं यज्ञ के द्वारा जानने की कामना करते हैं (बृ० उ० ४।४।२२) और जैसा कि स्मृति में भी कहा गया है—"तप से पाप का नाश होता है" (मनु० १२।१०४)। नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त एवं उपासन कर्मों का अवान्तर (आनुषङ्गिक) फल पितृलोक एवं सत्यलोक की प्राप्ति है। श्रुति में भी कहा है—'कर्म से पितृलोक एवं विद्या (ज्ञान) से देवलोक की प्राप्ति होती है (बृ० उ० १।५।१६)। (१) नित्य एवं अनित्य वस्तु का विवेक, (२) ऐहिक एवं आमुष्मिक फलभोग से विरक्ति, (३) शम, दम, उपरति एवं तितिक्षा और (४) मुमुक्षुत्व, ये चार साधन हैं। नित्यानित्यवस्तु-विवेक वह है जिसके अन्तर्गत 'ब्रह्म ही नित्य वस्तु है, उसके अतिरिक्त समस्त पदार्थ अनित्य हैं" यह विवेचन होता है। इहामुत्रार्थफलभोग-विराग वह है जिसके अनुसार कर्मजन्य होने के कारण अनित्य—माल्य,

चन्दन एवं स्त्री आदि ऐहिक (इस लोक के) विषयभोगों के समान पारलौकिक अमृतादि विषयों के भोगों के भी अनित्य होने के कारण उनसे नितान्त विरक्ति होती है। शमादि—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा हैं। श्रवणादि (श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन) से अतिरिक्त विषयों से मन के रोकने को शम कहते हैं। बाह्य इन्द्रियों का श्रवणादि से व्यतिरिक्त विषयों से हटा लेना दम है। बाह्य विषयों से लौटाई गई इन्द्रियों का श्रवणादि से व्यतिरिक्त विषयों से उपरमण उपरति है। अथवा विहित (नित्य-नैमित्तिक) कर्मों के विधिपूर्वक (संन्यासाश्रम में) परित्याग को उपरति कहते हैं। शीतोष्ण एवं मानापमान आदि द्वन्द्व को सहन करना तितिक्षा है। वशीकृत मन को श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन तथा इनके अनुकूल विषय (निरभिमानित्व के चिन्तन आदि) में लगाने का नाम समाधि है। गुरु द्वारा उपदिष्ट वेदान्त-वाक्यों में विश्वास करना श्रद्धा है। मोक्ष की इच्छा करना मुमुक्षत्व है। इस प्रकार का जीव, मोक्ष का अधिकारी है। श्रुति ने इसे 'शान्त, दान्त' (बृ० उ० ४।४।२२) कहा है। कहा भी है—शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, जिसके (कामक्रोध आदि) दोष नष्ट हो गए हैं अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण वाले, काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का त्याग करके (ईश्वरनिमित्त) नित्य कर्मों का अनुष्ठान करने वाले, विवेक, वैराग्य एवं क्षमा-सहनशीलता आदि गुणों से युक्त गुरु के अनुगामी एवं मुमुक्षु के लिए ही वेदान्तविद्या का उपदेश देना चाहिए। (उपदेशसाहस्री, ३२४।१६।७२)।

जीव और ब्रह्म का ऐक्य विषय है। यह जीव-ब्रह्मैक्य शुद्धचैतन्य-स्वरूप एवं प्रमेय (ज्ञेय) है, इसी से वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य है। जीव-ब्रह्मैक्य-रूप ज्ञेय एवं उसके प्रतिपादक उपनिषद्वाक्यों में बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है। जीवब्रह्मैक्यरूप ज्ञेय-विषयक अज्ञान की निवृत्ति तथा स्वरूप-बोध के फलस्वरूप आनन्द की प्राप्ति प्रयोजन है। श्रुति में भी 'आत्मवेत्ता शोक से परे हो जाता है' (छा० उ० ७।१।३) एवं 'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है (मु० ३।२।९), ऐसा कहा है।

विवेक

प्रत्येक ग्रन्थ का निर्माण करने से पूर्व अनुबन्धचतुष्टय का निर्देश अत्यावश्यक है। इससे ग्रन्थ के अध्ययन के अधिकारी एवं उसके (ग्रन्थ के) प्रतिपाद्य विषय आदि का निर्णय होने से अध्ययन में सुविधा होती है। वर्तमान काल के लेखक भी प्रायः ग्रन्थ की प्रस्तावना में प्रकारान्तर से अनुबन्ध-

चतुष्टय का निर्देश करते हैं। अनुबन्धचतुष्टय के अन्तर्गत अधिकारी का वेदान्त-विद्या के अधिकारी से आशय है। अधिकारी का लक्षण करते समय इस प्रकरण के अन्त में 'एवंभूतः प्रमाता अधिकारी' कहकर सत्यनिष्ठ जिज्ञासु जीव को अधिकारी कहा है। प्रमाता जिज्ञासु जीव ही है। अधिकारी के विधिपूर्वक वेद-वेदाङ्ग के अध्ययन करने का तात्पर्य है कि जिसने ब्रह्मचर्यादि नियमों का पालन करते हुए वेद-वेदाङ्ग का अनुशीलन किया है। वेदाङ्ग के अन्तर्गत शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्यौतिष आते हैं। जैसा कि ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है, मुमुक्षु अधिकारी के लिए वर्तमान जन्म अथवा जन्मान्तर में वेद-वेदाङ्ग के अध्ययन के द्वारा वेदों के तात्पर्य को जानना अपेक्षित है। विदुर आदि के उदाहरण उक्त तथ्य के प्रमाण हैं। विदुर जैसे ब्रह्मज्ञानियों ने वर्तमान जन्म में वेदादि का अध्ययन नहीं किया था, अतः उनका वेदादि का ज्ञान पूर्वजन्म पर ही आधारित था। कतिपय विद्वानों ने 'अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा' का सम्बन्ध 'अधिगताखिलवेदार्थः' से न कर 'काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरम्' आदि से किया है।[1] किन्तु यह संगत नहीं प्रतीत होता। काम्यनिषिद्ध आदि का सम्बन्ध स्पष्ट ही वर्तमान जन्म में स्थित साधनचतुष्टय-सम्पन्न प्रमाता से है। इस प्रकार 'अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे' का सम्बन्ध 'अधिगताखिलवेदार्थः' से ही मानना चाहिए।

यद्यपि ज्योतिष्टोम आदि काम्य कर्म 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' के अनुसार स्वर्गादि के साधक एवं पुण्य कर्म हैं। किन्तु अधिकारी के लिए उनका निषेध इसलिए किया गया है कि वे शुभ होने के कारण जन्ममरण के हेतु हैं, क्योंकि शुभ एवं अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों के फलभोग के लिए जन्म ग्रहण अनिवार्य है।

---

1. Who being absolved from all sins in this or in previous life by the avoidance of the actions known as kāmya (rites performed with a view to attaining a desire and nishiddha (those forbidden in the scriptures) and by the performance of actions called nitya (daily obligatory rites) and naimittika (obligatory on special occasions) as well as by penance and devotion has become entirely pure in mind and who has adopted the four sādhanas or means as the attainment of spiritual knowledge.

(Nikhilanand, Vedantasara, p. 4)

तथा देखिए, वेदान्तसार, साहित्यभण्डार, मेरठ, पृ० ४

जहाँ तक नित्यकर्मों का प्रश्न है, वेदान्तदर्शन के अनुसार नित्यकर्मों के न करने से कोई नया पाप नहीं लगता, किन्तु नित्यकर्मों का सम्पादन पाप करने की प्रवृत्ति को अवश्य रोकता है। परन्तु मीमांसकों का विचार है कि नित्यकर्म न करने से पाप लगता है। सदानन्द ने 'नित्यान्यकरणे प्रत्यवाय-साधनानि' कहकर नित्यकर्मों के असम्पादन को पाप का हेतु कहा है। उनका यह मत मीमांसा से प्रभावित कहा जा सकता है।

नैमित्तिक वे कर्म हैं जो किसी निमित्त से किए जाते हैं। पुत्र के उत्पन्न होने पर पिता द्वारा सम्पन्न होने वाला 'जातेष्टि' या जातकर्म संस्कार नैमित्तिक कर्म ही है—"वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते" (तैत्तिरीय संहिता, २।२।५।३)।

सूतसंहिता (पृ० ३४५) में काम्य, नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों की उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा गया है कि काम्य कर्म का प्रधान फल आर्थिक शुद्धि है, नित्य कर्म का प्रधान रूप से मनःशुद्धि फल है तथा नैमित्तिक कर्म का फल पाप की निवृत्ति है—

एकः काम्योऽपरो नित्यस्तथा नैमित्तिकः परः।
प्राधान्येन फलं-शुद्धिरार्थिकी काम्यकर्मणः॥
प्राधान्येन मनःशुद्धिर्नित्यस्य फलमार्थिकम्।
केवलं प्रत्यवायस्य निवृत्तिरितरस्य तु॥

(सूतसंहिता, पृ० ३४५)

किए हुए पापों को धोने के लिये जो व्रत किए जाते हैं, वे प्रायश्चित्त कर्म कहलाते हैं :—

प्रायः पापं विजानीयात् चित्तं तस्यैव शोधनम्।

चान्द्रायण व्रत के सम्बन्ध में मनुस्मृति में लिखा है—

एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्द्धयेत्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्॥

(मनुस्मृति, ११।२१७)

अर्थात् चान्द्रायण व्रत की विधि के अनुसार तीनों सन्ध्याओं (प्रातःकाल, मध्याह्न एवं सायंकाल) में स्नान करके पूर्णिमा के दिन १५ ग्रास भोजन करके कृष्णपक्ष में प्रतिपदा से लेकर चतुर्दशीपर्यन्त क्रम से एक-एक ग्रास भोजन करना चाहिए और अमावस्या के दिन निराहार रहकर शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से अमावस्या तिथि तक क्रम से प्रतिदिन एक-एक ग्रास बढ़ाकर भोजन करना चाहिए।

सगुण ब्रह्म अर्थात् मायोपाधिक ईश्वर का ध्यान करना उपासन कर्म है। उपासना के अन्तर्गत ध्याता एवं ध्येय का भेद बना रहता है। इसीलिए यह ज्ञान की स्थिति से भिन्न है।

छान्दोग्योपनिषद् (३।१४।१२) में शाण्डिल्यविद्या का उल्लेख मिलता है। इस स्थल पर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' से आरम्भ करके "स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरे भारूपः" पर्यन्त शाण्डिल्य ऋषि ने जगत् और आत्मा की ब्रह्म-रूप से उपासना का प्रतिपादन किया है। शाण्डिल्य ऋषि के द्वारा उक्त विद्या का उपदेश होने के कारण ही इसे शाण्डिल्यविद्या कहते हैं। शाण्डिल्य विद्या आदि से तात्पर्य शतपथब्राह्मण की "स आत्मानमुपासीत मनोमयम्" एवं बृहदारण्यक की "मनोमयोऽयं पुरुषो भारूपः" सदृश उक्तियों से है।

नित्यादि से नित्य, नैमित्तिक एवं प्रायश्चित्त कर्मों का आशय है। सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि (१।५२) के अन्तर्गत नित्य कर्मों को परम्परया तत्त्वज्ञान का कारण कहा है। सुरेश्वराचार्य का कथन है कि नित्य कर्मों से सदाचार की प्राप्ति होती है, सदाचार से पापनाश होता है और पापनाश होने पर चित्त-शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि होने पर संसार की वास्तविकता का बोध होता है। संसार की वास्तविकता का बोध होने पर वैराग्य उत्पन्न होता है जिससे मोक्ष की आकांक्षा जागरित होती है। मोक्ष की आकांक्षा होने पर मोक्ष के साधनों की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और इसका परिणाम समस्त कर्मों का त्याग है। इसके पश्चात् योग का अभ्यास आरम्भ होता है जिसके परिणामस्वरूप चित्तवृत्ति आत्मनिष्ठ होती है। चित्तवृत्ति के आत्मनिष्ठ होने पर जीव 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्यों के तात्पर्य को जान लेता है, जिसके फलस्वरूप अज्ञान नष्ट हो जाता है और इस प्रकार अन्तिम परिणाम के अनुसार साधक मुमुक्षु मोक्षलाभ करता है।

पितृलोकसत्यलोकप्राप्ति

पितृलोक की प्राप्ति नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों का आनुषङ्गिक फल है। पितृलोक का सम्बन्ध उपरि वर्तमान सप्तलोकों में से 'भुवः' से है। सत्यलोक की प्राप्ति उपासन कर्मों का अवान्तर फल है। इस स्थल पर सत्यलोक से मोक्ष का आशय नहीं ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उपासन कर्म मोक्ष के साक्षात् कारण नहीं हैं। सत्यलोक का तात्पर्य भी 'भूः' आदि महालोकों के अन्तर्गत परिगणित सत्यलोक से ही है। नित्य नैमित्तिक एवं उपासन कर्मों का मुख्य फल चित्तशुद्धि है। पितृलोक एवं सत्यलोक की प्राप्ति में प्रायश्चित्त

कर्मों का योगदान नहीं है, क्योंकि इनसे तो वर्तमान जीवन के पापों का क्षय-मात्र होता है, मृत्यु के पश्चात् उनका कोई फल नहीं है।

साधनचतुष्टय

नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि साधन उत्तरोत्तर एक-दूसरे के साधक हैं। नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुत्रार्थफलभोगविराग का कारण है। इहामुत्रार्थ-फलभोगविराग शमादि छह प्रकार की सम्पत्ति का कारण है और शमादि-षट्कसम्पत्ति मुमुक्षा का कारण है।

नित्यानित्यवस्तुविवेक

ब्रह्मतत्त्व का जिज्ञासु ("नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्" मु० १।६), "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः" (कठ० २।१८) "नित्यः सर्वगतः स्थाणुर-चलोऽयं सनातनः (गीता २।२४) आदि प्रमाणों के आधार पर आत्मतत्त्व की एकता का बोध करता है और "यदल्पं तन्मर्त्यम्" (छा० ७।२४।१) एवं 'आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत' (गीता २।१४) आदि प्रमाणों के आधार पर इन्द्रियों के विषय एवं उनके संयोग की अनित्यता का अनुभव करता है।

इहामुत्रार्थफलभोगविराग

ऐहिक (इस लोक के विषय) एवं आमुष्मिक (परलोक के) जो स्वर्गादि फलों का भोग, यह सब कर्मजन्य होने के कारण अनित्य है। इन दोनों के प्रति विरक्ति की भावना अधिकारी के लिए अपेक्षित है।

शमादयः

शमादि में शम, दम, तितिक्षा तथा उपरति है। शम चित्त की वह वृत्ति है जो चित्त को जागतिक विषयों से दूर रखती है। इस प्रकार शम चित्त का निरोध है। दम बाह्येन्द्रियों का निरोध है। उपरति भी एक प्रकार का निरोध ही है। उपरति की दो परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं। दम की परिभाषा—'दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्' और उपरति की पहली परिभाषा—"निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिः" इन दोनों परिभाषाओं में परस्पर अत्यन्त साम्य है। दोनों में ही श्रवणादि से व्यतिरिक्त विषयों से बाह्येन्द्रियों के निरोध की बात कही गई है। किन्तु उपरति की दूसरी परिभाषा—"अथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः" (विहित अर्थात् नित्य, नैमित्तिक कर्मों का

संन्यासाश्रम में विधिपूर्वक त्याग ही उपरति है) दम से भिन्न है। शीतोष्णादि से जन्य सुख एवं दुःख को सहन करना तितिक्षा है। वैसे तो, देहधारी के लिए शीतोष्णादि से जन्य सुख-दुःख का अनुभव स्वाभाविक है, किन्तु तितिक्षु सुख-दुःख को देहधर्म समझकर उनसे सामान्य जनों की तरह विचलित नहीं होता, यही उसकी तितिक्षा है।[1]

समाधि

चित्त के समाहित होने का नाम समाधि है। समाधि के अनुसार जिज्ञासु चित्त को निरन्तर श्रवणादि में लगाता है—समाधिरिति निरन्तरेण तच्चिन्तनमित्यर्थः (भावार्थबोधिनी)।

श्रद्धा

सदानन्द ने गुरु-द्वारा उपदिष्ट वेदान्त-वाक्यों में विश्वास को श्रद्धा कहा है। परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर विश्वास एवं श्रद्धा में भेद दिखाई पड़ता है। विश्वास की अपेक्षा श्रद्धा अधिक पवित्र एवं उत्कृष्ट भाव है। विश्वास की अपेक्षा यह आत्मपरक भी अधिक है। श्रद्धालु श्रद्धेय के प्रति समग्र श्रद्धा को समर्पित करने में ही आनन्दित होता है। किन्तु विश्वासवान् को विश्वास्य से यह भय भी बना रहता है कि कहीं वह विश्वास का घात न कर दे। ऐसा प्रतीत होता है कि सदानन्द ने सामान्य दृष्टि से ही विश्वास एवं श्रद्धा को समान अर्थ में प्रयुक्त किया है। महाभारत में श्रद्धा को पापमोचनी तथा अश्रद्धा को परमपाप रूप कहा है—

"अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी" (महाभारत २६५।१२।९४५६)

प्रमाता

प्रमाता जीव है, जो अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है।

शान्तो दान्तः

यह श्रुति इस प्रकार है—"तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति" (बृ० उ० ४।४।२२) अर्थात् पहिले दान्त अर्थात् बाह्येन्द्रियों के व्यापारों से उपरत होकर तत्पश्चात् शान्त

---

१. शरीरधर्मस्यशीतोष्णादेस्तज्जन्यसुखदुःखादेश्च शरीरस्य त्यक्तुमशक्यत्वात् स्वप्रकाशचिद्रूपे स्वात्मनि च शीतोष्णादेरत्यन्ताभावादिति विवेकदीपेन मिथ्याभूतस्य शीतोष्णादिद्वन्द्वस्य यत्सहनं सा तितिक्षेत्यर्थः।
सुबोधिनी, पृ० ५

अर्थात् अन्तःकरण की तृष्णाओं से निवृत्त हुआ, उपरत अर्थात् समस्त कामनाओं से मुक्त एवं विधिपूर्वक समस्त कर्मों का त्याग करने वाला संन्यासी तथा तितिक्षु आत्मा में समाहित होकर आत्मस्वरूप में ही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है।

विषय

जीव एवं ब्रह्म का ऐक्य वेदान्त का 'विषय' रूप अनुबन्ध है, यही शुद्ध चैतन्य एवं प्रमेय-रूप है। अद्वैत-वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन किया गया है। अविद्या के कारण जीव अपने आप को ब्रह्म से भिन्न अनुभव करता है। अविद्या के परिणामस्वरूप ही ममत्व एवं परत्व की द्वैत-दृष्टि देखी जाती है। किन्तु अविद्या की निवृत्ति होने पर आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर द्वैतदृष्टि समाप्त हो जाती है—"ज्ञाते द्वैतं न विद्यते"। यही अद्वैतदृष्टि जीव एवं ब्रह्म का ऐक्य है। इस स्थिति में जीव ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त करता है जो शुद्ध चित्-रूप है। इस प्रकार जीवब्रह्मैक्य का शुद्ध-चैतन्य रूप से प्रतिपादन करके यह सिद्ध किया गया है कि जीव और ब्रह्म का नीरक्षीर जैसा मिश्रण नहीं है, अपितु स्वरूपैक्य है—"जीवो ब्रह्मैव नापरः"।

प्रमेय

प्रमाणों द्वारा ज्ञेय विषय को प्रमेय कहते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा ज्ञेय लौकिक विषयों को प्रमेय कहना संगत है। किन्तु शुद्ध-चैतन्य को प्रत्यक्ष प्रमाणादि के द्वारा ज्ञेय न होने के कारण प्रमेय कैसे कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म का प्रामाण्य ज्ञान के कारण है।

यदि कहा जाय कि शुद्ध-चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म सदैव उपलब्ध है, अतः उसकी प्रमेयता कैसे संभव हो सकती है? तो इस सम्बन्ध में वेदान्त परिभाषा के लेखक धर्मराजाध्वरीन्द्र का निम्नलिखित कथन प्रमाण है—

"अज्ञातं ब्रह्मविषयः ज्ञातं ब्रह्म प्रयोजनम्"

अर्थात् अज्ञात ब्रह्म विषय एवं ज्ञात ब्रह्म प्रयोजन है। ब्रह्म की ज्ञेयता के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि ब्रह्म की स्वप्रकाशता पहले से ही सिद्ध है, किंतु फिर भी जीव को यह जानना शेष रहता ही है कि परिपूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म अन्तर्यामी रूप से वर्तमान है। इसीलिए स्वप्रकाशस्वरूप ब्रह्म की भी प्रमेयता कही गई है। इस प्रकार प्रमेयता अज्ञेयता ही है, क्योंकि अज्ञात

विषय की ही प्रमेयता सम्भव है।[1] रामतीर्थ ने प्रकारान्तर से ब्रह्म की प्रमेयता को सिद्ध करते हुए कहा है कि परोक्ष-रूप से प्रसिद्ध ब्रह्मात्मवस्तु को उद्देश करके उसके स्वरूप के साक्षात्कार के लिए प्रवृत्ति की उपपत्ति सङ्गत है। इस प्रकार ब्रह्म की प्रमेयता उचित है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आदि श्रुतिवाक्य इसमें प्रमाण हैं।[2]

प्रयोजन

वेदान्त का प्रयोजन जीवब्रह्मैक्यस्वरूप ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति-मात्र नहीं है, क्योंकि वेदान्त अभाववादी दर्शन न होकर सद्वादी या भाववादी दर्शन है। इसीलिए वेदान्त का प्रयोजन ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति के साथ आत्मा के स्वरूप अर्थात् आनन्द की प्राप्ति भी है (स्वस्व-रूपानन्दावाप्तिश्च)। 'रसो वै सः,' रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयति' 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्नबिभेति कुतश्चन' (तै० उ० २।७,८,९) आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् (तै० ६।६) आदि श्रुतिवाक्य भी आत्मा की आनन्दस्वरूपता का प्रतिपादन करते हैं। 'तरति, शोकमात्मवित्' (छा० उ० ७।१।३) एवं 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (मु० उ० ३।२।९) आदि श्रुतियाँ भी उक्त तथ्य का ही प्रतिपादन करती हैं।

---

१. ननु कथं शुद्धचैतन्यस्य विचारविषयत्वं यावता प्रागपि विचारात् तत्स्वप्रकाशं स्वयमेवावभासत इत्याशङ्क्य स्वरूपेणावभासमानत्वेऽपि परिपूर्णसच्चिदानन्दप्रत्यक्स्वरूपतयाज्ञायमानत्वाद् विषयत्वोपपत्ति-रित्यभिप्रेत्याह प्रमेयमिति। प्रमेयत्वमज्ञातत्वम्।

विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० ८२

२. परोक्षतः प्रसिद्धं ब्रह्मात्मवस्तूद्दिश्य—तत्स्वरूपसाक्षात्काराय विचार-प्रवृत्त्युपपत्तिरिति। तथा च श्रुतिः। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इत्यात्मसाक्षात्कारमनूद्य तादर्थ्येन मनन-निदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां सह श्रवणमनुष्ठेयं विधत्ते। स्मृतिरपि।

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥ इति।

विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० ८३

जिज्ञासु के आध्यात्मिक गुरु के समीप जाने की विधि

"अयमधिकारी जननमरणसंसारानलसन्तप्तो दीप्तशिरा जलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मु० उ०, १।२।१२) इत्यादिश्रुतेः। स परमकृपया अध्यारोपापवादन्यायेनैनमुपदिशति तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह (मु० उ० १।२।१३) इत्यादिश्रुतेः ॥५॥

यह (उपर्युक्त लक्षणों से सम्पन्न) अधिकारी जन्ममरणादि सांसारिक सन्तापों से सन्तप्त होकर, जिस प्रकार आतपादि की ऊष्मा से सन्तप्त शिर वाला व्यक्ति (सरोवरादि की) जल राशि की ओर अग्रसर होता है, उसी प्रकार हाथ में उपहार लेकर ब्रह्मनिष्ठ एवं वेदों का अध्ययन करने वाला (श्रोत्रिय) गुरु के समीप जाकर उनका (गुरु का) अनुसरण करता है। "समिधाएँ हाथ में लेकर श्रोत्रिय (वेदाध्यायी) ब्रह्मनिष्ठ के समीप जाता है।" (मु० १।२।१२) यह श्रुति भी यही प्रतिपादित करती है। गुरु परमकृपा करके अध्यारोपापवादन्याय से जिज्ञासु को ब्रह्मविद्या का उपदेश करते हैं—"परमतत्त्व के ज्ञाता गुरु ने समीप आये हुए शिष्य को आत्मतत्त्व का उपदेश दिया" (मु० उ० १।२।१३) यह श्रुति प्रमाण है।

विवेक

प्राचीनकाल में जिज्ञासु शिष्य का उपहारपाणि (हाथ में कुछ लेकर जाना) आवश्यक था। यह शिष्य की श्रद्धा का सूचक था। इसीलिए कहा गया है—

रिक्तहस्तेन नोपेयाद् राजानं देवतां गुरुम्।

(विक्रमचरित, ११५)

शङ्कराचार्य ने भी श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य में इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि ब्रह्मज्ञान का उपदेश ग्रहण करने के लिए जिज्ञासु को गुरु बनाना आवश्यक है—

......तेन कथं बन्धः कथं मोक्षः का विद्या का च अविद्या इति परिप्रश्नेन सेवया गुरुशुश्रूषया।

(श्रीमद्भगवद्गीता, शा० भा० ४।३४)

इसी तथ्य को महाभारत में भी स्पष्ट किया गया है। किन्तु वहां देवता का स्थान स्त्री को दिया गया है—

रिक्तपाणिर्न पश्येत राजानं ब्राह्मणं स्त्रियम् ।

(महाभारत, ७।७८८६)

ग्रन्थकार ने गुरु का लक्षण श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ बतलाया है। पाणिनि के 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' (५।२।८४) सूत्र के अनुसार वेदों का अध्येता श्रोत्रिय कहलाता है। श्रोत्रिय के सम्बन्ध में कहा है—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार श्रोत्रिय में निष्कामता एवं पापरहितता ये दो गुण और आते हैं—"यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः।"

ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति की आस्था ब्रह्म के अतिरिक्त अनात्म विषयों में नहीं होती। शङ्कराचार्य ने स्पष्ट किया है कि शास्त्र का ज्ञाता भी बिना श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा एवं उपदेश के ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि नहीं कर सकता।[1] छान्दोग्योपनिषद् में भी 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' (जिसका आचार्य अर्थात् गुरु है, वही पुरुष परम तत्त्व को जानता है) कहकर गुरु के महत्त्व को बतलाया गया है। जिज्ञासु का समित्पाणि होकर गुरु के समीप जाना उपलक्षण मात्र है। समिधाएँ लेकर गुरु के समीप जाने का उल्लेख इसलिए किया गया प्रतीत होता है कि समिधाएँ सामान्य रूप से सभी के लिए लेजाना सम्भव है। परन्तु अपने सामर्थ्य के अनुसार जिज्ञासु को गुरु की उपयोगिता को दृष्टि में रखकर उपहार ले जाना चाहिए, यही आशय है। इस प्रकरण में उद्धृत पूर्ण श्रुतिमन्त्र इस प्रकार है—

"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।"

(मु० उ० १।२।१२)

जिस 'अध्यारोपापवाद' न्याय का उल्लेख यहाँ ग्रन्थकार ने किया है वह अद्वैत सिद्धान्त का मूलमन्त्र है। इस न्याय में दो सिद्धान्त निहित हैं—एक अध्यारोप और दूसरा अपवाद। वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप है (वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः) ब्रह्मरूप वस्तु में जगत् अवस्तु है, जिस प्रकार

---

१. शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात् ।

शा० भा०, मु० उ० १।२।१२

शुक्ति एवं रज्जु आदि वस्तुओं में रजत एवं सर्प आदि अवस्तुरूप ही हैं। अध्यारोप के कारण द्रष्टा ब्रह्म में जगत् का आरोप करके ब्रह्म को जगत् ही समझ लेता है। यह वैसे ही है, जैसे कि भ्रान्तिवश द्रष्टा शुक्ति में रजत का आरोप करके शुक्ति को रजत समझ लेता है। इस प्रकार अवस्तु एवं अनात्म जगत्, रजत एवं सर्प आदि के भ्रम का कारण अध्यारोप है। भ्रम का कारण बतलाने के पश्चात् उसकी निवृत्ति का सिद्धान्त बतलाना भी वेदान्त के उपदेष्टा का प्रमुख कार्य है। यही ध्यान में रखकर सदानन्द ने अध्यारोप के साथ अपवाद को जोड़ा है। अपवाद से भ्रम के निराकरण का आशय है। 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' के लेखक अप्पयदीक्षित ने अपवाद के तीन भेद बतलाए हैं। ये भेद श्रौत अपवाद, यौक्तिक अपवाद एवं प्रत्यक्ष अपवाद हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' एवं 'नेह नानाऽस्ति किंचन' आदि श्रुति-वाक्यों द्वारा नानात्वमय प्रपञ्च का निराकरण श्रौत अपवाद के अन्तर्गत आता है। जब यह युक्ति दी जाती है कि जिस प्रकार कटककुण्डलादि की सत्ता अपने उपादानकारण सुवर्णादि से पृथक् नहीं है उसी प्रकार प्रपंचमय जगत् भी अपने कारण ब्रह्म से पृथक् नहीं है, तो यह यौक्तिक अपवाद कहलाता है।[1] रस्सी एवं सर्प के उदाहरण में अन्धकार के दूर होने पर रस्सी का प्रत्यक्ष होने पर 'यह रस्सी है, सर्प नहीं' इस प्रकार सर्प का अपवाद प्रत्यक्ष अपवाद है।

तस्मै स विद्वान् इत्यादि श्रुति के अन्तर्गत प्रयुक्त विद्वान् शब्द का अर्थ ब्रह्मवित् है, केवल शास्त्रनिष्णात नहीं। पूर्ण श्रुति-मन्त्र इस प्रकार है :—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् (मु० १।२।१२) ॥५॥

अध्यारोप

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादि सकलजडसमूहोऽवस्तु। अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत् किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" (श्वे० उ० १।३) इत्यादिश्रुतेश्च ॥६॥

असर्प-रूप (सर्प के अस्तित्व से रहित) रस्सी में सर्प के आरोप के समान

१. सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह पृ० ३५६-६० पर देखिए पादटिप्पणी। (अच्युतग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण)।

वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप है। वस्तु—सच्चिदानन्द स्वरूप, असीम एवं अद्वैत ब्रह्म है। अवस्तु—अज्ञान से लेकर समस्त जड़ प्रपञ्च है। अज्ञान सत् एवं असत् से अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधी, भावरूप एवं 'यत्किंचित्' (अनिर्वचनीय) रूप है, ऐसा (विद्वज्जन) 'मैं अज्ञानी हूँ' इस प्रकार के अनुभव के आधार पर कहते हैं। 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (परमात्मा की शक्ति अपने गुणों से आच्छन्न है) यह श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है।

विवेक

जिस रस्सी में सर्प का आरोप होता है, वस्तुतः वह सर्प नहीं है। द्रष्टा भ्रमवश पूर्वदृष्ट सर्प के संस्कारों के आधार पर रज्जु में सर्प का भ्रममूलक ज्ञान करता है।

वस्तु से यहां त्रिकालावाधित वस्तु से तात्पर्य है। इस प्रकार आत्मा वस्तु है। किन्तु रज्जु-सर्प के उदाहरण में रज्जु वस्तु है। यद्यपि रज्जु आत्मा के समान शाश्वत वस्तु नहीं है, परन्तु सर्प की अपेक्षा वह वस्तुरूप ही है। वस्तु में आरोपित अवस्तु है। अवस्तु अनात्म एवं मिथ्या होने के कारण अनिर्वचनीय है। वस्तु अधिष्ठान रूप है। अध्यास या आरोप के लिए अधिष्ठान का होना अनिवार्य है। तुच्छ से तुच्छ वस्तु का आरोप भी बिना अधिष्ठान के सम्भव नहीं है।[1] अतएव शङ्कराचार्य ने गीता भाष्य तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहा है—

नहि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरास्पदा भवन्ति।

(शा० भा० गीता, १३।१४)

न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति।

(ब्र० सू० शा० भा० १।१।१)

डॉ० राधाकृष्णन् ने एक अन्य प्रकार से अधिष्ठान की सत्ता को सिद्ध करते हुए कहा है कि यदि जगत् को निराधार स्वीकार किया जाएगा तो ब्रह्म की सत्ता भी सिद्ध न हो सकेगी।[2]

ग्रन्थकार ने अज्ञान के जिस सिद्धान्त का उल्लेख किया है, वह अद्वैत-वेदान्त का नितान्त उपादेय सिद्धान्त है। अज्ञान के सिद्धान्त के विना अद्वैत-वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अविद्या, माया, अव्यक्त, प्रकृति, अध्यास, आकाश एवं उपाधि अज्ञान के पर्यायवाची शब्द हैं। अज्ञान को वेदान्त में सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है।

---

१. अधिष्ठानसत्तातिरिक्ताया आरोपितसत्ताया अनङ्गीकारात्।

वेदान्त-परिभाषा १

2. If the world be regarded as baseles as not roo'ed in any reality, as having its origin in nonbeing, then we shall have to repudiate all reality, even that of Brahman. Radhakrishnan, Indian Philosophy Vol. II, p. 5[?]3,

अद्वैत वेदान्त के अनुसार परमार्थ सत् त्रिकालाबाधित स्वीकार किया गया है— 'सत्यत्वं बाधराहित्यम्' (पञ्चदशी, ३।२९) अज्ञान परमार्थ सत् नहीं हैं; क्योंकि ज्ञान होने पर अज्ञान की निवृत्ति निश्चित है। परन्तु इसके साथ-साथ अज्ञान सर्वथा असत् भी नहीं है। सर्वथा असत् (जिसकी सत्ता कभी सिद्ध न हो) अथवा त्रैकालिक असत् के उदाहरण वन्ध्यापुत्र एवं शशशृंग हैं, क्योंकि वन्ध्यापुत्र एवं शशशृंग की त्रैकालिक असत्ता देखी जाती है। अज्ञान वन्ध्यापुत्र एवं शशशृंग के समान सर्वथा असत् नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक रूप से अज्ञान की सत्ता देखी जाती है। जगत् के सम्बन्ध में सत्यता की भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला अज्ञान ही है। इसके अतिरिक्त 'मैं अज्ञानी हूँ' आदि अनुभव भी अज्ञान की व्यावहारिक सत्ता को सिद्ध करते हैं। इसी आधार पर सदानन्द ने सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अज्ञान को अनिर्वचनीय कहा है। शङ्कराचार्य ने भी सत्य एवं अनृत से विलक्षण होने के कारण ही जगत् को अनिर्वचनीय कहा है (नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये ब्र० सू० शा० भा०, १।१।५; २।१।१४)। विवेक चूडामणि के अन्तर्गत माया की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन करते हुए शङ्कराचार्य ने कहा है—

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो
महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा ॥

(वि० चू० १११)

अर्थात् माया न सत् है न असत् और न सदसत् उभयरूप; न भिन्न (सद् भिन्न) है, न अभिन्न (सद्भिन्न) और न उभय रूप; न अङ्ग सहित है, न अङ्गरहित और न उभयरूप। यह तो अत्यन्त अद्भुत एवं अनिर्वचनीयरूपा है।

अज्ञान को सदानन्द ने त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधी एवं भावात्मक कहा है। सत्त्व, रजस् एवं तमस् से विशिष्ट होने के कारण ही अज्ञान को त्रिगुणात्मक कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी माया की पर्यायवाची प्रकृति को श्वेत, लोहित एवं कृष्ण वर्णों से विशिष्ट कहकर अज्ञान की त्रिगुणात्मकता का ही संकेत किया है।[1] इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् में जो तेज का लोहित, जल का श्वेत एवं पृथ्वी का कृष्ण वर्ण बतलाया गया है[2] वह भी अज्ञान की

---

१. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
श्वेत उ० ४।५

२. यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्य।
छा० उ० ६।४१

त्रिगुणात्मकता का ही समर्थक है, क्योंकि शुक्लवर्ण सत्त्वगुण का, लोहित-वर्ण रजोगुण का एवं कृष्ण वर्ण तमोगुण का द्योतक है। सांख्यकारिका में भी उपनिषदों के उक्त दृष्टिकोण के आधार पर प्रकृति को त्रिगुणात्मक कहा गया है।[1]

अज्ञान को ज्ञानविरोधी कहना अद्वैतवेदान्त में जगत् के स्वरूप को स्पष्ट करने में नितान्त सहायक है। अज्ञान ज्ञान का विरोधी है, इसका अर्थ यह है कि जहाँ ज्ञान (परमार्थ ज्ञान) होगा वहाँ अज्ञान नहीं होगा। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि जहाँ अज्ञान होगा वहाँ ज्ञान नहीं होगा। यह अज्ञान ज्ञान द्वारा निवृत्ति को प्राप्त होता है। इससे यह आशय स्पष्ट है कि त्रिगुणात्मक अज्ञानकृत जगत् की सत्ता तभी तक है जब तक कि ज्ञान का उदय नहीं होता; ज्ञान का उदय होने पर तो सर्वत्र अद्वैत परमार्थ तत्त्व का ही बोध होता है।

अज्ञान को भावरूप कहकर वेदान्तसार के लेखक ने बौद्धों द्वारा प्रति-पादित जगत् की विज्ञानमात्रता एवं शून्यरूपता का निराकरण किया है।

अज्ञान को 'यत्किंचित्' कहकर भी वेदान्तसार के रचयिता ने अज्ञान की अभावरूपता का खण्डन किया है। अज्ञान को 'यत्किंचित्' (जो कुछ) कहने का सदानन्द का यही तात्पर्य है कि वह सदसद्विलक्षण आदि होते हुए भी नितान्त अभावरूप नहीं है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि सदानन्द अज्ञान को यत्किञ्चित् कहकर उसकी भावरूपता सिद्ध करके अज्ञान की जगत्कारणता को सिद्ध करना चाहते हैं, अन्यथा अभावरूप अज्ञान की जगत्कारणता कदापि सिद्ध नहीं होती। गीता के "नाऽसतो विद्यते भावः" सिद्धान्त के अनुसार अभाव रूप अज्ञान से व्यावहारिक सत् रूप जगत् की सृष्टि कैसे सम्भव होती। यह दृष्टि में रखकर ही यहाँ अज्ञान को 'यत् किञ्चित्' कहा गया है। अज्ञान की श्रुति एवं युक्ति के द्वारा सिद्धि होने पर उसे अनुभव की कसौटी पर भी सिद्ध किया गया है। 'अहमज्ञः' (मैं अज्ञानी हूँ) इस प्रकार का कथन अज्ञान की अनुभवरूपता का ही सङ्केत करता है।

'देवात्मशक्ति''—इस श्रुतिमन्त्र में मायी परमेश्वर एवं माया-शक्ति का उल्लेख किया गया है। परमेश्वर अधिष्ठान है। वही माया शक्ति के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है। पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

(श्वेता० उ०, १।३)

---

१. त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥
सांख्यकारिका, ११)।

माया शक्ति के कारण परमेश्वर मायावी है, किन्तु वह त्रिकाल में भी माया से स्पृष्ट नहीं होता, यह शाङ्कर अद्वैत का प्रमुख सिद्धान्त है—

यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिषु कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति।

(ब्र० सू० शा० भा०,२।१।९)

अज्ञान की समष्टि एवं व्यष्टि का निरूपण

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। तथाहि—यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः "अजामेकाम्" (श्वे० ४।५) इत्यादिश्रुतेः। इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात्" "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मु० १।१।९) इति श्रुतेः। ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात्कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरतएव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (ऋग्वेदः, ६।४७।१८) इत्यादिश्रुतेः। अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः। इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते, एकाज्ञानावभासकत्वात्। अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयाऽनतिप्रकाशकत्वात्। अस्यापीयमहंकारादिकारणत्वात्कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते ॥७॥

यह अज्ञान समष्टि एवं व्यष्टि के अभिप्राय से एक एवं अनेक रूप से व्यवहृत होता है। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार वृक्षों की समष्टि के अभिप्राय से 'वन' इस प्रकार एकत्व का व्यवहार होता है अथवा जलों की समष्टि के अभिप्राय से 'जलाशय' ऐसा व्यवहार होता है, उसी

प्रकार अनेक रूप से प्रतिभासित जीव-विषयक अज्ञानों की समष्टि के अभिप्राय से अज्ञान की एकता का व्यवहार होता है। इसमें 'अजामेकाम्' (प्रकृति अर्थात् माया अज एवं एक है) इत्यादि श्रुतिप्रमाण है। (अज्ञान) की यह समष्टि उत्कृष्ट उपाधि के कारण विशुद्ध-सत्त्वप्रधान है। अज्ञान की समष्टि से उपहित चैतन्य 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्' (जो सर्वज्ञ एवं सर्ववेत्ता है) इस श्रुति के आधार पर समस्त अज्ञान (अज्ञानजन्य प्रपञ्च) का अवभासक होने के कारण सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व एवं सर्व-नियन्तृत्व आदि गुणों से युक्त, अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत्कारण एवं ईश्वर नाम से व्यवहृत होता है। ईश्वर की यह अज्ञान-समष्टि समस्त प्रपञ्च का कारण होने से कारणशरीर आनन्द की प्रचुरता से एवं (ब्रह्म को) खोल के समान आच्छादित करने से आनन्दमयकोश एवं समस्त (स्थूल एवं सूक्ष्म प्रपञ्च) के विलय (उपरम) का आधार होने के कारण सुषुप्ति और इसीलिए स्थूल एवं सूक्ष्म प्रपञ्च के लय का स्थान कहलाती है। जिस प्रकार वन का व्यष्टि के आशय से 'अनेक वृक्ष' (वृक्षाः) ऐसा व्यवहार होता है, उसी प्रकार अज्ञान की व्यष्टि के अभिप्राय से उस अज्ञान की अनेकता का व्यवहार होता है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।'[1] (इन्द्र मायाओं अर्थात् कपटशक्तियों के कारण अनेक रूप वाला प्रतीत होता है) इत्यादि श्रुति इस सम्बन्ध में प्रमाण है। यहाँ (अज्ञान) की व्यष्टि एवं समष्टि का व्यवहार इसलिए किया गया है कि वह क्रम से व्यस्त (व्यक्ति) एवं समस्त (समूह) में व्याप्त है। (अज्ञान की) यह व्यष्टि निकृष्ट उपाधि होने के कारण मलिन सत्त्वप्रधान है। (व्यष्टिमूलक) अज्ञान की उपाधि से उपहित चैतन्य एक अज्ञान का अवभासक होने से अल्पज्ञत्व एवं अनीश्वरत्व आदि गुणों से युक्त 'प्राज्ञ' ऐसा कहलाता है। प्राज्ञ के प्राज्ञत्व का यह कारण है कि इसकी उपाधि अर्थात् व्यष्टिमूलक अज्ञान अस्पष्ट होने के कारण अत्यन्त प्रकाशकारक नहीं है। इस (प्राज्ञ) की यह अज्ञान की व्यष्टि भी अहङ्कार आदि का कारण होने से 'कारणशरीर' आनन्द की प्रचुरता से युक्त होने के कारण एवं खोल (कोश) के समान (ब्रह्म की) आच्छादक होने के कारण 'आनन्दमय कोश' एवं समस्त (स्थूल एवं सूक्ष्म) प्रपञ्च के विलय का आधार होने के कारण 'सुषुप्ति' और इसीलिए स्थूल और सूक्ष्म शरीर के प्रपञ्च का लयस्थान है, ऐसा भी कहलाती है।

विवेकः

इस स्थल पर श्रुति के आधार पर अज्ञान का निरूपण व्यष्टि एवं समष्टि

---

१. ऋग्वेदसंहिता, ६।४७।१८

के आधार पर किया गया है। व्यवहार में अज्ञान का यह भेद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि व्यवहार में प्रत्येक जीव से सम्बद्ध अज्ञान देखा जाता है। मूलतया अज्ञान एक ही है। शङ्कराचार्य ने भी अविद्या को एक ही कहा था—

अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः।[1]

अतः सदानन्द द्वारा व्यष्टि एवं समष्टि के आधार पर किया गया अज्ञान का विवेचन व्यावहारिक दृष्टि से भी ग्राह्य है। अज्ञान की समष्टि को (इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया) उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण ही विशुद्ध सत्त्वप्रधान कहा है। यहाँ पहले उपाधि का अर्थ समझना चाहिए।

उपाधि का लक्षण इस प्रकार है—

१. उप स्वसमीपवर्तिनि स्वधर्ममादधाति, इत्युपाधिः।
२. साध्यव्यापकत्वे साधनाव्यापकत्वमुपाधिः।
३. प्रयोजकश्चोपाधिः।

प्रथम लक्षण के अनुसार अज्ञान को उपाधि इसलिए कहा गया है कि अज्ञान अपने समीपवर्ती अर्थात् अधिष्ठान-रूप ब्रह्म में भी अपने धर्म का आरोप कर देता है। इस आरोप (अध्यारोप) का यह परिणाम होता है कि अज्ञानी जीव अधिष्ठान-रूप ब्रह्म का बोध न करके ब्रह्म में जगत् के धर्मों का आरोप करके जगत् का ही बोध करता है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार द्रष्टा भ्रम के कारण रज्जु में सर्प का आरोप कर लेता है। दूसरे लक्षण 'प्रयोजकश्चोपाधिः' के अनुसार भी जो शुक्ति आदि में रजतज्ञान का प्रयोजक है, वह उपाधि है। उपाधि का यह लक्षण भी अज्ञान के उपर्युक्त स्वरूप को ही स्पष्ट करता है। अज्ञान की समष्टि को उत्कृष्ट उपाधि कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर का उपाधिभूत समष्टिमूलक अज्ञान ईश्वर को आवृत नहीं करता जबकि निकृष्टोपाधि रूप व्यष्टिमूलक अज्ञान जीव को आच्छन्न कर लेता है, जिसका यह परिणाम होता है कि वह (जीवात्मा) अपने स्वरूप (ब्रह्म-स्वरूपता) का बोध नहीं कर पाता। लोक में भी कोई व्यक्ति अपने कर्मों से ही उत्कृष्ट एवं निकृष्ट होता है। व्यष्टिमूलक उपाधि का जीव को आच्छन्न करना निकृष्ट कार्य ही है। उपाधि की उत्कृष्टता एक और प्रकार से भी विचार्य है, वह यह कि समष्टिमूलक अज्ञान उत्कृष्ट अर्थात् ईश्वर की उपाधि

१. ब्र० सू० शा० भा० १।४।३

(उत्कृष्टस्योपाधिः) है और व्यष्टिमूलक अज्ञान निकृष्ट अर्थात् जीव की उपाधि (निकृष्टस्योपाधिः) है। चैतन्य की ज्ञानस्वरूपता समष्टिमूलक अज्ञान की उपाधि से अबाधित है, इस सम्बन्ध में स्वामी रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरंजनी के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से लिखा है—

उत्कृष्टस्योपाध्यन्तराननुरक्ततयाप्रतिहतज्ञानात्मकस्य चैतन्यस्य ।

(विद्वन्मनोरंजनी, पृ० ६३)

अत एव नृसिह सरस्वती ने अपनी सुबोधिनी टीका के अन्तर्गत जीवों के निकृष्ट अन्तःकरणों से सम्बन्धित व्यष्टिमूलक की अपेक्षा समष्टिमूलक उपाधि की उत्कृष्टता बतलाते हुए कहा है—

नानाजीवगतनिकृष्टान्तःकरणव्यष्ट्युपाध्यपेक्षया समष्ट्युपाधेरस्य वैलक्षण्यं दर्शयति[1] ।

समष्टिमूलक उपाधि को विशुद्ध-सत्त्व-प्रधान इसलिए कहा है कि उसमें विशुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है। विशुद्धता का आशय यह है कि सत्त्व-गुण जो प्रधान होता है, वह रजस् और तमस् से अभिभूत नहीं होता।[2]

अज्ञान की समष्टि से उपहित चैतन्य को सर्वज्ञ इसीलिए कहा है कि वह समस्त चराचर प्रपञ्च का साक्षी होने के कारण सर्वज्ञ है (यः सर्वज्ञः सर्ववित्, मु० १।१।९)। वह ईश्वर इसीलिए है कि समस्त जीवों को कर्मानुरूप फल प्रदान करता है। ईश्वर चैतन्य का सर्वनियन्तृत्व इसलिए है कि वह समस्त जीवों के हृदय में स्थित होकर[3] बुद्धि का नियामक है। इसीलिए वह अन्तर्यामी भी कहा जाता है।[4] अज्ञान की समष्टि से उपहित ईश्वरचैतन्य को जगत्कारण इसलिए कहा गया है कि वह अधिष्ठान होने के कारण जगत् का कारण है।

वेदान्त में ईश्वर की उपाधिभूत अज्ञान की समष्टि एवं जीव की उपाधिभूत अज्ञान की व्यष्टि को कारणशरीर, आनन्दमयकोश एवं सुषुप्ति कहा

---

१. नृसिह सरस्वती, सुबोधिनी, पृ० ९, वेदान्तसार (कर्नल जी० ए० जैकब द्वारा सम्पादित १८९३)

२. विशुद्धं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा तथाविधेयं समष्टिरित्यर्थः ।

रामतीर्थ, विद्वन्मनोरंजनी, पृ० ६३

३. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

गीता १८।६१

४. एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।

बृहदारण्यक उ० ३।७।३

है। यहाँ पहले ईश्वर के उपाधिभूत अज्ञान के समष्टि का स्वरूप विचार्य है। वेदान्त में कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर एवं स्थूल शरीर के भेद से तीन प्रकार का शरीर माना गया है। इसके साथ ही साथ सुषुप्ति, जाग्रत् एवं स्वप्न ये तीन अवस्थाएँ एव आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय ये पञ्चकोश स्वीकार किए गए हैं। ईश्वरचैतन्यविषयक समष्टिमूलक अज्ञान, सुषुप्ति अवस्था में कारणशरीर एवं आनन्दमयकोश कहलाता है। इस समष्टिमूलक अज्ञान की सुषुप्ति अवस्था प्रलयावस्था है। इस प्रलय की अवस्था को सुषुप्ति इसलिए कहा है कि जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में जाग्रत् एवं स्वप्नकाल के स्थूल एवं सूक्ष्म प्रपञ्च का लय हो जाता है, उसी प्रकार प्रलय दशा में भी समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म प्रपञ्च का लय हो जाता है। ईश्वर-चैतन्यविषयक समष्टिमूलक अज्ञान को कारण-शरीर इसलिए कहा है कि वह सम्पूर्ण प्रपञ्च की उत्पत्ति का कारण होता होता है। ईश्वरचैतन्यविषयक अज्ञान को आनन्दमयकोश इसलिए कहा जाता है कि कारणावस्था में स्थूल एवं सूक्ष्म प्रपञ्च के न रहने से आनन्द की बहुलता रहती है। प्रस्तुत स्थल पर ईश्वरचैतन्यविषयक अज्ञान की समष्टि की सुषुप्ति अवस्था, कारणशरीर एवं आनन्दमयकोश से यही तात्पर्य है। जहाँ तक अज्ञान की समष्टि के इतर शरीरों, अवस्थाओं एवं कोशों का प्रश्न है, स्वप्नावस्था में उक्त अज्ञान सूक्ष्म शरीर एवं विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राण-मयकोश के रूप में स्थित है। ईश्वरचैतन्यविषयक समष्टिमूलक अज्ञान की स्वप्नावस्था वह है जिसमें अपञ्चीकृत अर्थात् सूक्ष्म भूतों की दृष्टि के परिणाम-स्वरूप सूक्ष्म शरीर उत्पन्न हो जाते हैं। स्वप्नावस्था में वर्तमान ईश्वर-चैतन्य को ही हिरण्यगर्भ एवं सूत्रात्मा कहते हैं। ईश्वरचैतन्यविषयक अज्ञान की समष्टि की वह जाग्रत् अवस्था है जिसमें पञ्चीकृत स्थूल भूतों के कार्यरूप स्थूल प्रपञ्च की सृष्टि होती है। इस अवस्था में प्रपञ्च की सृष्टि होने के कारण ही इसे स्थूल शरीर एवं अन्नमय कोश कहते हैं।

अज्ञान की व्यष्टिरूपता का प्रतिपादन करते समय वेदान्तसार के रचयिता ने 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इस श्रुति को उद्धृत किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त श्रुति में माया शब्द का प्रयोग शंकराचार्यप्रभृति वेदान्तियों द्वारा प्रयुक्त माया शब्द के अनिर्वचनीयत्वसम्पन्न मिथ्यात्व के अर्थ को स्पष्ट नहीं करता। अतः निश्चय ही इस स्थल पर माया शब्द का अर्थ शाङ्कर वेदान्त में प्रयुक्त माया के अर्थ से भिन्न है।

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं अज्ञान की व्यष्टि में निकृष्टोपाधि इसलिए

कहा जा सकता है कि वह जीव के स्वरूप (शुद्धचैतन्य) को आच्छन्न किये रहती है और दूसरे इसलिए कि वह ईश्वर की अपेक्षा निकृष्ट जीव की उपाधि है। अज्ञान की व्यष्टि की मलिनसत्त्वप्रधानता का कारण यह है कि इसमें सत्त्व, रजस् एवं तमस् से अभिभूत होकर मलिन रहता है तथा रजस् एवं तमस् की ही प्रधानता रहती है। अज्ञान की व्यष्टि से उपहित जीव को प्राज्ञ कहा है। प्राज्ञ सुषुप्ति अवस्था में वर्तमान जीव है। जाग्रत् अवस्था में वर्तमान जीव विश्व एवं स्वप्न अवस्था में वर्तमान जीव तैजस कहलाता है। इस सन्दर्भ में प्राज्ञ शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विचार अपेक्षित है। प्राज्ञ शब्द के निम्नलिखित प्रमुख अर्थ मिलते हैं :

(१) प्रकर्षेण जानाति, इति प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राज्ञ का अर्थ होगा जो प्रकर्ष रूप से जानता है। हिरिन्ना ने उक्त अर्थ का निर्देश करते हुए भी 'प्रायेण अज्ञः' इस व्युत्पत्ति को ही ग्राह्य बतलाते हुए कहा है :

It would be better to understand the term here as प्रायेण अज्ञः

(Hiriyanna, Vedāntasāra, Notes p. 26)

(२) शङ्कराचार्य ने प्राज्ञ के दो अर्थ किए हैं—एक तो यह कि भूत एवं भविष्यत् तथा समस्त विषयों का ज्ञाता प्राज्ञ है और दूसरा यह कि केवल प्रज्ञप्ति (ज्ञानमात्र) इसी का असाधारण रूप है, इसलिए इसकी प्राज्ञता है।[1]

(३) स्वामी रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरंजनी के अन्तर्गत प्राज्ञ शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—

प्रायेणाज्ञः प्राज्ञ इत्युक्तं भवति[2]।

इस प्रकार विद्वन्मनोरंजनीकार के अनुसार प्राज्ञ शब्द का अर्थ प्रायः अज्ञ है। यहाँ अल्पज्ञ एवं अनीश्वर जीव के सम्बन्ध में स्वामी रामतीर्थ का अर्थ ही समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि जीव मलिन-सत्त्वप्रधान अज्ञान की उपाधि से उपहित होने से प्रायः अज्ञ ही होता है। शङ्कराचार्य द्वारा प्रदत्त प्रथम अर्थ ईश्वर के विषय में ही संगत हो सकता है, क्योंकि वही भूत, भविष्यत् एवं समस्त

---

१. भूतभविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञानत्वमस्यैवेति प्राज्ञः...। अथवा प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासाधारणरूपमिति प्राज्ञः।

शाङ्करभाष्य, माण्डूक्योपनिषद्, ६।

२. विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० ६४

विषयों का ज्ञाता है न कि जीव। शङ्कराचार्य द्वारा प्रदत्त दूसरा प्रज्ञप्ति-मात्रता का अर्थ रामतीर्थ के अर्थ का विरोधी न होकर समर्थक ही है।

प्राज्ञ की अल्पज्ञता में एकाज्ञानावभासकत्वात् (एक अज्ञान का प्रकाशक होना) हेतु दिया गया है। इसका यह आशय है कि व्यष्टिमूलक अज्ञान समष्टि के एक अंश (व्यष्टि में वर्तमान) को ही प्रकाशित करता है। उक्त हेतु के सम्बन्ध में नृसिंह सरस्वती का कथन है कि ईश्वरविषयक मूल अज्ञान एवं जीवगत अहंकारादि विक्षेपरूप संस्कारमूलक अज्ञान वस्तुतः एक ही हैं और उनके अवभासक ईश्वरचैतन्य एवं जीवचैतन्य वस्तुतः एक ही हैं—

ईश्वरगतमूलाज्ञानस्य जीवगताहङ्कारादिविक्षेपसंस्कारादिरूपाज्ञानस्य च वस्तुत एकत्वेन तदवभासकेश्वरजीवचैतन्ययोश्चैकत्वमित्यर्थः।

(सुबोधिनी, पृ० १०)

प्राज्ञ की अनतिप्रकाशता में अस्पष्टोपाधिता का हेतु प्रदर्शित करते हुए यह तर्क दिया गया है कि अज्ञान की व्यष्टि मलिन-सत्त्वप्रधान होने के कारण रजस् एवं तमस् से अभिभूत होने से सत्त्व गुण द्वारा प्रकाश्य (सत्त्वं लघु प्रकाशकम्, सां० का० १३) सांसारिक विषयों को प्रभावित करने में असमर्थ होती है, इसीलिए अज्ञान की व्यष्टि से उपहित जीव चैतन्य को अल्पज्ञ कहा गया है। अतएव स्वामी रामतीर्थ ने कहा है—

अस्य जीवस्यास्पष्टोपाधितया रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्वप्रधानव्यष्टयज्ञानोपाधिकत्वेन हेतुनातिप्रकाशकत्वाभावात् प्राज्ञशब्दवाच्यत्वमित्यर्थः।[1]

ईश्वर की अज्ञान की समष्टि के सदृश ही प्राज्ञ की अज्ञानव्यष्टि भी कारणशरीर, आनन्दमयकोश एवं सुषुप्ति कहलाती है। सुषुप्ति अवस्था में व्यष्टिरूप अज्ञान कारणशरीर इसलिये कहलाता है कि वह सुषुप्ति अवस्था में अहङ्कारादि का उत्पादक होता है। सुषुप्तिकालीन अज्ञान की व्यष्टि को आनन्दमय इसलिए कहा जाता है कि उस समय इन्द्रियों एवं उनके विषयों की स्थिति न होने के कारण आनन्द की प्रचुरता रहती है। जैसा कि कह चुके हैं सुषुप्ति में यह व्यष्टि प्राज्ञ चैतन्य को खोल की तरह आच्छादित किए रहती है, इसीलिए यह आनन्दमयकोश कहलाती है। इसे सुषुप्ति इसलिए कहते हैं कि इस अवस्था में, समस्त पञ्चीकृत स्थूलप्रपञ्च रूप जाग्रत्

---

१. विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० ६४

अवस्था की व्यावहारिक सत्ता का लय अपञ्चीकृत सूक्ष्म-शरीररूप स्वप्नावस्था में वर्तमान प्रातिभासिक सत्ता में हो जाता है और उस स्वाप्नकालिक प्रातिभासिक सत्ता का लय अपने कारणरूप अज्ञान में हो जाता है, यही सर्वोपरम है। इसी तथ्य को नृसिंहसरस्वती ने सुबोधिनी के अन्तर्गत इस प्रकार स्पष्ट किया है—

पञ्चीकृतस्थूलशरीरस्य व्यावहारिकस्यापञ्चीकृतसूक्ष्मशरीरे प्रातिभासिके प्रविलापितत्वात्तस्यापि प्रातिभासिकस्य स्वाप्नप्रपञ्चस्य स्वकारणेऽज्ञाने लीनत्वात् सर्वोपरतिरित्यर्थः। (पृ० ११)

उक्त तथ्य को 'वाक्य सुधा' में स्पष्ट करते हुए इस प्रकार कहा गया है—

लये फेनस्य तद् धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरङ्गके।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा॥
व्यावहारिकजीवस्य लयः स्यात् प्रातिभासिके।
तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि॥

(वाक्यसुधा, ४६, ४७)

अर्थात् जब जल में फेन घुलमिल जाता है तो उसका द्रवत्वरूप अंश तरङ्गों में लगा रह जाता है, किन्तु जब फेन का समस्त अंश जल में घुल जाता है तो पूर्ववत् जलीय अंश ज्यों-का-त्यों रह जाता है। उसी प्रकार पहले व्यावहारिक जीव का लय प्रातिभासिक में होता है और फिर प्रातिभासिक के लय होने पर शुद्ध चैतन्यांश भाग अवशिष्ट रह जाता है।

अब यहाँ ईश्वर एवं प्राज्ञ-जीव की प्रलय एवं सुषुप्ति की अनुभूति के सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

प्रलय एवं सुषुप्ति अवस्था में ईश्वर तथा प्राज्ञ की अनुभूति की स्थिति का निरूपण

तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवत 'आनन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञः (मा० उ० ५) इति श्रुतेः' सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमित्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च। अनयोः समष्टिव्यष्टचोर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाऽभेदः। एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाऽभेद 'एष सर्वेश्वर (मा० उ० ६)' इत्यादिश्रुतेः॥८॥

उस समय अर्थात् प्रलय एवं सुषुप्ति अवस्था में क्रमशः ईश्वर एवं प्राज्ञ (जीव) चैतन्य से प्रदीप्त उत्पन्न सूक्ष्म अज्ञान की वृत्तियों से आनन्द का अनुभव करते हैं। 'आनन्दभुक्चेतोमुख प्राज्ञः' (चेतोमुख जीव आनन्द का अनुभव करता है) यह श्रुति (उक्त तथ्य के समर्थन में) प्रमाण है। 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' (मैं सुखपूर्वक सोया, मुझे कुछ ज्ञान नहीं है) इस प्रकार सुषुप्ति से उठने के पश्चात् सुखानुभव का परामर्श (स्मरणानुभव) होने से उक्त कथन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इन (अज्ञान की) समष्टि एवं व्यष्टि में उसी प्रकार अभेद है जिस प्रकार कि वन एवं वृक्ष अथवा जलाशय एवं जल में अभेद है। इस (अज्ञान की समष्टि एवं व्यष्टि) से उपहित ईश्वर एवं प्राज्ञ अर्थात् जीव में भी उसी प्रकार अभेद है जिस प्रकार कि वन से अवच्छिन्न आकाश में अभेद है या जलाशय एवं जल में प्रतिविम्बित आकाश में अभेद है। 'एष सर्वेश्वरः' (यह आत्मा सबका स्वामी है) इत्यादि श्रुति (उक्त कथन की पुष्टि में) प्रमाण है।

विवेकः

जिस प्रकार प्रलयवर्ती एवं सुषुप्तिवर्ती अज्ञान वस्तुतः एक ही है, भेद समष्टि एवं व्यष्टिपरक है, उसी प्रकार अज्ञान की समष्टि से उपहित ईश्वर एवं व्यष्टि से उपहित प्राज्ञ अर्थात् जीव में भी क्रमशः प्रलय एवं सुषुप्ति अवस्था में अभेद ही है, भेद समष्टि एवं व्यष्टि के ही कारण है। दोनों की प्रलयकालीन एवं सुषुप्तिकालीन समानता का प्रतिपादन करते हुए प्रलय एवं सुषुप्ति अवस्था में दोनों के आनन्दभोक्तृत्व को सिद्ध करते हुए 'आनन्दभुक्चेतोमुखः' (मा० उ० ५) इस श्रुति एवं 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इस अनुभूति-रूप युक्ति को उद्धृत किया है। दोनों की अभेदता का प्रतिपादन करते हुए सदानन्द का कथन है कि ईश्वर एवं जीव दोनों ही प्रलय एवं सुषुप्ति में आनन्दभोक्ता भी हैं। यहाँ यह आक्षेप स्वाभाविक है कि प्रलय एवं सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न अवस्थाओं के विपरीत ईश्वर एवं प्राज्ञ में अन्तःकरण की वृत्ति का अभाव होने के कारण[1] ईश्वर एवं प्राज्ञ आनन्द का अनुभव किस प्रकार कर सकते हैं, जबकि दुःख एवं सुख दोनों के ही भोग के लिए अन्तःकरण की अज्ञान वृत्ति की नितान्त अपेक्षा है। इस आक्षेप का

---

१. अन्तःकरण की वृत्ति का अभाव इसलिए कहा जाता है कि अन्तःकरण अज्ञान से निर्मित होता है किन्तु प्रलय एवं सुषुप्ति में अज्ञान की स्थिति नहीं रहती।

समाधान करते हुए उक्त स्थल पर कहा गया है कि प्रलय एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में अज्ञान तो शेष नहीं रहता, किन्तु अज्ञान की सूक्ष्मवृत्ति अर्थात् संस्कार शेष रहते हैं,[1] उन्हीं के माध्यम से ईश्वर एवं प्राज्ञ आनन्द का अनुभव करते हैं। प्राज्ञ आनन्द का अनुभव करता है, इसका प्रमाण 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह परामर्श और अज्ञान की सूक्ष्मवृत्तियां शेष रहती हैं, इसका प्रमाण 'न किञ्चिदवेदिषम्' यह परामर्श है।

अज्ञान की सूक्ष्मवृत्तियों द्वारा जो कि जड़ हैं, किस प्रकार आनन्द का अनुभव होता है, यह शङ्का स्वाभाविक है। किन्तु इसका समाधान यह है कि अज्ञान की सूक्ष्म वृत्तियां चित् के प्रतिबिम्ब से युक्त होती हैं, इसीलिये ये आनन्दभोग में सक्षम हैं। निम्नोद्धृत श्रुतिमन्त्र में उक्त तथ्य का स्पष्टीकरण देखा जा सकता है—

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुख प्राज्ञस्तृतीयः पादः।

(माण्डूक्योपनिषद्—५)

माण्डूक्योपनिषद् पर दीपिकालेखक शंकरानन्द ने 'चेतोमुख' का अर्थ करते हुए कहा है—

चेतोमुखश्चेतः आत्मस्वरूपबोधः स एवाऽऽवरणशक्तिसहितो मुखे यस्य स चेतोमुखः प्राज्ञः (माण्डूक्योपनिषद् दीपिका, पृ० ३६९)

शंकरानन्द के उपर्युक्त कथन के अनुसार प्राज्ञ आत्मस्वरूपबोधसम्पन्न होते हुए भी अज्ञान की आवरण-शक्ति से युक्त होता है। रामतीर्थ ने 'चेतोमुखः' का अर्थ चैतन्य से दीप्त अज्ञानवृत्तिप्रधान किया है।[2]

इस प्रकार समष्टिमूलक अज्ञान एवं व्यष्टिमूलक अज्ञान से उपहित ईश्वर एवं प्राज्ञ अर्थात् जीव के स्वरूपैक्य का प्रतिपादन करते हुए वनावच्छिन्न आकाश एवं वृक्षावच्छिन्नाकाश तथा जलाशयगत आकाशप्रतिबिम्ब एवं जलगत आकाश-प्रतिबिम्ब की अभेदता के दृष्टान्त दिए हैं। वस्तुतः जिस प्रकार जलाशय एवं जल की उपाधियों के कारण ही आकाशप्रतिबिम्ब का भेद है, उसी प्रकार उपाधि के कारण ही ईश्वर एवं प्राज्ञ का भेद है। उपाधि के कारण ही

१. तथा च वृत्तिविनाशात्तद्विशिष्टचैतन्यस्यापि विनाशात् संस्कारजन्यं स्मरणमवस्थान्तरे सम्भवति।

—रामतीर्थ, विद्वन्मनोरंजनी, पृ० ९४

२. चेतोमुखः चैतन्यद्युज्ञानवृत्तिप्रधानः।

—विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० ९४

ईश्वर कारणोपाधि एवं जीव कार्योपाधिरूप है। यही तथ्य 'अनुभूतिप्रकाश' में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है :—

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥

(अनुभूतिप्रकाश, २०।६१।)

जीव और ब्रह्म के स्वरूपैक्य का प्रतिपादन करते हुए सदानन्द ने 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभावाप्ययौ हि भूतानाम्'[1]। श्रुति को उद्धृत किया है, जिसके अनुसार प्राज्ञ अर्थात् जीव ही सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी एवं समस्त संसार के प्राणियों की उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण है।

अब इस स्थान पर तुरीय-चैतन्य का निरूपण किया जायेगा।

तुरीय-चैतन्य का निरूपण

वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाऽऽधारभूतानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते। 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' (मा० उ० ७) इत्यादि-श्रुतेः। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते ॥६॥

जिस प्रकार वन से अवच्छिन्न आकाश एवं जलाशय तथा जलगत प्रतिबिम्बाकाश का आधारभूत अनुपहित वन-वृक्ष आदि उपाधिरहित आकाश की तरह अज्ञान (अज्ञान की समष्टि एवं व्यष्टि) और उससे उपहित चैतन्य-अर्थात् ईश्वर एवं प्राज्ञ चैतन्यों का आधारभूत जो अज्ञान की उपाधि से रहित अत एव अनुपहित चैतन्य, वह तुरीय, ऐसा कहलाता है। "शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते" (विद्वज्जन) शिव, अद्वैत और तुरीय मानते हैं। यह श्रुति (इस

1. माण्डूक्योपनिषद्, ६

सम्बन्ध में) प्रमाण है। यही तुरीय शुद्ध-चैतन्य अज्ञानादि और उससे उपहित चैतन्य-संतप्त लोहपिण्ड (लोहे का गोला) के समान पृथक् प्रतीत न होता हुआ तत्त्वमसि इस महावाक्य का वाच्य (वाच्यार्थ) कहलाता है और पृथक् प्रतीत होता हुआ लक्ष्य (लक्ष्यार्थ) कहलाता है।

विवेक

यहाँ ईश्वर एवं जीवचैतन्य की अद्वैतता का प्रतिपादन करते हुए इन दोनों के आधार के रूप में अनुपहित चैतन्य अर्थात् तुरीयचैतन्य का उल्लेख किया है। प्राज्ञ (जीव) एवं ईश्वर के आधारभूत चैतन्य का प्रतिपादन करने के लिए सोपाधिक आकाश, वनावच्छिन्न आकाश एवं वृक्षावच्छिन्न आकाश तथा जलाशय एवं जलगत प्रतिविम्वाकाश तथा निरुपाधिक आकाश के दृष्टान्त दिये हैं। इस दृष्टान्त का आशय यही है कि जिस प्रकार उपर्युक्त वन आदि उपाधियों से उपहित वनावच्छिन्न आदि सभी आकाशों का मूलाधार एक ही आकाश है, उसी प्रकार अज्ञान की व्यष्टि से उपहित प्राज्ञ एवं समष्टि से उपहित ईश्वर में भी उपाधि के कारण ही भेद है, वस्तुतः दोनों एक ही हैं। यही वात पञ्चदशी के लेखक विद्यारण्य ने इस प्रकार कही है—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।

शाङ्कर वेदान्त की 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' आदि उक्तियां भी जीव एव ब्रह्म की अद्वैतता का ही निरूपण करती हैं। सदानन्द ने अनुपहित चैतन्य को तुरीय कहा है। अतः तुरीय का स्वरूप विचारणीय है। वेदान्त-दर्शन में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय के रूप में चार अवस्थायें वतलाई गई हैं। जाग्रत् अवस्था में जीव लौकिक जगत् के व्यवहारों का तथा स्वप्नावस्था में स्वप्नकाल के विषयों का अनुभव करता है। स्वप्नावस्था में जाग्रत् के विषयों का प्रत्यक्ष नहीं होता; स्वप्न में तो विषयों की स्थिति मानसिक ही होती है। सुषुप्ति अवस्था उक्त दोनों से भिन्न है, इसमें स्वप्नावस्था की तरह जीव जागतिक विषयों का स्वाप्निक अनुभव नहीं करता। सुषुप्ति अवस्था उस गहरी नींद का नाम है, जिसमें व्यक्ति कोई स्वप्न नहीं देखता, परन्तु जिससे उठने के वाद 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' के रूप में सुख का अनुभव तो करता है, परन्तु उसे सुषुप्ति अवस्था का कुछ भी स्मरण नहीं रहता। चतुर्थावस्था तुरीयावस्था है। यह अवस्था ब्रह्मवोध की स्थिति है। इस स्थिति में शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्ममात्र की स्थिति रहती है। इस स्थिति में अज्ञान का

लेश भी नहीं रहता। अतः अज्ञान के शेष न होने के कारण अज्ञानजन्य अन्तः-करण के समस्त अनुभव भी समाप्त हो जाते हैं।

माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा को 'चतुष्पात्' कहते हुए जाग्रत् आदि अवस्थाओं का वर्णन किया है। आत्मा का प्रथम पाद 'वैश्वानर' रूप है। यह स्थूल जगत् का भोक्ता है अतएव बहिःप्रज्ञ है। इसे माण्डूक्योपनिषद् में—उन्नीस मुख वाला कहा है। इसके उन्नीस मुख—५ ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, त्वक्, घ्राण, श्रवण, रसना), ५ कर्मेन्द्रियां (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), पञ्च प्राण (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान) तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त हैं। द्वितीय पाद-प्रविविक्तभुक् एवं तैजस है। यह स्वप्नावस्थावर्ती है। स्वप्नावस्था में जाग्रत् के विषयों की सत्ता न होने के कारण केवल बाह्य विषयों की वासनारूप प्रज्ञा ही भोग्य होती है, इसीलिए इसे प्रविविक्तभुक् कहते हैं। इस द्वितीय पाद को अन्तःप्रज्ञ भी कहते हैं। आत्मा का तृतीय पाद 'प्राज्ञ' सुषुप्तिस्थानवर्ती प्रज्ञानघन एवं आनन्दमय है। यह 'प्राज्ञ' सुषुप्ति में न स्वप्न देखता है और न कोई कामना करता है। जिस प्रकार रात्रि में अन्धकार के कारण समस्त जगत् अविभक्त होने के कारण घनसदृश होता है, उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्थाओं के समस्त अनुभव घनीभूत हो जाते हैं, इसीलिए इसे प्रज्ञानघन कहते हैं। यह तृतीय पाद सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी एवं सृष्टि तथा प्रलय का कारण है। आत्मा का चतुर्थ पाद आत्मा है, यही तुरीय है। ग्रन्थकार ने इसी के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' यह श्रुत्यंश उद्धृत किया है, जो पूर्ण इस प्रकार है—

"नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।"

(माण्डूक्योपनिषद् ७)

(तुरीयावस्थावर्ती) यह चतुर्थपाद न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ, न दोनों, न प्रज्ञानघन, न प्रज्ञ और न अप्रज्ञ। यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा अदृष्ट, वचनादि द्वारा अव्यवहार्य, अग्राह्य, गन्धवत्त्वादि लक्षणों से अबोध्य, अन्तःकरण द्वारा अचिन्त्य, पृथिवी आदि तत्त्वों की तरह व्यपदेश का अविषय आत्मबोध स्वरूप, प्रपञ्चाभावरूप, शान्त, शिव, अद्वैत एवं चतुर्थ अर्थात् तुरीय है, वह आत्मा है, वह जानने के योग्य है। यहाँ 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इस श्रुत्यंश के अन्तर्गत यद्यपि तुरीय को चतुर्थ कहा है, परन्तु तुरीय को चतुर्थ कहना जाग्रदादि की

अपेक्षा से ही है। वस्तुतः वह संख्यातीत है।[1] उसको 'चतुष्पाद्' कहना भी अविद्या के ही कारण है। ग्रन्थकार तुरीय शुद्धचैतन्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि वह (तुरीयशुद्धचैतन्य) 'तत्त्वमसि' (छां० उप० ६।८।७) का वाच्यार्थ भी है और लक्ष्यार्थ भी। वाच्यार्थ इस प्रकार है कि तत्त्वमसि का वाच्यार्थ—'वह शुद्धचैतन्य तुम जीव हो' 'त्वम् पद से बोध्य जीव एवं तत् पद से बोध्य शुद्धचैतन्य के अद्वैतभाव का बोध कराता है। इस प्रकार तुरीय शुद्ध-चैतन्य का बोध (तत्त्वमसि) इस महावाक्य के वाच्यार्थ से ही सिद्ध हो जाता है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने 'तप्तायःपिण्ड' का दृष्टान्त दिया है। 'तप्तायपिण्ड' का वाच्यार्थ है—अग्नि से सन्तप्त लोहे का गोला। इस वाच्यार्थ से अग्नि और उससे सन्तप्त लोहे के गोले में अभेदता का बोध होता है, इसी प्रकार जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'तत्त्वमसि' के वाच्यार्थ 'वह तुम हो, द्वारा भी अद्वैत का बोध होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ द्वारा 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में अभेदविवक्षा स्पष्ट है। अब लक्ष्यार्थ की प्रक्रिया से 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य द्वारा तुरीय शुद्धचैतन्य के बोध को लीजिए। लक्षणा के सम्बन्ध में काव्यप्रकाशकार का कथन है कि मुख्यार्थ का बाध होने पर, रूढ़ि के कारण अथवा किसी अन्य प्रयोजन से, मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति के द्वारा हो वह लक्षणा कहलाती है।[2]

उदाहरणार्थ 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गा में घोष है) इस उदाहरण के अन्तर्गत गङ्गा पद के मुख्यार्थ का बाध होकर उस (गङ्गापद के मुख्यार्थ) से सम्बद्ध तटरूप अर्थ का बोध शैत्यपावनत्व के प्रयोजन से लक्षणा शक्ति द्वारा होता है। यहाँ गङ्गा एवं तट की भेदविवक्षा स्पष्ट है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' का वाच्यार्थ 'वह (ब्रह्म) तुम (जीव) हो, भी बाधित होता है, क्योंकि जीव एवं शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म में ऐक्य कैसे हो सकता है; जीव तो अल्पज्ञ है और शुद्ध चैतन्य सर्वज्ञ है। इस प्रकार वाच्यार्थ के बाधित होने पर लक्षणा शक्ति से मुख्यार्थ से सम्बन्धित इस लक्ष्य अर्थ का बोध होता है कि अज्ञानोपाधि से उपहित जीव वस्तुतः शुद्ध चैतन्य ही है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि अग्नि से तप्त लौहपिण्ड से यदि किसी व्यक्ति का अंग जल जाय और वह

---

१. वस्तुनस्त्वतुरीयरूपोऽप्यविद्यया चतुष्पात्......।

आनन्दगिरि की टीका, माण्डूक्योपनिषत् ७

२. मुख्यार्थबाधे तद्योगेरूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।

काव्यप्रकाश, २।१२)

कहे कि 'अयो दहति' (लोहा जलाता है) तो यहाँ इसके वाच्यार्थ—'लोहा जलाता है' का बाध होगा, क्योंकि लोहे में जलाने का सामर्थ्य नहीं है । अतः यहाँ लक्ष्यार्थ होगा कि अग्नि से तप्त लौहपिण्ड जलाता है । इस प्रकार 'अयो दहति' इस उदाहरण में लौहपिण्ड से लक्षणा शक्ति के द्वारा लौहपिण्ड से सम्वद्ध अग्नि का बोध होता है । इस प्रकार ग्रन्थकार ने वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ की बोधक अभिधा एवं लक्षणा शक्ति के द्वारा तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से तुरीयचैतन्य के बोध की प्रक्रिया स्पष्ट की है ।

यहाँ अज्ञान की आवरण एवं विक्षेप शक्तियों के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

अज्ञान की आवरण एवं विक्षेप शक्तियाँ

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम् । आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम् ।

तदुक्तम्—

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं
यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः ।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ।।

(हस्तामलकम्, १०)

अनयैवावरणाशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्व-सुख-दुःख मोहात्मकतुच्छसंसारभावनाऽपि सम्भाव्यते यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना ।

विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति, तादृशं सामर्थ्यम् । तदुक्तम्—

"विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्" इति ।।

वाक्यसुधा १३ ।।१०।।)

इस अज्ञान की आवरण और विक्षेप दो शक्तियाँ हैं । आवरणशक्ति—जिस प्रकार छोटा भी वादल (मेघ-खण्ड) अनेक योजन विस्तृत सूर्यमण्डल को

आच्छादित-सा कर देता है, उसी प्रकार अज्ञान सीमित (होते हुए) भी असीम एवं असंसारी आत्मा को, द्रष्टा की बुद्धि को आवृत करने के कारण, आच्छादित-सा कर लेता है, ऐसा (आवरण शक्ति का) सामर्थ्य है। सो कहा है—जिस प्रकार कि बादल से ढकी हुई दृष्टि वाला (व्यक्ति) अत्यन्त मूढ़, सूर्य को बादल से आवृत एवं प्रकाशरहित मान लेता है, उसी प्रकार अज्ञान-दृष्टि के कारण जो आत्मा बद्ध के समान प्रतीत होता है, वह नित्य-उपलब्धिस्वरूप आत्मा मैं हूँ (हस्तामलक १०)। इसी आवरण शक्ति से सीमित आत्मा की कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख एवं मोह-भरी तुच्छ भावना भी सम्भव हैं। (यह उसी प्रकार है) जैसे कि अपने अज्ञान (रस्सी-विषयक अज्ञान) से आवृत रस्सी में सर्पत्व की सम्भावना है।

परन्तु विक्षेपशक्ति—जिस प्रकार कि रज्जुविषयक अज्ञान अपने स्वावृत (स्व—रज्जुविषयक अज्ञान से आवृत) रस्सी में अपनी शक्ति से सर्प आदि की कल्पना करता है, उसी प्रकार (आत्मविषयक अज्ञान) भी स्वावृत (स्व=आत्मविषयक) अज्ञान से आवृत आत्मा में विक्षेपशक्ति से आकाशादि प्रपञ्च की कल्पना कर लेता है, ऐसा अज्ञान की विक्षेप शक्ति का सामर्थ्य है। कहा है—

विक्षेपशक्ति लिङ्ग शरीर (सूक्ष्म-शरीर) से लेकर ब्रह्माण्ड तक जगत् की सृष्टि करती है। (वाक्यसुधा १३)

विवेक—इस स्थल पर ग्रन्थकार ने अज्ञान की आवरण एवं विक्षेप शक्ति का उल्लेख किया है। उसका निरूपण शङ्कराचार्य ने विवेकचूडामणि के अन्तर्गत करते हुए कहा है—

> कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघै-
> र्व्यथयति हिमझञ्झावायुरुग्रो तथैतान् ॥
> अविरततमसात्मन्यावृते मूढबुद्धि
> क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः ।
>
> (विवेकचूडामणि, १४५)

> एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः ।
> याभ्यां विमोहितो देहं मत्वात्मानं भ्रमत्ययम् ॥
>
> (विवेकचूडामणि, १४६)

अर्थात् जिस प्रकार दुर्दिन में घने मेघों के द्वारा सूर्य के आवृत होने पर

उग्र एवं बर्फीला झञ्झा वात सबको खिन्न कर देता है, उसी प्रकार बुद्धि के निरन्तर तमोगुण से आवृत होने पर विक्षेपशक्ति मूढपुरुष को अनेकविध दुःखों से दुःखित करती है ॥१४५॥

इन दोनों आवरण और विक्षेप शक्तियों से ही पुरुष बन्धन को प्राप्त हुआ है और इन्हीं में मोहित होकर वह देह को आत्मा मानकर संसार-चक्र में भ्रमण करता रहता है ॥१४६॥

माया की आवरण एवं विक्षेप-शक्ति के सम्बन्ध में शङ्कराचार्य का उपर्युक्त विचार ही सदानन्द के आवरण एवं विक्षेपशक्तिविषयक विवेचन का आधार प्रतीत होता है।

शक्तिद्वय के उपर्युक्त स्वरूप से स्पष्ट है कि अज्ञान की आवरणशक्ति सीमित होते हुए भी असीम आत्मा को आवृत सा कर लेती है। इस स्थल पर प्रायः यह शङ्का होती है कि सीमित अज्ञान असीम आत्मा को किस प्रकार आवृत कर लेता है। किन्तु यह आक्षेप औचित्यपूर्ण नहीं है, क्योंकि ग्रन्थकार ने 'आच्छादयति इव' (आवृत सा कर देता है) कहा है, न कि 'आच्छादयति' (आवृत कर लेता है)। इसके अतिरिक्त इस स्थल पर सूर्य को घनावृत देखने वाले घनावृतदृष्टिसम्पन्न व्यक्ति को अतिमूढ कहकर (यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः) ग्रन्थकार ने उक्त सिद्धान्त को और भी स्पष्ट कर दिया है। इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार मूर्खता से अत्यन्त मूढ व्यक्ति घन से ढकी दृष्टि वाला होकर सूर्य को ही घनावृत मान लेता है, उसी प्रकार मूढ-दृष्टि वाले अज्ञानियों को आत्मा जन्म-मरण के बन्धन से बंधा प्रतीत होता है।

शङ्कराचार्य के प्रकरण-ग्रन्थ—हस्तामलक से घनच्छन्नदृष्टि० श्लोक को उद्धृत करते हुए आत्मा को नित्योपलब्धिस्वरूप कहकर ग्रन्थकार ने बन्धन की अवास्तविकता सिद्ध की है। बन्धन की अवास्तविकता का यही आशय है कि आत्मा के निष्कल एवं शाश्वत सत्तास्वरूप होने के कारण उसके बन्धन का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। किन्तु जीव का बन्धन देखने में आता है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने 'तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः' कहकर अज्ञान को ही बन्धन का कारण कहा है। वास्तविकता यह है कि जीव के जन्मजन्मान्तर के अज्ञानमूलक संस्कार ही जीव के बन्धन के कारण हैं। इस प्रकार अज्ञानकृत बन्धन असत्य होते हुए भी सत्य सा प्रतीत होता है। किन्तु वस्तुतः तो आत्मा का बन्धन अवास्तविक ही है—

एवाञ्च—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥

(पञ्चदशी चित्रदीप,६८)

आवरण शक्ति के कार्य को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि अज्ञान की आवरण शक्ति से अवच्छिन्न आत्मा को ही कर्तृत्व एवं सुखदुःख-मोहात्मकरूप तुच्छ सांसारिक भावनाओं का अनुभव होता है। जहाँ तक तत्त्वज्ञानी का प्रश्न है, वह कर्तृत्व आदि की भावनाओं का अनुभव नहीं करता। कर्तृत्वादि की भावना को तुच्छ कहकर सदानन्द ने इसी अज्ञानमूलकता की ओर ही सङ्केत किया है। इससे जीव के कर्तृत्वादि का मिथ्यात्व वर्णित हुआ है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ५।१४)

आवरण शक्ति जब जीव के स्वरूपज्ञान में बाधक होती है तो विक्षेप-शक्ति आत्मा में अनेकविध प्रपञ्च की आध्यासिक सृष्टि करती है, यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि रज्जुविषयक अज्ञान (रज्जु को रज्जु रूप से न जानने) के कारण जब द्रष्टा को रज्जु का स्वरूप-बोध नहीं होता तो वह उस रज्जु में सर्पादिप्रपञ्च की उद्भावना करता है। इससे दोनों का पौर्वापर्य भी स्पष्ट है। यदि आवरणशक्ति आत्मा के स्वरूपज्ञान में बाधक न होती तो विक्षेपशक्ति द्वारा प्रपञ्च-सृष्टि का अवसर न आता। इसीलिए ज्ञानी के लिए द्वैतमूलक प्रपञ्च की अविद्यमानता कही गई है—

ज्ञाते द्वैतं न विद्यते। (गौ० का०१।१८)

शङ्कराचार्य के उत्तरकाल में माया का विषयिमूलक अविद्या एवं विषयमूलक माया के रूप में जो भेद मिलता है, वह माया की आवरण एवं विक्षेपशक्ति के अनुरूप ही है। जिस प्रकार कि आवरण शक्ति जीव के स्वरूपज्ञान में बाधक है, उसी प्रकार विषयि (जीव)—मूलक अविद्या जीव को वस्तुज्ञान से वञ्चित रखती है। जीव की यह अविद्या संस्कारगत है। जिस प्रकार विक्षेपशक्ति जगत् की रचयित्री है, उसी प्रकार विषयमूलक माया भी जगत् की बीजशक्ति है। यही माया की विषयिमूलकता एवं विषयमूलकता है। अविद्या माया का विषयिमूलकता का रूप है और माया विषयमूलकता का रूप। एक ही माया की जैसे उपर्युक्त दो आवरण एवं विक्षेप शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार एक ही माया विषयी एवं विषयरूप दोनों हैं। शङ्कराचार्य

ने अविद्या एवं माया का उपर्युक्त भेद नहीं किया था। सर्वज्ञात्ममुनि ने भी माया की विषयिमूलकता एवं विषयमूलकता तथा आवरण एवं विक्षेप शक्ति की ओर संकेत करते हुए कहा था—

आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं।
जीवेश्वरत्व-जगदाकृतिभिर्मृषैव॥
अज्ञानमावरणविभ्रमशालियोगा-
दात्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन॥

(संक्षेप-शारीरक, १।२०)

आत्मा संसार का कारण किस प्रकार है—

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति॥११॥

शक्तिद्वय (आवरण एवं विक्षेप) से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य अपनी प्रधानता के कारण (चैतन्यांश की प्रधानता के कारण) निमित्त एवं अपनी उपाधि की प्रधानता के कारण उपादानकारण होता है। जैसे, मकड़ी तन्तु (जाल)-रूप कार्य के प्रति अपनी प्रधानता के कारण) निमित्त एवं अपने शरीर की प्रधानता के कारण उपादान कारण होती है।

विवेक

इस स्थल पर ग्रन्थकार ने कार्यकारणवाद की दृष्टि से अज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ० ३।१) जन्माद्यस्य यतः (ब्र० सू० १।१।२) के आधार पर परमात्मा को जगत् के जन्म आदि का कारण कहा गया है। यहाँ यह आक्षेप स्वाभाविक है कि यदि परमात्मा जगत् का कारण है तो क्या वह निमित्तकारण है अथवा उपादान-कारण? क्योंकि उसमें दो प्रकार की कारणता ही सम्भव है। परमात्मा निमित्त-कारण तो इसलिए नहीं हो सकता कि जिस प्रकार दण्डादि निमित्तकारण घटादि कार्यों में व्याप्त देखे जाते हैं, उस प्रकार परमात्मा की स्थिति नहीं है। क्योंकि 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० उ० २।६।१) के अनुसार परमात्मा जगत् की सृष्टि करके उसी में प्रवेश कर जाता है अर्थात् अनन्यत्व को प्राप्त होता है। निमित्तकारण दण्ड की यह स्थिति नहीं है। दण्डादि की तो घटादि कार्य से पृथक् सत्ता ही देखी जाती है। इसलिए परमात्मा निमित्तकारण कदापि नहीं हो सकता। जहाँ

तक परमात्मा की उपादान-कारणता का प्रश्न है, वह भी सङ्गत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि चेतनस्वरूप परमात्मा जड़ जगत् का उपादानकारण कैसे हो सकता है ? और यदि चेतनस्वरूप परमात्मा को जगत् का उपादानकारण मान भी लिया जाय तो उपादानरूप नित्य परमात्मा से सृष्ट जगत् भी अनित्य न होकर नित्य ही सिद्ध होगा, किन्तु जगत् की अनित्यता लोक एवं वेद दोनों में ही सुप्रमाणित है।

उपर्युक्त आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत अंश में यह कहकर किया गया है कि अज्ञान से उपहित चैतन्य, चैतन्य की प्रधानता के कारण निमित्तकारण है एवं अज्ञान की प्रधानता के कारण उपादानकारण। नृसिंहसरस्वती ने[1] परमात्मा की निमित्तकारणता को स्पष्ट करने के लिए यह दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार अयस्कान्त (चुम्बक) के सान्निध्य से जड़ लौह में भी क्रिया देखी जाती है, उसी प्रकार चैतन्य के सान्निध्य से जड़ रूप अज्ञान में भी चेष्टा देखी जाती है। इस प्रकार जड़रूप अज्ञान में सृष्टि की चेष्टा परमात्मा के ही सान्निध्य से है, अतः वह निमित्त-कारण है। इसी प्रकार आकाशादि प्रपञ्च के माया के उपादान कारण होने से मायाशक्तिसम्पन्न मायावी ईश्वर भी परम्परया उपचार से उपादान-कारण भी कहा जा सकता है।

यह आक्षेप कि परमात्मा यदि निमित्तकारण है तो 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुति के अनुरूप वह प्रपञ्चरूप जगत् में प्रवेश किस प्रकार करेगा, उचित नहीं है, क्योंकि उक्तश्रुति उपादानकारणपरक है और हमने परमात्मा को उपादान-कारण एवं निमित्त-कारण दोनों ही कहा है। ईश्वर की उपादानकारणता के विरोध में यह तर्क भी कि ईश्वर को उपादानकारण मानने पर उसका कार्य जगत् भी नित्य सिद्ध हो जाएगा, औचित्यपूर्ण नहीं है, क्योंकि वेदान्त (अद्वैत वेदान्त) में कारण (परमात्मा) एवं कार्यरूप जगत् के विषय में परिणामवाद को न स्वीकार करके विवर्तवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। विवर्तवाद के अनुसार वस्तु अपने स्वरूप का त्याग न करके भिन्न स्वरूप का प्रदर्शन करती है।[2] यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार

---

१. यथायस्कान्तसन्निधाने जडमयं लोहं चेष्टते तथा चैतन्यसन्निधाने जडमयं ज्ञानं चेष्टते।

सुबोधिनी, पृ० १५

२. विवर्तत्वं च स्वस्वरूपापरित्यागेन स्वरूपान्तरप्रदर्शकत्वम्।

सुबोधिनी-१५

कि शुक्ति के स्वरूप का परित्याग हुए विना ही उसमें रजत आदि का भ्रम होता है, उसी प्रकार परमात्मा के स्वरूप में परिवर्तन विना ही उसमें जगत् की अनेकरूपता का भ्रम होता है। इस भ्रम का कारण अज्ञान है। इस प्रकार जगत् की सत्ता अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण नित्य नहीं कही जा सकती। इसी लिए वेदान्त में मायिक जगत् की सत्ता सत् एवं असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कही गई है।

ग्रन्थकार ने परमात्मा की निमित्तकारणता एवं उपादानकारणता के सम्बन्ध में जो मकड़ी का दृष्टान्त दिया है, वह नितान्त उपयुक्त है, क्योंकि जिस प्रकार मकड़ी अपने ही तन्तुओं से विना किसी बाह्य साधन की अपेक्षा के जाला बुन लेती है, उसी प्रकार परमात्मा भी विना किसी बाह्य साहाय्य के अपनी माया-शक्ति से जगत् की सृष्टि करने में समर्थ होता है। जिस प्रकार मकड़ी अपने तन्तुओं के कारण उपादानकारण एवं अपने चैतन्यांश के कारण निमित्तकारण है, उसी प्रकार परमात्मा भी माया के कारण उपादानकारण है एवं चैतन्यांश के प्राधान्य के कारण निमित्तकारण। ग्रन्थकार ने जो मकड़ी का दृष्टान्त दिया है, उसका आधार निम्नोद्धृत श्रुति है—

> यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
> यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
> यथा स्वतः पुरुषात् केशलोमानि
> तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥
>
> (मुण्डक० १।१।६)

जगत् की उत्पत्ति का क्रम

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' (तै० उ० २।१।१) इत्यादिश्रुतेः। तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते। एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते। एतेभ्यः सूक्ष्म शरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते॥१२॥

तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्तियुक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति

होती है। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २।१) (उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) आदि श्रुति-वचन उक्त विषय में प्रमाण हैं। उन (आकाशादि) में जड़ता की अधिकता होने के कारण उनके कारण की तमः प्रधानता (कही गयी) है। उस समय आकाशादि की उत्पत्ति के समय सत्त्व, रजस् और तमस् उन आकाशादि में कारणवर्ती गुणों के क्रम से उत्पन्न होते हैं। (अर्थात् आकाशादि पञ्चभूतों में अपने अपने साक्षात् कारणों में वर्तमान गुणों के आधार पर ही सत्त्व, रजस् एवं तमस् की प्रधानता होती है) ये (आकाशादि) ही सूक्ष्म भूत, तन्मात्र और अपञ्चीकृत कहलाते हैं। इनसे सूक्ष्म-शरीर और स्थूल-भूत उत्पन्न होते हैं।

विवेकः

यहाँ ग्रन्थकार ने सृष्टि के विकास-क्रम की प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए अज्ञानोपहित चैतन्य (ईश्वर) को सृष्टि का कारण कहा है। तदनुरूप तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य अर्थात् ईश्वर को आकाशादि तत्त्वों की उत्पत्ति का कारण कहा है। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अज्ञान सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीन गुणों से युक्त है तो तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से ही आकाशादि की उत्पत्ति क्यों बतलाई गई है। इसी आक्षेप की आशङ्का से ग्रन्थकार ने यह समाधान प्रस्तुत किया है कि आकाशादि कार्यों में जड़ता की अधिकता का दर्शन होने से उनके कारण अर्थात् अज्ञान में तमोगुण की प्रधानता स्वीकार की जाती है, सत्वगुण या रजोगुण की नहीं। वेदान्त का यह सिद्धान्त 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' (कारण के गुण कार्य के गुणों को उत्पन्न करते हैं) का सिद्धान्त है। इसके परिणामस्वरूप ही आकाशादि की उत्पत्ति के समय सत्त्व, रजस् एवं तमस् कारणवर्ती गुणों के आश्रय से आकाशादि में अभिव्यक्त होते हैं।[1] इससे यह तात्पर्य है कि यदि आकाश की उत्पत्ति तमोगुण प्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से होती है तो उस आकाश में तमोगुण का प्राधान्य अनिवार्य है। यहाँ यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि यद्यपि आकाशादि पाँचों तत्त्वों में तमोगुण का प्राधान्य है किन्तु तमोगुण के अतिरिक्त एक और गुण की द्वितीयकोटि की प्रधानता है। उदाहरणार्थ आकाश में तमोगुण को छोड़कर अन्य तत्त्वों की अपेक्षा सत्त्व का आधिक्य है।

---

१. तदानीमुत्पत्तिवेलायां सत्त्वादयस्त्रयोऽपि गुणास्तारतम्येन कारणगुणप्रक्रमन्यायेन तेष्वाकाशादिषु पञ्चभूतेषूत्तरोत्तराधिक्येन जायन्ते।
सुबोधिनी, १६

आकाशादि पञ्च तत्त्वों को ग्रन्थकार ने सूक्ष्मभूत, तन्मात्रारूप एवं अपञ्चीकृत कहा है। ये सूक्ष्मभूत इसलिए हैं कि इनका स्थूल आकाशादि तत्त्वों की तरह प्रत्यक्ष नहीं होता। इन तत्त्वों को तन्मात्रा इसलिए कहा गया है कि सूक्ष्मावस्था में इनमें आकाश में शब्दमात्र, वायु में स्पर्शमात्र, तेज में रूपमात्र, जल में रसमात्र एवं पृथिवी में गन्धमात्र पाई जाती है। वैसे भी 'तन्मात्र' शब्द का अर्थ 'उतना मात्र' है। ये सूक्ष्मभूत अपञ्चीकृत इसलिए कहे गये हैं कि इनका पञ्चीकरण नहीं हुआ होता। जैसा कि पञ्चीकरण के सिद्धान्त को स्पष्ट करते समय आगे कहा जाएगा, पञ्चीकृत होकर ही आकाशादि स्थूलरूपता को ग्रहण करते हैं एवं प्रत्यक्ष का विषय बनते हैं। इन्हीं आकाशादि के सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के आश्रय से सत्त्वगुण-प्रधान बुद्धि आदि सूक्ष्म शरीरों एवं उपर्युक्त आकाशादि स्थूलभूतों की उत्पत्ति पञ्चीकरण की प्रक्रिया से सम्भव है, जिसका निरूपण आगे किया जाएगा।

सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति

सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, बुद्धिमनसी, कर्मेन्द्रियपञ्चकं, वायुपञ्चकञ्चेति। ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणाख्यानि। एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः। मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः। अनयोरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भावः। एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते। एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम्। इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति। अयं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुखित्वाद्यभिमानत्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते। मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति। कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि। एतानि पुनराकाशादीनां रजोंऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः। प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती। अपानो नामावाग्गमनवान्पाय्वादिस्थानवर्ती। व्यानो नाम

विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती। उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वं-गमनवानुत्क्रमणवायुः। समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादि-समीकरणकरः। केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति। तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः। एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति केचित्। एतत्प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतरजोंऽशेभ्यो मिलितेभ्यः उत्पद्यन्ते। इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंऽशकार्यत्वम्। एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञान-मयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते॥१३॥

सूक्ष्मशरीर सत्रह अवयव वाले लिङ्गशरीर हैं। (ये सत्रह) अवयव—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि और मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पांच वायु हैं। श्रोत्र, त्वक् चक्षु, जिह्वा और घ्राण—ज्ञानेन्द्रियां हैं। ये आकाशादि के सात्त्विक अंशों से पृथक्-पृथक् क्रम से उत्पन्न होते हैं। बुद्धि अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति का नाम है। अन्तःकरण की सङ्कल्प-विकल्पात्मक वृत्ति को मन कहते हैं। इन दोनों (बुद्धि एवं मन) में ही चित्त और अहंकार का अन्तर्भाव होता है। ये (मन, बुद्धि, अन्तःकरण, चित्त) आकाशादि में वर्तमान सम्मिलित सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होते हैं। इनके[1] प्रकाशात्मक होने के कारण ही

---

१. 'एतेपाम्' का अर्थ सन्तनारायण श्रीवास्तव ने पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन तथा बुद्धि किया है, परन्तु यह सङ्गत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यहाँ मन, बुद्धि, अन्तःकरण एवं चित्त का प्रसङ्ग है। अतः 'एतेषां' का अर्थ मन, बुद्धि, अन्तःकरण एवं चित्त ही ग्रहण करना उपयुक्त होगा। नृसिंह सरस्वती ने भी 'एतेषां चतुर्णाम्……" कह कर उक्त अन्तः करण-चतुष्टय की ओर ही संकेत किया है।

(देखिए, सुबोधिनी, पृ० १७)

(इन्हें आकाशादि सूक्ष्मभूतों के) सात्त्विक अंशों का कार्य कहा है। यह बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होकर 'विज्ञानमयकोश' कहलाती है। यह विज्ञानमयकोश से युक्त चैतन्य कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व एवं दुःखित्व आदि का अभिमानी होकर इस लोक एवं परलोक में गमन करने वाला व्यावहारिक जीव कहलाता है। मन ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होकर, 'मनोमयकोश' कहलाता है। कर्मेन्द्रियां—वाक् (वाणी), पाणि, पाद, पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) हैं। ये (कर्मेन्द्रियाँ) आकाश आदि सूक्ष्म भूतों के रजोगुण रूप अंशों से क्रम से पृथक्-पृथक् उत्पन्न होती हैं। वायु—प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान हैं। आगे की ओर जाने वाला, नासिका के अग्रभाग पर स्थित प्राण वायु कहलाता है। नीचे की ओर जाने वाला एवं पायु तथा उपस्थ में रहने वाला अपान-वायु कहलाता हैं। (शरीर में) सर्वत्र गमनशील एवं समस्त शरीर में रहने वाला वायु व्यान है। कण्ठस्थान में रहने वाला एवं ऊपर को चलने वाला उत्क्रमण वायु उदान है। शरीर के मध्य-भाग उदर में स्थित भुक्त एवं पीत अन्न, जल का समीकरण करने वाला वायु समान कहलाता है। कुछ लोग (सांख्य-मत के अनुयायी) नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय, ये पाँच वायु और हैं, ऐसा कहते हैं। उनमें नाग उद्‌गिरण (डकार एवं वमन) उत्पन्न करने वाला है। कूर्म उन्मीलन एवं निमीलन[1] (नेत्रों का खोलना, बन्द करना) करने वाला है। कृकल क्षुधा को उत्पन्न करने वाला है। देवदत्त जम्भाई लाने वाला है। धनञ्जय पोषण करने वाला है। इन पाँचों का प्राणादि में अन्तर्भाव होने के कारण प्राणादि पाँच ही है, ऐसा कुछ (वेदान्त-मतानुयायी विद्वान्) कहते हैं। यह प्राणादिपंचक आकाशादि में वर्तमान सम्मिलित रजोगुण के अंशों से उत्पन्न होता है। यह प्राणादिपञ्चक कर्मेन्द्रियों से सहित होकर प्राणमय-कोश होता है। इसके (प्राणमय-कोश के) क्रियात्मक होने के कारण (इसे) आकाशादि सूक्ष्मभूतों के रजोगुणांश का कार्य कहा जाता है। इन कोशों में 'विज्ञानमय-कोश' ज्ञानशक्तिसम्पन्न कर्ता-रूप है। मनोमय-कोश' इच्छाशक्तिसम्पन्न करण-रूप है। 'प्राणमयकोश' क्रियाशक्तियुक्त कार्य-रूप है। (इनकी अपनी-अपनी) योग्यता के कारण ही इनका (उक्त)

---

१. सदानन्द ने कूर्म को उन्मीलन करने वाला ही कहा है, किन्तु वह मात्र उन्मीलनकर्ता नहीं है अपि तु निमीलनकर्ता भी है, इसलिए उन्मीलन से निमीलन का भी उपलक्षण करना चाहिए। 'उन्मीलनशब्दो निमीलनस्याप्युपलक्षणपरः'—विद्वन्मनोरंजनी पृ० १०४

विभाग है, ऐसा (शास्त्रज्ञ) वर्णन करते हैं। यह कोशत्रय (विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय) सम्मिलित रूप से सूक्ष्मशरीर कहलाता है।

विवेकः

"सत्रह अवयव वाले सूक्ष्म शरीर को ग्रन्थकार ने लिङ्गशरीर कहा है। लिङ्ग की परिभाषा---'लीनमर्थं गमयति इति लिङ्गम्' (जो छिपे अर्थ का बोध कराता है, इस परिभाषा के अनुरूप जिस प्रकार धूम (लिङ्ग) अग्नि (लिङ्गी) का बोध कराता है उसी प्रकार बुद्धि, मन आदि सत्रह अवयव वाला सूक्ष्म शरीर भी आत्मा के अस्तित्व का बोध कराता है। सुरेश्वराचार्य ने पञ्चीकरणवार्तिक में पुर्यष्टक (छा० उ० ८।१२।४) को लिङ्गशरीर कहा है—

'ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।
मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ॥
प्राणोऽपानस्तथा व्यान उदानाख्यस्तथैव च।
समानश्चेति पञ्चैताः कीर्तिताः प्राणवृत्तयः ॥
खं वाय्वग्न्यब्धरित्र्यश्च भूतसूक्ष्माणि पञ्च च।
अविद्याकामकर्माणि लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः ॥

यही सत्रह प्रकार का लिङ्ग शरीर जीव के भोग का साधन है।'

ग्रन्थकार सत्रह अवयव (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं पंच वायु) वाले सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् बतलाते हुए कहते हैं कि ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण) आकाश आदि के सात्त्विक अंशों से पृथक्-पृथक् क्रम से उत्पन्न होती है। इस क्रम के अनुरूप आकाश के सात्त्विक अंश से श्रोत्र; वायु के सात्त्विक अंश से त्वक्, तेज के सात्त्विक अंश से चक्षु, जल के सात्त्विक अंश से रसना एवं पृथिवी के सात्त्विक अंश से घ्राण इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति आकारादि के सात्त्विक अंश से ही क्यों होती है, यह प्रश्न स्वाभाविक है, किन्तु इसके उत्तर में यह कहा जाएगा कि ज्ञानेन्द्रियों का कार्य विषयों का प्रकाशन है। अपने इस कार्य के अनुसार ये श्रोत्रादि इन्द्रियाँ शब्द आदि विषयों का प्रकाशन (ज्ञापन) करती हैं। इसीलिए इन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहा जाता हैं। यहाँ

---

१. पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥
आत्मबोध १२

यह उल्लेखनीय है कि विषयप्रकाशन का कार्य सत्त्व-गुण का ही है।[1] इस प्रकार कारणगुणन्याय से ही आकाशादि के सात्त्विक अंश को श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का कारण कहा गया है। इसी प्रकार आकाशादि के सात्त्विक अंश से श्रोत्रादि की उत्पत्ति का भी कारण है। आकाश के सत्त्वांश से श्रोत्र की उत्पत्ति इसलिए मानी जाती है कि श्रोत्र में भी अपने कारण आकाश का आकाशत्व वर्तमान है। इसी प्रकार त्वक् में अपने कारण वायु का वायुत्व, चक्षु में अपने कारण तेज का तेजस्त्व, रसना में अपने कारण जल का रसत्व एवं घ्राण में अपने कारण—पृथिवी का पृथवीत्व वर्तमान है। इस प्रकार यहाँ पर भी कारणगुणन्याय से श्रोत्रादि की आकाशादि से उत्पत्ति कही है। बुद्धि को अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति कहा है। वेदान्तपरिभाषाकार ने वृत्ति के चार भेद किए हैं। ये भेद—निश्चय, गर्व, संशय एवं स्मरण हैं। इनमें निश्चय का आधार बुद्धि, गर्व का आधार अहंकार, संशय का आधार मन एवं स्मरण का आधार चित्त है। यहाँ ग्रन्थकार ने चित्त एवं अहङ्कार[2] का भी क्रमशः बुद्धि तथा मन में अन्तर्भाव किया है। चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव इसीलिए स्वीकार किया जाता है कि चित्त की स्मरणात्मिका वृत्ति एवं बुद्धि की निश्चयात्मिका वृत्ति प्रायः एक ही हैं; क्योंकि 'सोऽयं देवदत्तः' (वह यह देवदत्त है) रूप स्मरणज्ञान निश्चयात्मक ज्ञान ही है। इसी प्रकार अहङ्कार का अन्तर्भाव मन में इसलिए माना जाता है कि जिस प्रकार मन संकल्पविकल्पात्मक है उसी प्रकार अहङ्कार भी सङ्कल्पविकल्पात्मक है। इस प्रक्रिया के अनुसार अन्तःकरण

---

१. सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥
सांख्यकारिका, १३

२. विद्वन्मनोरंजनी के लेखक स्वामी रामतीर्थ ने चित्त और अहंकार की परिभाषा की है। चित्त की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है—"अनुसन्धानात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिश्चित्तम्"—अर्थात् अन्तःकरण की अनुसन्धानात्मक वृत्ति चित्त है। इसी प्रकार अहंकार की परिभाषा करते हुए स्वामी जी ने लिखा है—"अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिरहङ्कारः"—अर्थात् अन्तःकरण की अभिमानात्मक वृत्ति का नाम अहंकार है।
विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० १०१

करणचतुष्टय का सिद्धान्त वेदान्त का विरोधी सिद्धान्त नहीं है। यह मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकाररूप अन्तःकरणचतुष्टय भी आकाशादि सूक्ष्म भूतों में वर्तमान सम्मिलित सात्त्विक अंशों से उत्पन्न होता है। अन्तःकरणचतुष्टय का आकाशादि के सात्त्विक अंश से उत्पन्न होना भी कारणगुणन्याय के अनुसार ही है। अन्तःकरणचतुष्टय में से बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होकर विज्ञानमय कोश कहलाती है और यही विज्ञानमयकोश कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का अभिमानी होकर जीव कहलाता है। वस्तुतः जब चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राणी लौकिक पुष्प आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है तो पहिले वह यह निश्चय करता है कि वह पुष्प देख रहा है और इसके पश्चात् जब वह यह अभिमान करता है कि मैं पुष्प को देखता हूँ, तो वह जीव कहलाता है। इसी प्रकार सुखित्व एवं दुःखित्व[1] आदि के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। सुख एवं दुःख आत्मा के धर्म नहीं हैं, न आत्मा सुखभोक्ता है, न दुःखभोक्ता और न कर्ता। इस प्रकार आत्मा का न परलोकगमन सम्भव है और न उसका कोई लौकिक व्यवहार सम्भव है। अतः समस्त गमनागमनादि व्यवहार उक्त जीव के ही सम्बन्ध में सम्भव है आत्मा के सम्बन्ध में नहीं।

ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मनरूपी अन्तःकरण को 'मनोमयकोश' कहा है। लौकिक वस्तुओं को ज्ञानेन्द्रियों (चक्षुरादि) से प्रत्यक्ष करके जब द्रष्टा इस प्रकार का सङ्कल्प-विकल्प करता है कि यह वस्तु वही है या अन्य कोई, तो यह सङ्कल्पविकल्पात्मक क्रिया मनोमयकोश में ही होती है।

ग्रन्थकार ने वाणी एवं पाणि आदि कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति का कारण आकाश आदि सूक्ष्म तत्त्वों के पृथक्-पृथक् रजोगुण के अंशों को बतलाया है। इसका कारण यह है कि रजोगुण का स्वभाव उपष्टम्भन एवं चलन-रूप है।[2] अपने इस स्वभाव के कारण रजोगुणसत्त्व एवं तमोगुण—जो स्वभाव से ही निष्क्रिय हैं, उनमें प्रवृत्ति उत्पन्न कर देता है। यह उसी प्रकार है कि जिस प्रकार लाठी किसी वृद्ध को चलने के लिए प्रोत्साहित कर देती है एवं उसे स्वकार्य में प्रवृत्त कर देती है। इससे रजोगुण के दो विशेष कार्य देखे जाते हैं। एक प्रवृत्ति उत्पन्न करना और दूसरा स्वयं का क्रियाशील होना। ये

---

१. जीवो हि अविद्यालेशवशाद् देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्याकृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते। मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभवः।

ब्र० सू० शा० भा०, २।३।४६

२. ब्र० सू० शा० भा० ४।३।७

दोनों ही गुण कर्मेन्द्रियों में देखे जाते हैं क्योंकि ये कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर आदि) क्रियाशील भी हैं और परस्पर एक-दूसरे की उपष्टम्भक अर्थात् प्रेरक भी हैं हाथ-पैर आदि की सक्रियता तो स्पष्ट ही है कि व्यक्ति हाथ से किसी वस्तु को ग्रहण करता है एवं पैर से चल कर उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचता है। जहाँ तक हाथ-पैर आदि की उपष्टम्भकता का प्रश्न है, वह भी इन कर्मेन्द्रियों में वर्तमान है, उदाहरण के लिए हाथ आदि किसी वस्तु को ग्रहण करना चाहते हैं तो वे मन द्वारा पैरों को वहाँ चलने के लिए प्रवृत्त करते हैं। अतः कर्मेन्द्रियों का आकाश आदि के रजो गुण रूप अंशों से उत्पन्न कहना संगत है। जहां तक आकाश आदि के पृथक् पृथक् रजोगुणांशों से वाणी आदि कर्मेन्द्रियों के उत्पन्न होने का प्रश्न है, वह भी असङ्गत नहीं है। इस प्रकार आकाश के रजोगुण रूप अंश से वाक्, वायु के रजोगुण अंश से वाणी, अग्नि के रजोगुण रूप अंश से पाद, जल के रजोगुण रूप अंश से पायु और पृथिवी के रजोगुण रूप अंश से उपस्थ इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है।[1] आकाश आदि के पृथक्-पृथक् रजोगुण अंश से वाक् आदि की उक्त उत्पत्ति का भी कारण है और वह यह है कि आकाश और वाक् का सम्बन्ध है। इसीलिए आकाश को शब्द गुण वाला कहा है।[2] यह बात स्पष्ट ही है कि जहाँ आकाश है, वहीं शब्द है, अन्यत्र नहीं। यही दोनों का अनिवार्य सम्बन्ध है। इसी प्रकार वायु और पाणि का सम्बन्ध है। वायु में जो स्पर्श-क्रिया की क्षमता है, वह विशेष रूप से हाथ में ही पायी जाती है। इसी प्रकार अग्नि और पाद का सम्बन्ध है।

जहाँ तक जल के रजोगुण रूप अंश से पायु की उत्पत्ति का प्रश्न है, वह संगत ही है क्योंकि पायु में जलांश का ही प्राचुर्य है। इसी प्रकार उपस्थ का पृथ्वी के रजोगुण रूप अंश से उत्पन्न होना भी औचित्यपूर्ण है, क्योंकि उपस्थ में भी पृथ्वी के अंश का ही प्राचुर्य है। कर्मेन्द्रियों के पश्चात् सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत प्राणादि पञ्च वायु आते हैं। प्राण को ग्रन्थकार ने नासिका के अग्रभाग पर वर्तमान कहा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्राणवायु का स्थान हृदय में बतलाया है।[3] प्राण को हृदयवर्ती इसलिए कहा गया है कि उसका मूल स्थान हृदय है, किन्तु इसका प्रत्यक्ष नासिका के अग्रभाग पर होता है, इसलिए इसे सदानन्द ने 'नासाग्रस्थानवर्ती' कहा है। माठरवृत्ति में प्राण को शरीर

१. देखिए, सुबोधिनी, पृ० १८

२. शब्दगुणकमाकाशम्, तर्कसंग्रह।

३. प्राणो हृदये (तै० ब्रा० ३।१०।८।५)

धारण करने वाला होने के कारण 'प्राण' कहा है।[1] इस प्रकार यदि देखा जाए तो प्राण सभी का मूल है। प्राण का संचार नासिका, हृदय, नाभि, पैर, तथा अङ्गुष्ठ में होता है। अपान वायु को सदानन्द ने उपस्थ आदि में वर्तमान तथा नीचे की ओर जाने वाला कहा है। अपान वायु का संचरण घंटी, पीठ, पैर, पायु, उपस्थ एवं पार्श्व में होता है। इसे, मल-मूत्र का अपनयन करने वाला होने के कारण अपान कहा है।[2] व्यान नामक वायु सदानन्द के अनुसार समस्त शरीर में विद्यमान रहता है और सब तरफ गमन करने वाला है। व्यान का संचरण त्वचा में होता है। इसे कठोर कर्मों में प्रवर्त्तक कहा गया है। माठर ने इसकी व्युत्पत्ति—"आनखादाकेशान्तं शरीरं व्याप्य अनति चलतीति व्यानः" (नख से लेकर केशों तक शरीर को व्याप्य करके, जो चलता है, वह व्यान है) की है। छान्दोग्योपनिषद् में प्राण और अपान की सन्धि को 'व्यान' कहा है।[3] यहाँ प्राण और अपान की सन्धि का उनकी मध्यस्थ वृत्तिविशेष से आशय है। 'समान' भुक्त एवं पीत, रोटी एवं पानी आदि पदार्थों का समीकरण करने वाला वायु है। समीकरण क्रिया के द्वारा उदर में पहुँचा हुआ अन्न का तात्त्विक अंश अलग-अलग रस एवं रुधिर आदि सप्त धातुओं के रूप में परिपाक को प्राप्त होता है और अग्राह्य अंश मल-मूत्र के रूप में पृथक्-पृथक् रूप ग्रहण करता है। समान वायु का संचरण हृदय, नाभि तथा शरीर के समस्त जोड़ों (Joints) में होता है। माठरवृत्ति में इसे हृदय में अवस्थित तथा सहभाव के कारण समान कहा है।[4] इस परिभाषा के अनुसार यह नाड़ियों में समान रूप से रस का संचार करता है। उदान वह वायु है, जो मृत्यु के समय ऊपर की ओर उत्क्रमण करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार उदान-वायु चक्षु अथवा शिर यद्वा शरीर के अन्य भागों से भी निकल सकता है। उदान वायु का संचार हृदय, कण्ठ, तालु, मूर्धा तथा भौंहों के मध्य में होता है। विशेष रूप से उदान वायु का कार्य रस आदि का उत्कर्ष है। कपिल आदि सांख्य के आचार्यों ने उक्त पञ्च वायुओं के स्थान पर नाग, कूर्म, कृकल देवदत्त और धनञ्जय—ये पाँच वायु माने हैं। सुरेश्वराचार्य ने इन वायुओं के कार्य के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए कहा है कि नाग हिक्का अर्थात् हिचकी लाने वाला है, कूर्म आँखों को खोलने तथा बन्द करने वाला है। कृकल

---

१. प्राणनात् प्राण इत्यभिधीयते, माठरवृत्तिः।
२. 'इतश्चापक्रमणादपानः'—माठरवृत्तिः।
३. अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः सः व्यानः—छा० उ० १।३।३
४. हृद्यवस्थानं सहभावश्च तेन समानः। माठरवृत्तिः।

क्षुधा उत्पन्न करने वाला है, देवदत्त विजृम्भण (जम्भाई) लाने वाला है, और धनञ्जय शरीर की पुष्टि करने वाला तथा मृत्यु के पश्चात् भी शरीर में वर्तमान रहने वाला है।[1] विद्वन्मनोरञ्जीकार ने उक्त नाग आदि वायु-पञ्चक का अन्तर्भाव उदानादि के अन्तर्गत ही कर लिया है। उनकी अन्तर्भाव-क्रिया के अनुसार नाग का उदान में, कूर्म का व्यान में, कृकल और धनञ्जय का समान में एवं देवदत्त का अपान में अन्तर्भाव होता है।[2] वायु की इन क्रियाओं के सम्बन्ध में हिरियन्ना का यह कथन विचारणीय है—

Of them, nāga is what gives rise to eructation; Kūrma, what brings about the (shutting and) opening of the eyes; Kṛkala, what causes yawning and dhanañjaya, what causes fatness.[3]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैसा कि अभी कहा गया है, सुरेश्वराचार्य ने नाग (उद्गिरणकर) का अर्थ 'हिक्का' हिचकी उत्पन्न करने वाला किया है और हिरियन्ना ने eructation अर्थात् डकार लाने वाला। यहां नाग (उद्गार) का अर्थ डकार उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि उद्गिरणकारक 'नाग' वायु में वायु मुख से बाहर निकलता है। 'हिचकी' में ऐसा नहीं होता। परन्तु हिरियन्ना महोदय ने 'कृकल' को जंभाई (yawning) लाने वाला कहा है। यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'कृकल' वायु तो (कृकलः क्षुत्करः) भूख उत्पन्न करने वाला है 'देवदत्त' वायु जंभाई लाने वाला है। (देवदत्तो जृम्भणकरः)। कदाचित् मुद्रण या शीघ्रता के कारण यह त्रुटि हुई प्रतीत होती है।

सांख्यमतानुसारी नाग आदि वायुओं के सम्बन्ध में यह कथन विचारणीय है कि क्या नाग आदि वायुओं का नामकरण प्राणादि की तरह साभिप्राय है अथवा यों ही विना किसी अभिप्राय के ये नाम दिए गए हैं। प्राणादिपञ्चक की उत्पत्ति जो आकाशादि के सम्मिलित रजोगुणांशों से बतलाई है, उसका कारण यह है कि इन (प्राणादि) में क्रियात्मकता पाई जाती है जो रजोगुण

---

१. नागो हिक्काकरः कूर्मो निमेषोन्मेषकारकः।
क्षुतं करोति कृकलो देवदत्तो विजृम्भणम्॥
स्थौल्यं धनञ्जयः कुर्यान्मृतं च न विमुञ्चति।
मानसोल्लास ६।१४-१५

२. देखिए, विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० १०४

3. Hiriyanna, Vedāntasāra, p. 50

का ही परिणाम है। प्राणादि वायुओं में सक्रियता स्पष्ट ही देखने को मिलती है।

यह प्राणादिपञ्चक कर्मेन्द्रियों के साथ मिल कर प्राणमय कोश कहलाता है। यद्यपि प्राणमयकोश के अन्तर्गत पाँचों वायु सम्मिलित रूप से वर्तमान रहते हैं, परन्तु फिर भी उसे प्राणमयकोश इसलिए कहा गया है कि पाँचों वायुओं में प्राण का ही प्राधान्य है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राणादि वायुपञ्चक मुख्य प्राण की ही पांच वृत्तियाँ हैं। प्राण की क्रिया समस्त इन्द्रिय-समूह में वर्तमान रहती है।[1] इसी से उसका प्राधान्य समझा जा सकता है। इसी प्राधान्य के कारण कर्मेन्द्रियों से सम्मिलित वायुपञ्चक को प्राणमयकोश की संज्ञा दी गई प्रतीत होती है।

इस प्रकार विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय—इस कोशत्रय को ग्रन्थकार ने क्रमशः कर्तृरूप, कारणरूप, एवं कार्यरूप कह कर क्रम से ज्ञान-शक्ति, इच्छा-शक्ति एवं क्रियाशक्ति से सम्पन्न बतलाया है। वस्तुतः यह शक्तित्रय का समन्वय सर्वथा वैज्ञानिक है, क्योंकि विज्ञानमय-कोश के अन्तर्गत ज्ञानेन्द्रियां की अधिष्ठानरूप बुद्धि है, अतः निश्चयात्मिका बुद्धि के कारण विज्ञानमय कोश को ज्ञानशक्तिसम्पन्न एवं कर्तृरूप कहना सङ्गत ही है, क्योंकि बुद्धि ज्ञानस्वरूपिणी एवं निश्चयात्मिका होने के कारण कर्तृरूपा है। इसी प्रकार मनोमयकोश का इच्छा-शक्तिसम्पन्न एवं कारणरूप होना भी समीचीन ही है। क्योंकि सुखदुःखादि की उपलब्धि की इच्छा मन में ही उत्पन्न होती है। इसे कारणरूप इसलिए कहा जाता है कि मन ही सुखदुःखादि की उपलब्धि की साधनभूत इन्द्रिय है।[2] इसी प्रकार प्राणमय कोश को क्रियाशक्तिसम्पन्न एवं कार्यरूप कहना भी युक्तियुक्त है। प्राणादि की सक्रियता के कारण ही प्राणमयकोश को क्रियाशक्तिसम्पन्न कहना सङ्गत है। प्राणमयकोश की कार्यरूपता भी इसी से स्पष्ट है कि प्राणमयकोश में कर्मेन्द्रियों का योग है। कर्मेन्द्रियों के कारण ही प्राणमयकोश की कार्यरूपता कही गई है। वस्तुतः किसी भी कार्य के सम्पादन के लिए उक्त तीनों शक्तियों का समन्वय अत्यन्त अपेक्षित है, क्योंकि किसी भी कार्य का साधक पहले विज्ञानमयकोश की प्रक्रिया से किसी साध्य के संबन्ध में ज्ञान करता है, फिर मनोमय-कोश की प्रक्रिया से उसे प्राप्त करने की इच्छा करता है और तद्-

१. यतश्चैव तस्मात् प्राणकर्म सर्वस्य करणग्रामस्य वृत्तिः सामान्या। माठरवृत्तिः।

२. सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनेन्द्रियं मनः।

पश्चात् इच्छाशक्ति से प्रेरित होकर, प्राणमयकोश की प्रक्रिया से वाग कर्मेन्द्रियों से अपनी इच्छा को कार्यरूपता प्रदान करता है। इस प्र कार्यसम्पादन के लिए ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तियों का समन्वय अनिवार्य है इस प्रकार विज्ञानमय आदि कोशत्रय का विभाजन उनकी उक्त योग्य के आधार पर ही समझना चाहिए।

वेदान्त में सप्तदश अवयवों से सम्पन्न उक्त कोशत्रय को ही सूक्ष्म शरी कहा गया है। सांख्यदर्शन में ये अवयव १७ न होकर १८ हैं। सांख्य के अठा अवयवों में महत्तत्व, अहंकार, मन, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय एवं पञ्च तन्मात्राएं हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि मनुष्य का सूक्ष्मशरीर ही लोकलोकान्तर गमन करता है।

सूक्ष्म प्रपञ्च का निरूपण

अत्राप्यखिल सूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद् समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद् वा व्यष्टिरपि भवति। एत समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानु स्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूल प्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्र वासनामयत्वात् स्वप्नोऽतएव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहित त्वात्। अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरे सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नोऽतए स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते। एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदा मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः प्रविविक्तभुक् तैजस (मा० ३) इत्यादिश्रुतेः। अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयो र्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नकाशवच्च जलाशयजलवत्तदुपगतप्रतिबिम्बाकाश वच्चाभेदः। एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः ॥१४॥

यहाँ भी समस्त सूक्ष्मशरीर एकत्व की बुद्धि का विषय होने के कारण अथवा जलाशय के समान समष्टि है और अनेकत्व की बुद्धि का विषय हो के कारण वृक्ष अथवा जल के समान व्यष्टि भी है। इस समष्टि से उपहि

चैतन्य सर्वत्र अनुस्यूत (पिरोया हुआ) होने के कारण तथा ज्ञानेच्छा क्रिया-शक्ति से सम्पन्न विज्ञानमय, मनोमय एवं प्राणमय कोश से उपहित होने के कारण 'सूत्रात्मा', 'हिरण्यगर्भ' एवं 'प्राण' कहलाता है। इस सूक्ष्मशरीर की यह समष्टि स्थूलप्रपञ्च की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्म शरीर, विज्ञानमयादिकोशत्रय, जाग्रत् की वासनाओं से युक्त होने से स्वप्न और इसीलिए स्थूलप्रपञ्च का लयस्थान कहलाती है। सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य तैजस कहलाता है, क्योंकि वह तेजयुक्त अन्तःकरण की उपाधि से युक्त है। इस तैजस अन्तःकरण की उपाधिरूप व्यष्टि स्थूलशरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण ही सूक्ष्म शरीर एवं विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमयकोश रूप, जाग्रत् जगत् की वासनाओं से युक्त होने के कारण स्वप्न और इसीलिए स्थूलशरीर का लयस्थान भी कहलाती है। ये दोनों सूत्रात्मा और तैजस उस समय अर्थात् स्वप्न में मनोवृत्तियों के द्वारा सूक्ष्म-विषयों का (वासनारूप से) अनुभव करते हैं। "प्रविविक्तभुक् तैजसः" (तैजस सूक्ष्म विषयों का भोक्ता है) इत्यादि श्रुति उक्त विषय में प्रमाण है। यहाँ भी सूक्ष्मशरीर की समष्टि एवं व्यष्टि में तथा उनसे उपहित क्रम से सूत्रात्मा एवं तैजस में उसी प्रकार अभेद है जिस प्रकार कि वन और वनवर्ती वृक्षों तथा वनावच्छिन्न और वृक्षावच्छिन्न आकाश में अभेद है तथा जलाशय एवं जल (जलकणों) में एवं जलाशय में प्रतिबिम्बित आकाश और जल (जलकणों) में प्रतिबिम्बित आकाश में अभेद है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति हुई है।

विवेक

पूर्वव्याख्यात अज्ञान की प्रक्रिया के समान ही यहाँ ग्रन्थकार ने समष्टि एवं व्यष्टि के आधार पर सूक्ष्मशरीर के समष्टिमूलक एवं व्यष्टिमूलक भेद में भी अभेद की स्थापना की है। सूक्ष्मशरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ एवं प्राणरूप परमात्मा है। प्रत्येक जीव का अलग-अलग सूक्ष्म शरीर व्यष्टि-रूप है। समष्टि से उपहित चैतन्य के जो सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ एवं प्राणरूप ग्रन्थकार ने बतलाए हैं, वे सयुक्तिक हैं। वह सूत्रात्मा इसलिए है कि समस्त प्राणियों के शरीर (सूक्ष्म शरीर) में सूत्र के समान अनुस्यूत है। वह (समष्टि से उपहित चैतन्य) हिरण्यगर्भ इसलिए कहलाता है कि ज्ञान-शक्ति से युक्त अन्तःकरण से उपहित है।

स्वामी रामतीर्थ का कथन है कि क्रिया-शक्ति से युक्त अधिदैवत प्राणरूप होने के कारण प्राण कहलाता है। स्वामी जी ने इस सम्बन्ध में एक

और दृष्टि प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ज्ञान-क्रिया शक्ति से युक्त समष्टिरूप प्राण एवं इन्द्रिय समुदायरूप समष्टिरूप-लिङ्ग शरीर ज्ञानक्रिया शक्ति से युक्त होने के कारण ज्ञान-शक्ति की प्रधानता से प्राण कहलाता है।[1]

तैजस अन्तःकरण की उपाधिरूप व्यष्टि को ग्रन्थकार ने स्वप्न कहा है और इसका यह हेतु दिया है कि वह तैजस अन्तःकरण विज्ञानमयादिकोशत्रय रूप जाग्रत् जग्रत् की वासनाओं से युक्त है। तैजस अन्तःकरण की स्वप्नता के सम्बन्ध में श्रुति में कहा गया है—

'स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसः" (माण्डूक्योपनिषत्-३)

अर्थात् तैजस वह है जो स्वप्नावस्था में अन्तःप्रज्ञ होने के कारण बाह्य विषयों से असम्बद्ध है और सात अङ्गों—द्युलोक, (शिर[1]) सूर्य (चक्षु[2]), वायु (प्राण[3]), आकाश (देह का मध्य भाग[4]), अन्न (मूत्रस्थान[5]), पृथिवी (पाद[6]), आहवनीय अग्नि (मुख[7]) तथा उन्नीस मुखों—पांच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय मन, बुद्धि, चित्त एवं अहङ्कार तथा पञ्चप्राण से वासनारूप सूक्ष्म विषयों (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रूप सूक्ष्म विषयों) का उपभोक्ता है। तैजस अन्तःकरण की जिस सप्ताङ्गता का निरूपण यहां किया गया है वह मात्र प्रतीकात्मक न होकर यथार्थमय है। द्युलोक की विशिष्टता के कारण उसका शिरस्त्व स्वाभाविक ही है। सूर्य की चक्षुरूपता सूर्य की विश्वरूपता एवं अनेकविध श्वेतपीतादिगुणात्मकता के कारण है। वायु के अनेकानेक स्थलों में सञ्चरणशील होने के कारण उसका प्राणत्व है।

आकाश की बहुलता के कारण शरीर की मध्यभागता कही गई है। अन्न को मूत्रस्थान इसलिए कहा गया है कि उसका हेतु जल उसमें रहता है—

"पर्जन्यादन्नसम्भवः" (गीता ३।१४)

पृथिवी की प्रतिष्ठात्मकता के कारण उसका पादत्व सङ्गत ही है। जैसे, समस्त संसार की प्रतिष्ठा पृथिवी है, उसी प्रकार सारे शरीर के

---

१. यद्वा ज्ञानक्रियाशक्तिमत्समष्टिप्राणेन्द्रियसमुदायात्मकं समष्टिलिङ्गशरीरं तदुपहितत्वाज्ज्ञानशक्तिप्राधान्येन हिरण्यगर्भः क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राण इति च व्यपदेश इति योजना—विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० १०६

प्रतिष्ठान पाद हैं। आहवनीय अग्नि की प्रमुखता के कारण उसको मुख कहा गया है।[1]

जहां तक ज्ञानेन्द्रियादि १९ मुखों की बात है, उन्हें समस्त विषयों के भोग का द्वार होने के कारण मुख कहा गया है। इनमें ज्ञानेन्द्रियाँ मन और बुद्धि की उपलब्धि के द्वार हैं। वाक् आदि कर्मेन्द्रियां भाषण आदि की द्वार हैं। प्राणादि पञ्च वायु चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के दर्शनादि ज्ञान एवं वागादि कर्मेन्द्रियों के भाषणादि के परम्परया कारण हैं। मन और बुद्धि की सर्वत्र साधारणकारणता है तथा अहंकार की प्राणादि के समान कारणता है। चित्त चैतन्याभास के उदय का द्वार है।

स्वप्नावस्था में जाग्रत् की वासनाओं का भोग करने वाले तैजस अन्तःकरण को अन्तःप्रज्ञ इसलिए कहा गया है कि स्वप्नावस्था में मानसिक वासनाओं के विलास में ही उसकी प्रधान स्थिति है। इसे 'प्रविविक्तभुक्' इसलिए कहा है कि यह प्रविविक्त अर्थात् सूक्ष्म (विषयों) का भोग करता है। इसे "तैजस' इसलिए कहा है कि वह कर्ता, करण एवं कार्यादिभाव से परिणत तेजस्वरूप अन्तःकरण है तथा स्थूलशरीरादि से हीन है।

अन्तःप्रज्ञोऽन्तर्भाववासनाविलासे प्रज्ञाबुद्धिर्यस्य सोऽन्तःप्रज्ञःप्रविविक्तभुक्।"

(शङ्करानन्ददीपिका, मा० उ० ४)

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि तैजस की सप्ताङ्गता के अन्तर्गत जब सूर्य को चक्षु की अङ्गता का रूप दिया गया है तो १९ मुखों की गणना

१. तथा सप्ताङ्गान्यस्य "तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयि पृथिव्येव पादौ" इत्यग्निहोत्रकल्पना शेषत्वेनाऽऽहवनीयोऽग्निरस्य मुखत्वेनोक्त इत्येव सप्ताङ्गानि यस्य स सप्ताङ्गः। (मा० उ० भा० ३) ...सुतेजस्त्वगुणविशिष्टो द्युलोको मूर्धैवेति द्युलोकस्य शिरस्त्वमुपदिश्यते। विश्वरूपो नानाविधः श्वेतपीतादिगुणात्मा सूर्यश्चक्षुर्विवक्ष्यते। प्रथङ्नानाविधवर्त्मसञ्चरणमात्मा स्वभावोऽस्येति व्युत्पत्त्या वायुस्तथोच्यते। स च प्राणस्तस्येति सम्बन्धः। बहुलो विस्तीर्णगुणवानाकाशः सन्देहो देहस्य भागोरयिरन्नं तद्धेतुरुदकं बस्तिरस्य मूत्रस्थानं पृथिव्येकप्रतिष्ठात्वगुणो वैश्वानरस्य पादौ तद् यद् भक्तं प्रथमभागमागच्छेत्तद्धोमीयमग्निहोत्रकल्पना श्रुता। तस्याः शेषत्वेनाहवनीयोग्निरस्य मुख्यत्वेनोक्त इति योजना। (आनन्दगिरिटीका मा० उ० ३)

करते समय ज्ञानेन्द्रियों के अन्तर्गत चक्षु को क्यों ग्रहण किया गया ? यह तो पुनरुक्ति हुई ।

तैजस अन्तःकरण विषयशून्य एवं केवल प्रकाशस्वरूप प्रज्ञा में विषयरूप से रहता है । तेज अर्थात् प्रकाशस्वरूप प्रज्ञा में रहने के कारण ही उसे तैजस कहा है ।

सूत्रात्मा एवं तैजस दोनों ही स्वप्नावस्था में जाग्रत् के संस्कारों के कारण अविद्यावश तत्तद्विषयों का भोग करते प्रतीत होते हैं, वस्तुतः यह भोग मिथ्या ही है ।

इस प्रकार अपञ्चीकृत महाभूतों से सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति का निरूपण किया गया । अब पञ्चमहाभूतों के पञ्चीकरण की प्रक्रिया स्पष्ट की जाएगी ।

पञ्चीकरणप्रक्रिया

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि । पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्च-स्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानाञ्च स्वस्वद्वितीयार्ध-भागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम् । तदुक्तम्—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥

—पञ्चदशी १।२७

अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्या-प्युपलक्षणत्वात् । पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः इति (ब्रह्मसूत्र २।४।२२) । न्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति, तदानीत्याकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च ॥१५॥

स्थूलभूत पञ्चीकृत है । पञ्चीकरण की प्रक्रिया के अनुसार आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी इन पांचों में से प्रत्येक के दो समान विभाग करके (इस प्रकार विभक्त) दश भागों में से प्रथम पञ्चभागों से प्रत्येक के समान रूप से चार भाग करके फिर (पहले विभक्त किए गए) प्रत्येक अर्धभाग में अपने अंश को छोड़ कर शेष पाँच भूतों के आधे के चतुर्थांश को मिलाया जाता है । इसीलिए कहा है—

"एक एक को दो बराबर भागों में विभक्त करके फिर पहले अर्धांशों को चार-चार भागों में बाँट कर तथा पञ्चभूतों के अर्धांश में अपने को छोड़ कर द्वितीयार्धांशों के चतुर्थांश को मिला देने से पञ्चभूत पञ्च हो जाते हैं।"

त्रिवृत्करण (तीन भूतों का मिश्रण) सिद्ध करने वाली श्रुति के आधार पर इस (पञ्चीकरण) की अप्रामाणिकता की आशङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि त्रिवृत्करणश्रुति पञ्चीकरण की भी उपलक्षण है। (पञ्चीकृत) पञ्चभूतों की पञ्चात्मकता समान रूप से रहने पर भी उनमें विशिष्ट अंश के आधार पर ही उन्हें उन-उन (आकाशादि) नामों से पुकारा जाता है। तभी (पञ्चीकृतावस्था में) आकाश में शब्द, वायु में शब्द और स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप, जल में शब्द, स्पर्श रूप और रस तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की अभिव्यक्ति होती है।

विवेक

पञ्चीकरण की प्रक्रिया वेदान्त की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया दवाइयों के मिश्रण (Mixture) के समान है।

जिस प्रकार कि विभिन्न औषधियों को मिलाकर एक औषधिविशेष तैयार की जाती है, उसी प्रकार पञ्च तत्त्वों के मिश्रण से स्थूलभूत पञ्च-तत्त्व तैयार किए जाते हैं। लोक में इन्हीं पञ्चीकृत तत्त्वों का दर्शन होता है।

पञ्चीकरण की प्रक्रिया को इस प्रकार समझाया जा सकता है कि मान लीजिए एक स्थान पर एक किलो चावल, एक किलो उड़द की दाल, एक किलो मूंग की दाल, एक किलो अरहर की दाल और एक किलो चने की दाल रखी है। पहले प्रत्येक वस्तु के बराबर दो हिस्से कर लेने चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक के आधा-आधा किलो के २ भाग हो जाएंगे। चावल आदि पाँचों के आधा-आधा किलो के पाँचों भागों को एक तरफ छोड़ कर शेष बचे आधे-आधे में से प्रत्येक के बराबर-बराबर चार-चार भाग कर लेने चाहिएं। इस प्रकार प्रत्येक का आधा भाग ५०० ग्राम होगा और इस प्रकार ५०० ग्राम के ५ भाग होंगे। इसके अतिरिक्त शेष बचे ५०० ग्राम के पांच भागों के प्रत्येक के १२५ ग्राम के चार भाग होंगे। इस विभाग के पश्चात् पांचों का मिश्रण करने पर आधा किलो (५०० ग्राम) प्रत्येक वस्तु का अपना होगा और सवा-सवा सौ (१२५) ग्राम प्रत्येक अन्य वस्तु का होगा। जैसे कि ५०० ग्राम चावल के साथ १२५ ग्राम, उड़द की दाल, १२५ ग्राम अरहर की दाल, १२५ ग्राम मूंग की दाल

और १२५ ग्राम चने की दाल होगी। यही बात अन्य वस्तुओं के साथ भी होगी, जैसे यदि उड़द की दाल ५०० ग्राम है तो शेष वस्तुएं १२५-१२५ ग्राम होंगी और इस प्रकार सबका वजन १-१ किलो ही होगा। यहां एक पञ्च-कोष्ठक चक्र से इसको और स्पष्ट किया जा सकता है—

पञ्चीकरण

आकाश	आकाश ½	वायु ¼	अग्नि ¼	जल ¼	पृथिवी ¼
वायु	वायु ½	आकाश ¼	अग्नि ¼	जल ¼	पृथिवी ¼
अग्नि	अग्नि ½	आकाश ¼	वायु ¼	जल ¼	पृथिवी ¼
जल	जल ½	आकाश ¼	वायु ¼	अग्नि ¼	पृथिवी ¼
पृथ्वी	पृथिवी ½	आकाश ¼	वायु ¼	अग्नि ¼	जल ¼

सुरेश्वराचार्य ने भी बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक के अन्तर्गत पञ्चीकरण की इस प्रक्रिया का उल्लेख किया है :—

'पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद् द्विधा ।
एकैकभागमादाय चतुर्धा विभजेत् पुनः ॥
एकैकं भागमेकस्मिन् भूते संवेशयेत् क्रमात् ।
ततश्चाकाशभूतस्य भागाः पञ्च भवन्ति हि ॥
वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत् ।
पञ्चीकरणमेतत्स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः ॥

पञ्चीकरण के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने स्वयं एक पूर्वपक्ष की शङ्का की है। इस शङ्का का आधार छान्दोग्योपनिषद् की त्रिवृत्करणश्रुति है। छान्दोग्योपनिषद् की इस श्रुति के अनुसार सत् तत्त्व से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति सिद्ध की गई है। छान्दोग्योपनिषत् में सृष्टि की इस त्रिवृत्करणप्रक्रिया की ओर सङ्केत करते हुए कहा गया है—

"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"।

(छा० ३।३।२)

"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि इति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ।"

(छा० ६।३।३)

त्रिवृत्करण की प्रक्रिया के अनुरूप अग्नि, जल एवं पृथिवी में से प्रत्येक का आधा अपना होता है तथा शेष दो का चौथाई-चौथाई भाग होता है। उदाहरणार्थ—

पृथिवी $\frac{1}{2}$	अग्नि $\frac{1}{4}$	जल $\frac{1}{4}$	पृथिवी
अग्नि $\frac{1}{2}$	पृथिवी $\frac{1}{4}$	जल $\frac{1}{4}$	अग्नि
जल $\frac{1}{2}$	अग्नि $\frac{1}{4}$	पृथिवी $\frac{1}{4}$	जल

इस प्रकार पूर्वपक्ष की शंका के अनुसार त्रिवृत्करणश्रुति एवं पञ्चीकरण की प्रक्रिया में विरोध प्रतीत होता है। इस शङ्का का समाधान ग्रन्थकार ने त्रिवृत्करणश्रुति को पञ्चीकरण की प्रक्रिया का उपलक्षण कहकर दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि त्रिवृत्करण श्रुति अपनी त्रिवृत्करणप्रक्रिया का भी बोध कराती है और पञ्चीकरण की प्रक्रिया का भी। सृष्टि के लिए पञ्चभूतों की अपेक्षा स्पष्ट है। अतः त्रिवृत्करण की प्रक्रिया पञ्चीकरण की भी उपलक्षण है। इस प्रकार त्रिवृत्करण-प्रक्रिया एवं पञ्चीकरण की प्रक्रिया में विरोध की शंका नहीं रहनी चाहिए।

यह शंका स्वाभाविक है कि पञ्चीकृत आकाशादि भूतों का मिश्रण होने के कारण आकाशादि को आकाशादि का नाम क्यों दिया जाए? दूसरे शब्दों में जब आकाश में अन्य अग्नि आदि भूतों का मिश्रण है तो इसे आकाश कहना कहाँ तक सङ्गत होगा? इन्हीं शंकाओं, को ध्यान में रखकर सदानन्द ने 'वैशेष्यात् तद्वादस्तद्वादः' इस सूत्र को उद्धृत किया है। इसके अनुसार आकाश में आकाश की अधिकता होने के कारण ही उसे आकाश नाम दिया गया है। यही बात अन्य जलादि चार भूतों के सम्बन्ध में भी है। उक्त तर्क से इस पक्ष का भी समाधान हो जाता है कि आकाश में जब शेष चार तत्त्व वर्तमान हैं तो उनके स्पर्शादि का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता? जब आकाश में आकाश का प्राचुर्य है तो वायु आदि का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? ग्रन्थकार के इस कथन के सम्बन्ध में कि पञ्चीकृत आकाश में शब्द की, वायु में शब्द,

तथा स्पर्श की, अग्नि में शब्द, स्पर्श एवं रूप की जल में शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस की तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध की प्रतीति होती है। यह शङ्का स्वाभाविक है कि जब वायु में पञ्चीकरण के अनुरूप अर्ध भाग वायु का है तो फिर स्पर्श के अतिरिक्त आकाश के गुण-शब्द की प्रतीति किस प्रकार होती है। यदि वायु में आकाश के शब्द गुण की प्रतीति होती है तो शेष तीन तत्त्वों—अग्नि, जल एवं पृथिवी तत्त्वों का प्रत्यक्ष भी होना चाहिए क्योंकि वे भी आकाश की तरह प्रत्येक अपनी $\frac{1}{8}$ मात्रा में वायु में स्थित हैं। इसी प्रकार आकाश में भी शेष चार तत्त्वों का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? इस शङ्का का समाधान यही है कि प्रत्येक तत्त्व में अपने पूर्ववर्ती तत्त्वों के प्रधान गुण कारणगुणन्याय से वर्तमान रहते हैं। तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रम—अव्यक्त से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी का है। यही कारण है कि वेदान्तसार के रचयिता ने वायु में आकाश के गुण शब्द की, अग्नि में अपने पूर्ववर्ती आकाश एवं वायु के गुणों—शब्द तथा स्पर्श की, जल में अपने पूर्ववर्ती आकाश, वायु एवं अग्नि के गुणों—शब्द, स्पर्श, एवं रूप की एवं पृथिवी में अपने पूर्ववर्ती आकाश, वायु, अग्नि एवं जल के गुणों—शब्द स्पर्श, रूप एवं स्पर्श की स्थिति वर्णित की है। इस प्रकार वायु में यदि शब्द गुण देखने में आता है तो वह कारणगुणन्याय के अनुरूप उसके कारण आकाश के ही कारण है। इसी प्रकार अन्य सब के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति का क्रम

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुवः स्वर्महर्जनस्तपः सत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरिविद्यमानानामतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपातालानामकानामधोऽधोविद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनाञ्चोत्पत्तिर्भवति। चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि कक्षवृक्षादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि प्रकामशकादीनि॥१६॥

इन पञ्चीकृत भूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य, इन ऊपर-ऊपर विद्यमान एवं अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल इन नीचे-नीचे स्थित लोकों की, ब्रह्माण्ड की, ब्रह्माण्ड के भीतर वर्तमान चार प्रकार के स्थूल शरीरों एवं उनके योग्य अन्नपानादिकों की

उत्पत्ति होती है। चार प्रकार के शरीर जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज हैं। जरायुज—जरायुओं (जेर) से उत्पन्न होने वाले मनुष्य और पशु आदि हैं। अण्डज—अण्डों से उत्पन्न होने वाले पक्षी एवं सूर्य आदि हैं। उद्भिज्ज—भूमि को फोड़कर पैदा होने वाले घास एवं वृक्ष आदि हैं। स्वेदज, पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ और मच्छर आदि हैं।

विवेक

सामान्य रूप से स्वर्ग, मर्त्य एवं पाताल के नाम से लोकत्रय की ही चर्चा मिलती है। प्रधान लोक ये तीन ही हैं। जिन चतुर्दश लोकों का यहां उल्लेख किया गया है वे उक्त लोकत्रय के ही विस्तृत भेद कहे जा सकते हैं। भू आदि ७ लोकों में 'भूलोक' यह पृथ्वीलोक ही है. 'भुवः' पृथिवी एवं सूर्य के मध्यवर्ती आकाश का नाम है। यह मुनियों एवं सिद्धों के निवास का स्थान है। 'स्वः' इन्द्र का लोक है। इसे ही स्वर्गलोक भी कहते हैं। यह सूर्य स्वयं ध्रुव नक्षत्र के बीच का स्थान है। 'महः' लोक ध्रुव के भी उपरिवर्ती लोक है। इसमें भृगु एवं अन्य ऋषियों का निवासस्थान बतलाया जाता है। 'जनः' ब्रह्मा के पुत्र सनत्कुमार का लोक है। 'तपः' लोक में देवतुल्य वैरागियों का निवास है। 'सत्य' लोक का दूसरा नाम ब्रह्मलोक है। इस लोक में ब्रह्मा का निवास है। अतल आदि सप्तलोक पृथ्वी के नीचे वर्तमान लोक हैं।

स्थूल प्रपञ्च का निरूपण

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद् विविधं राजमानत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते। एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्। अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते। तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद् वचनादानगमनविसर्गानन्दांश्चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहंकारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात् सङ्कल्पनिश्च-

याहङ्कार्यंचैतांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतो "जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः, (मा० उ० ३) इत्यादिश्रुतेः। अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्टयोस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत् तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चपूर्ववदभेदः। एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः ॥१७॥

यहाँ भी चार प्रकार का स्थूल शरीर एकत्व एवं अनेकत्व की बुद्धि का विषय होने के कारण बन या जलाशय के समान व्यष्टिरूप भी होता है। जिस प्रकार वन और जलाशय समष्टिरूप हैं तथा वृक्ष एवं जल व्यष्टिरूप हैं, उसी प्रकार उक्त स्थूल शरीर भी एकत्वबुद्धि का विषय होने के कारण समष्टिरूप है एवं अनेकत्व की बुद्धि का विषय होने के कारण व्यष्टिरूप है। स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य सब नरों का अभिमानी एवं विविध रूपों से सुशोभित होने के कारण वैश्वानर एवं विराट कहा जाता है। विराट् की इस समष्टि को स्थूल शरीर, अन्न विकाररूप होने के कारण अन्नमयकोश, स्थूल भोगों का आश्रय होने के कारण स्थूलशरीर एवं जाग्रत् कहा जाता है।

सूक्ष्मशरीर के अभिमान का त्याग न करके स्थूलशरीरादि में प्रवेश करने के कारण स्थूल प्रपञ्च की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'विश्व' कहा जाता है। स्थूल शरीर की यह व्यष्टि स्थूल शरीर, अन्न का विकार होने के कारण अन्नमयकोश एवं जाग्रत् कहलाती है। उस समय जाग्रत् अवस्था में ये विश्व और वैश्वानर दिक्, वात, अर्क, वरुण एवं अश्विनीकुमारों से क्रम से नियन्त्रित श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण इन पांच इन्द्रियों के द्वारा क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप एवं गन्ध को तथा अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम और प्रजापति, पायु एवं उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों से क्रम से वचन, आदान, गमन, विसर्ग एवं आनन्द का एवं चन्द्र, ब्रह्मा, शङ्कर और विष्णु द्वारा क्रम से नियन्त्रित मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त नामक आन्तरिक चार इन्द्रियों

१. इस स्थल पर 'अस्यैषा समष्टिः' का अर्थ किन्हीं विद्वानों ने 'अन्न की समष्टि' किया है (वेदान्तसार चौखम्बा पृ० ४६), किन्तु सन्दर्भ के अनुसार 'अस्य' का अर्थ 'विराट्' का ही ग्रहण करना उपयुक्त होगा। नृसिंहसरस्वती ने सुबोधिनी में इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है—"अस्यैषेति। अस्य विराट् चैतन्यस्यैषा पूर्वोक्ता ब्रह्माण्डान्तर्गतचतुर्विधस्थूलशरीरसमष्टिरेव स्थूलशरीरमित्यर्थः।" सुबोधिनी पृ० २३

से क्रमशः सङ्कल्प, विकल्प, निश्चय, अहंकार एवं स्मरणादि रूप समस्त विषयों का अनुभव करते हैं। इस सम्बन्ध में "जाग्रत् अवस्था में स्थित (चैतन्य) बाह्य विषयों से परिचित है" (मा० उ० ३) श्रुति प्रमाण है। इस अवस्था में भी इन स्थूल व्यष्टि एवं समष्टि का और इन से उपहित विश्व एवं वैश्वानर का वन एवं वृक्ष तथा उनसे अवच्छिन्न (वनावच्छिन्न एवं वृक्षावच्छिन्न) आकाश के समान तथा जलाशय एवं जल तथा उनमें प्रतिबिम्बित आकाश (जलाशयाकाश एवं जलाकाश) के समान पूर्ववत् अभेद है। इस प्रकार पञ्चीकृत भूतों से स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है।

विवेक

समष्टि की पद्धति से स्थूल प्रपञ्च का निरूपण करते हुए जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज एवं स्वेदज इस चतुर्विध स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य को ग्रन्थकार ने वैश्वानर एवं विराट् कहा है। वैश्वानर होने का हेतु यह दिया है कि वह सर्व नरों का अभिमानी है और विराट् होने का हेतु यह है कि वह विविध रूपों में राजमान है। यहां पहले वैश्वानर का स्वरूप विचारणीय है। वैश्वानर का वैश्वानरत्व इसलिए है कि वह समस्त प्राणियों के 'अहम्' (मैं) इस अभिमान का कारण है—

'सर्वप्राणिनिकायेषु अहमित्यभिमानवत्त्वात्'

(सुबोधिनी, पृ० २३)

वैसे वैश्वानर शब्द की व्युत्पत्ति के अनेक प्रकार हैं—

१. विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद् वैश्वानरः।
२. विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरो विश्वानर एव वैश्वानरः।

(शङ्कराचार्य) मा० उ० ३।

३. विश्वेषामयं नरो विश्वे वा नरा यस्य विश्वश्चासौ नरश्चेति (वा) विश्वानरः स एव वैश्वानरः।
४. विश्वेषां नरशब्दवाच्यानां चतुर्विधानां स्थूलानां देहानामधिष्ठाताऽयं वैश्वानरः।

(देखिए, आनन्दगिरि टीका, मा० उ० ३)

माण्डूक्योपनिषद् के अन्तर्गत चतुष्पात् आत्मा का वर्णन करते हुए वैश्वानरको स्थूलभोक्ता एवं प्रथम पाद कहा गया है :—

'जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः'।

(मा० उ० ३)

माण्डूक्योपनिषद् के उपर्युक्त कथन के अनुरूप वह स्थूलभुक् इसलिए है कि अपने १९ मुखों—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पञ्च वायु एवं मन, बुद्धि, अहङ्कार एवं चित्त—के द्वारा शब्दादि स्थूल विषयों का भोग करता है।

स्थूलशरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य को विविध रूप से सुशोभित होने के कारण विराट् कहा है। विराट्, संसार के समस्त प्राणियों में अनेक रूपों में स्थित रहता है, यही इसकी विराटता है। आनन्दगिरि ने विराट् के उक्त रूप की व्याख्या करते हुए कहा है—

'सर्वपिण्डात्मा समष्टिरूपो विराडुच्यते तेनात्मना विश्वेषामनन्यत्वाद् यथोक्तसमाससिद्धिरित्यर्थः' (आनन्दगिरि टीका, मा० उ० ३)

स्थूलशरीर की इस समष्टि को अन्नमयकोश इसलिए कहा है कि चतुर्विध स्थूलशरीर की उत्पत्ति माता-पिता द्वारा भुक्त अन्न से होती है तथा वह स्थूलशरीर, आत्मा का आच्छादक है। स्थूल भोगों का आधार होने के कारण इसे स्थूलशरीर इसलिए कहा गया है कि प्राणी रूप, रस, आदि स्थूल पदार्थों का भोग नेत्र एवं रसना आदि स्थूल शरीर के अवयवों द्वारा ही करता है। स्थूल शरीर की समष्टि को जाग्रत् इसलिए कहा गया है कि वह (स्थूल-शरीर) इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोक्ता है। स्थूल शरीर की यह समष्टि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीया में से जाग्रत् अवस्था में ही व्यवहार करने में समर्थ है, इसलिए इसे 'जाग्रत्' कहा गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीया में तो शरीर का भोग देखा नहीं जाता। स्थूल शरीर की समष्टि वैश्वानर को माण्डूक्योपनिषद् (३) में 'जागरितस्थानः' (जागरितं स्थानं यस्य सः शा० भा० : मा० उ० ३) कहा है। माण्डूक्योपनिषद् का कथन भी उपर्युक्त आशय को ही स्पष्ट करता है।

चतुर्विध स्थूलशरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को विश्व इसलिए कहा है कि वह सूक्ष्मशरीर का अभिमान छोड़ कर स्थूल शरीर में प्रवेश करता है। विश्व शरीर (समस्त शरीर) में प्रवेश करने के कारण ही विश्व (जीव) की विश्वता है। विश्व शब्द की व्युत्पत्ति—'विशति (प्रवेश करता है) इति विश्वः' भी उक्त अर्थ की ही वोधिका है। स्वामी रामतीर्थ ने भी विश्व की उक्त विश्वता के सम्बन्ध में कहा है—

'सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद् विश्व इत्युक्तं भवति' (विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० ११२)

विश्व (जीव) के सूक्ष्म शरीर को न त्याग कर स्थूलशरीर में प्रवेश करने की बात इसलिए कही गयी है कि जीव जन्मजन्मान्तर में अपने

स्थूलशरीर का त्याग तो कर देता है, किन्तु पूर्वजन्म के संस्कारों का त्याग नहीं करता।

ग्रन्थकार ने जाग्रत् अवस्था में विश्व एवं वैश्वानर को स्थूल विषयों का अनुभवकर्ता बतलाते हुए कहा है कि दिक्, वायु, सूर्य, वरुण एवं अश्विनी-कुमारों से नियन्त्रित, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण से शब्दादि का अनुभव करता है अर्थात् भोग करता है। यहाँ दिगादि से श्रोत्रादि के नियन्त्रण की बात सङ्गत ही है। दिक् से श्रोत्र का नियन्त्रित होना इसलिए संगत है कि दिक् श्रोत्र का अधिष्ठान है। दिक् का सम्बन्ध जिस विस्तृत आकाश से है, उसके किञ्चिदंश की स्थिति श्रोत्र में भी वर्तमान है। इसी प्रकार वात त्वक् का अधिष्ठातृदेवता है, सूर्य चक्षु का अधिष्ठातृ देवता है, वरुण रसना का अधिष्ठातृ देवता है तथा अश्विनीकुमार घ्राण के अधिष्ठातृ देवता हैं। ये त्वक् आदि भी वातादि अपने-अपने अधिष्ठातृ देवताओं से नियन्त्रित होते हैं।

महाप्रपञ्चनिरूपण

एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महान् प्रपञ्चो भवति। यथाऽवान्तरवनानां समष्टिरेको महद्वनं भवति यथा वाऽवान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः। एतदुपहितं वैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तरवनावच्छिन्नाकाशवदवान्तरजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवच्चैकमेव। आभ्यां महाप्रपञ्चतदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायः पिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० उ० ३।१४।१) इति वाक्यस्य वाच्यं भवति विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति।

एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः॥१८॥

इन स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणप्रपञ्चों की भी समष्टि एक महान् प्रपञ्च होता है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार अवान्तरवनों (वनखण्डों) की समष्टि एक महावन होती है, या जिस प्रकार अवान्तर जलाशयों (वापी, कूप एवं तडागादि) की समष्टि एक महाजलाशय होता है। इस महाप्रपञ्च की समष्टि तथा व्यष्टि से उपहित-चैतन्य वैश्वानर से लेकर ईश्वर तक (वैश्वानर विश्व, तैजस, हिरण्यगर्भ, प्राज्ञ एवं ईश्वर) उसी प्रकार एक अर्थात् अभिन्न हैं जिस प्रकार कि अवान्तरवनों से अवच्छिन्न आकाश एवं अवान्तर जलाशयों में प्रतिबिम्बित आकाश एक अर्थात् अभिन्न हैं। इस महाप्रपञ्च और उससे

उपहित चैतन्य से तप्त लौहपिण्ड के समान अभिन्न होकर अनुपहित (उपाधिरहित अर्थात् शुद्ध) चैतन्य 'यह सब ब्रह्म ही है' इस वाक्य का वाच्यार्थ है तथा भिन्न होने पर लक्ष्यार्थ है।

इस प्रकार वस्तु में अवस्तु के आरोप रूप अध्यारोप का सामान्य रूप से वर्णन किया गया है।

विवेक

इस प्रकरण के अन्तर्गत महाप्रपञ्च तथा उससे उपहित चैतन्य से अभिन्न अनुपहित (शुद्ध) चैतन्य की श्रुतिसम्मत प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य का आश्रय लिया गया है। ग्रन्थकार ने उपर्युक्त शुद्ध चैतन्य को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य का वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ दोनों सिद्ध किया है। यहाँ शुद्ध चैतन्य की वाच्यार्थता तथा लक्ष्यार्थता सिद्ध करने के लिए तप्त लौहपिण्ड का दृष्टान्त दिया गया है। यहाँ पहले शुद्ध चैतन्य की वाच्यार्थता के सम्बन्ध में विचार करेंगे। जिस प्रकार कोई व्यक्ति गर्म लोहपिण्ड से जलकर यह कहता है कि लोहा जलाता है (अयो दहति) तो यह "लोहा जलाता है" वाच्यार्थ होता है और इससे लौह तथा अग्नि के तादात्म्य का वोध होता है, क्योंकि विना अग्नि के लौह में दाहकता शक्ति है नहीं ? इस प्रकार 'अयो दहति' (लोहा जलाता है) इस वाक्य से अग्नि के साथ तादात्म्य को प्राप्त लौह जलाता है, इस वाच्यार्थ का वोध होता है। यह वाक्यार्थ वाक्य का अभिन्न (अविविक्त) अर्थ है। उसी प्रकार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म ही है) इस श्रुतिवाक्य के वाच्यार्थ के अनुसार 'सर्वं इदम्' (यह सब) से वोध्य महाप्रपञ्च तथा ब्रह्म से वोध्य महाप्रपञ्चोपहित चैतन्य से अभिन्न शुद्ध चैतन्य का वोध होता है और इस प्रकार अनुपहित शुद्ध चैतन्य (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) इस वाक्य का वाच्यार्थ होता है। अव लक्ष्यार्थ की प्रक्रिया को लीजिए। लक्ष्यार्थ की प्रक्रिया के अन्तर्गत 'मुख्यार्थवाधे तद्योगे' (काव्यप्रकाश) के अनुसार मुख्य अर्थ का त्याग तथा उसका योग दोनों रहते हैं। इस प्रकार लक्ष्यार्थ की प्रक्रिया के अनुसार 'अयो दहति' (लोहा जलाता है) इस वाक्य का वाच्यार्थ तो जैसा कि अभी कहा गया, 'लोहा जलाता है, किन्तु लक्ष्यार्थ 'लोहे की अग्नि जलाती है' यह है। क्योंकि लौह में दाहकता शक्ति नहीं है, इसीलिए लक्षणा की अपेक्षा है। अतः लक्षणा की प्रक्रिया के अनुसार लौह रूप मुख्यार्थ का वाध होता है और लौह से सम्बद्ध (विशिष्ट) अग्नि जलाता है, इस लक्ष्यार्थ का वोध होता है। इस अर्थ में लौह रूप मुख्यार्थ का वाध भी हो जाता है और लौह से सम्बन्ध भी बना

रहता है। इस प्रकार यहाँ लक्षणा के लिए आवश्यक 'मुख्यार्थबाध' और 'तद्योग' दोनों ही मिलते हैं। अब इसी बात को प्रकृत प्रकरण में समझना चाहिए। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य में दो अंश हैं—एक 'सर्वम् इदम्' और दूसरा 'ब्रह्म'। यहाँ 'सर्वम् इदम्' यह महाप्रपञ्च का द्योतक है और ब्रह्म शुद्ध चैतन्यांश का। ये दोनों पृथक्-पृथक् (विविक्त रूप से) अपने अर्थों का बोध कराते हैं। किन्तु महाप्रपञ्च में शुद्ध चैतन्य होने की योग्यता नहीं है। इसीलिए लक्षणा के अनुसार 'सर्वम् इदम्' अंश से बोध्य महाप्रपञ्च का बाध होकर महाप्रपञ्च के साथ अद्वैतता को प्राप्त शुद्ध चैतन्य का बोध होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त दृष्टि से शुद्ध चैतन्य को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) का वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ दोनों बतलाया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि काव्यशास्त्र में अभिधा शक्ति से बोध्य वाच्यार्थ का क्षेत्र न होने पर ही लक्षणा का अवसर होता है, किन्तु यहाँ वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ दोनों से ही प्रयोजन सिद्धि बतलाई गई है।

यहाँ तक सच्चिदानन्द अद्वैतरूप वस्तु में समस्त प्रपञ्च रूप अवस्तु के आरोप का निरूपण किया गया है। अद्वैतसिद्धि का यह आधारभूत सिद्धान्त है।

पुत्रादि को आत्मत्वसाधनता

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते। अतिप्राकृतस्तु 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादिश्रुतेः स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति।

चार्वाकस्तु 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' (तै० उ० २।१।१) इत्यादिश्रुतेः प्रदीप्तगृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात्स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति।

अपरश्चार्वाकः 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः' (छा० उ० ५।१।७) इत्यादिश्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोऽहं बधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति।

अपरश्चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' (तै० उ० २।२।१) इत्यादिश्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावान् इत्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति।

अन्यस्तु चार्वाकः 'अन्योन्तर आत्मा मनोमय' (तै० उ० २।३।१) इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं सङ्कल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति ।

बौद्धस्तु 'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय' (तै० उ० २।४।१) इत्यादिश्रुतेः कर्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्त्ताऽहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति ।

प्राभाकरतार्किकौ तु 'अन्योऽन्तर आत्माऽनन्दमय' (तै० उ० २।५।१) इत्यादिश्रुतेर्बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनादहमज्ञोऽहमज्ञानीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानमात्मेति वदतः ।

भाट्टस्तु 'प्रज्ञानघन एवानन्दमय' (माण्डू० उ० ५) इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदति ।

अपरो बौद्धः । 'असदेवेदमग्र आसीत्' (छा० उ० ६।२।१) इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति ॥१८॥

अत्र प्रत्यगात्मा (देहादि से व्यतिरिक्त आत्मा) में यह वस्तु (इदम्) आत्मा (अयम्) है, इस प्रकार व्यक्ति आरोप करता है । यह (यहाँ) विशेष रूप से कहा जाता है । अत्यन्त सामान्य व्यक्ति 'पुत्र आत्मा ही होता है' इत्यादि श्रुति वाक्य के आधार पर अपने-आपके समान अपने पुत्र में भी प्रेम देखने के कारण तथा पुत्र के पुष्ट एवं नष्ट होने पर मैं ही पुष्ट और नष्ट हुआ हूँ, इत्यादि अनुभव होने के कारण 'पुत्र आत्मा है' इस प्रकार कहता है ।

चार्वाक 'वह यह पुरुष अन्न रस का विकार है' (तै० उ० २।१।१) इस श्रुति के आधार पर जलते हुए घर से अपने पुत्र को भी छोड़ कर अपने आप का निकलना देख कर और 'मैं स्थूल हूँ' एवं 'मैं दुर्बल हूँ' इत्यादि अनुभव होने के कारण 'स्थूल शरीर आत्मा है' ऐसा कहता है ।

दूसरा चार्वाक वे प्राण (इन्द्रियाँ) प्रजापति के पास जाकर कहने लगे (छा० उ० ५।१।७) इत्यादि श्रुति के आधार पर इन्द्रियों के अभाव में शरीर के चलने का अभाव होने के कारण 'मैं काना हूँ' और 'मैं बहिरा हूँ' इत्यादि अनुभव होने के कारण 'स्थूल शरीर आत्मा है' ऐसा कहता है ।

एक दूसरा चार्वाक 'आन्तरिक आत्मा (इनसे) अन्य प्राणरूप है' (तै० उ० २।२।१) इस श्रुति के आधार पर प्राण के अभाव में इन्द्रियादि के व्यापार के असम्भव होने के कारण और 'मैं भूखा हूँ' 'मैं प्यासा हूँ' इत्यादि अनुभव होने के कारण 'प्राण आत्मा है' ऐसा कहता है।

एक और चार्वाक 'आन्तरिक आत्मा (इन सब से अन्य) मन रूप है' (तै० उ० २।३।१) इत्यादि श्रुति के आधार पर मन की सुप्तावस्था में प्राणादि का अभाव होने के कारण और 'मैं सङ्कल्प करने वाला हूँ' 'मैं विकल्प करने वाला हूँ' इत्यादि अनुभव होने के कारण मन आत्मा है, ऐसा कहता है।

बौद्ध तो 'आन्तरिक आत्मा (इन सब से अन्य) विज्ञानरूप है' (तै० उ० २।४।१) इत्यादि श्रुति के आधार पर कर्ता के अभाव में करण (इन्द्रियों) की शक्ति का अभाव होने के कारण 'मैं कर्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ' इत्यादि अनुभव होने के कारण 'बुद्धि आत्मा है' ऐसा कहता है।

प्राभाकर (मीमांसक) और नैयायिक तो 'आन्तरिक आत्मा (इन सब से अन्य) आनन्दरूप है' (तै० उ० २।५।१) इत्यदि श्रुति के आधार पर, बुद्ध्यादि का अज्ञान में लय देखने के कारण और 'मैं अज्ञ हूँ' 'मैं अज्ञानी हूँ' इत्यादि अनुभव होने के कारण 'अज्ञान आत्मा है' ऐसा कहते हैं।

भाट्ट (मीमांसक) तो प्रज्ञान घन ही आनन्दरूप (आत्मा) है (मा० उ० ५) इत्यादि श्रुति के आधार पर सुषुप्ति में प्रकाश-अप्रकाश के होने के कारण और 'अपने आपको मैं नहीं जानता हूँ' इत्यादि अनुभव होने के कारण अज्ञानोपहित चैतन्य आत्मा है, ऐसा कहता है।

एक दूसरा (शून्यवादी) बौद्ध 'पहिले असत् ही था' (छा० उ० ६।२।१) श्रुति के आधार पर सुषुप्ति में सब का अभाव होने से तथा सुषुप्ति अवस्था में मैं नहीं था, इस प्रकार (सो कर) उठने वाले को स्वविषयक अभाव के स्मरणरूप विषय का अनुभव होने के कारण शून्य आत्मा है, ऐसा कहता है।

विवेक

इस प्रकरण के अन्तर्गत प्रत्यगात्मा अर्थात् अन्तरात्मा या जीवात्मा में पुत्रादि के आरोप का वर्णन किया गया है। यहां यह स्मरण रखना अपेक्षित है कि जीवात्मा में पुत्रादि का आरोप कहना पूर्वपक्ष ही है, सिद्धान्तपक्ष नहीं। आगे चलकर ग्रन्थकार के द्वारा इस पूर्वपक्ष का निराकरण किया जाएगा। ग्रन्थकार के द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में आरोप का जो क्रम प्रस्तुत किया गया है वह क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर है।

प्रथम मत का उल्लेख करते हुए, जिस अत्यन्त साधारण व्यक्ति का दृष्टान्त दिया गया है, वह कोई अनात्मज्ञ व्यक्ति ही हो सकता है। इस मत को प्रमाणित करने के लिए जिस श्रुति को उद्धृत किया गया है, वह इस प्रकार है—"आत्मा वै जायते पुत्रः"।

द्वितीय मत चार्वाक का है। ग्रन्थकार ने चार्वाक के नाम से चार मतों का उल्लेख किया है। द्वितीय मत स्थूलशरीरात्मवादी चार्वाक का है। स्थूल शरीरात्मवादी चार्वाक के मत के समर्थन में ग्रन्थकार ने पूर्वपक्ष के रूप में जिस श्रुति को उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—

"स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। (तै० उ० २।१।१)

चार्वाक शब्द के निम्नलिखित अर्थ हैं—

१. बार्हस्पत्यदर्शन के प्रवर्तक बृहस्पति का एक शिष्य चार्वाक था। जिसने भौतिकतावादी इस दर्शन का प्रचार किया था। उसके अनुयायी भी चार्वाक कहलाए थे। (राजतरङ्गिणी ४।३४५)

२. महाभारत में चार्वाक नाम के एक राक्षस का भी उल्लेख मिलता है जो दुर्योधन का मित्र था और जिसने एक भिक्षुक ब्राह्मण का रूप ग्रहण कर लिया था, किन्तु जिसका ब्राह्मणों द्वारा वध कर दिया गया था। हो सकता है, भौतिकतावादी चार्वाक राक्षस के आधार पर ही भौतिकतावादी चार्वाक दर्शन का नाम प्रसिद्ध हुआ हो।[1]

३. चर् (गतिभक्षणयोः) धातु से चार्वाक शब्द की व्युत्पत्ति सिद्ध करने वाले विद्वान् भोगप्रधानवादी दर्शन को चार्वाक दर्शन का नाम देते हैं।

४. व्हिटने ने चार्वाक को चारुवाक् दर्शन कहा है। इस विद्वान् का कथन है कि चारुवाक् का अर्थ मधुरवाणी है और भोगप्रधान होने के कारण चार्वाक दर्शन की वाणी प्रायशः मधुर लगती है। इस तर्क के आधार पर चारुवाक् ही चार्वाक के रूप में प्रसिद्ध हुआ कहा जा सकता है।

५. बृहदारण्यकोपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्र में भी चार्वाक दर्शन का आधार विद्वानों ने ढूंढ निकाला है—

'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीति' (बृ० २।४।१२)

उपर्युक्त मन्त्र में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कह रहे हैं कि इन्हीं पाँचों भूतों के मिलने से ज्ञान उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता

---

१. दे० महाभारत १।३४६, ६।६१८, १२।१४१४

है। मृत्यु के पश्चात् ज्ञान नहीं रहता इस प्रकार याज्ञवल्क्य के उक्त उपदेश के अनुसार भौतिक तत्त्वों की ही महत्ता सिद्ध होती है।

६. वाल्मीकि रामायण में भी उन लोकायतिकों का उल्लेख मिलता है जो मिथ्या बातों का प्रचार करते थे और अपने-आपको ज्ञानी समझते थे।[1]

तृतीय मत इन्द्रियात्मवादी चार्वाक का है। इन्द्रियात्मवादी चार्वाक के मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए निम्नलिखित श्रुति को उद्धृत किया गया है—

ते ह प्राणा प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन् को नः श्रेष्ठ इति तान् होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति। (छा० उ० ५।१।१)

यहाँ प्राण शब्द का अर्थ इन्द्रिय ग्रहण किया गया है, न कि प्राण वायु।

चतुर्थ मत प्राणात्मवादी चार्वाक का है। प्राणात्मवादी चार्वाक के मत के सम्बन्ध में जिस श्रुति को उद्धृत किया गया है वह इस प्रकार है—

अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव... (तै० उ० २।२।१)

पञ्चम मत, जो मन आत्मवादी चार्वाक का है, के अनुसार मन के सो जाने पर प्राणादि का अभाव कहा गया है। यहाँ मन की सुप्तावस्था से मन की मूर्च्छा से तात्पर्य है। किन्तु यहाँ यह आशङ्का हो सकती है कि व्यक्ति के मूर्च्छित होने पर प्राणादि का अभाव नहीं देखा जाता। अतः यहाँ प्राणादि के अभाव से प्राणादि के अभाव का सादृश्य अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। मन आत्मवादी के पक्ष के समर्थन में उद्धृत श्रुति इस प्रकार है—

'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः।' तै० उ० २।३।१।

षष्ठ मत विज्ञानवादी बौद्ध का है, जिसके प्रधान आचार्य असङ्ग तथा वसुवन्धु हैं। विज्ञानवादी के मतानुसार एकमात्र विज्ञानमात्र की ही सत्यता स्वीकार की गई है। यहां तक कि विज्ञानवादी बौद्ध के अनुसार जगत् के बाह्य-विषय विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसीलिए शङ्कराचार्य ने विज्ञान-वादी के मत को प्रस्तुत करते हुए कहा है।

'तस्मिंश्च विज्ञानवादे बुद्ध्यारूढेन रूपेणान्तर एव प्रमाणप्रमेयफलव्यवहारः सर्वं उपपद्यते।'

(ब्र० सू० शा० भा० २।२।२८)

---

१. वाल्मीकिरामायण, अयोध्याकाण्ड, १००-३८-३९

विज्ञानवादी की उपर्युक्त विचारधारा का आधार ग्रन्थकार द्वारा निम्नलिखित श्रुति को माना गया है—

अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः।

(तै० उ० २।२।१)

विज्ञानमात्र को सत्य मानने वाले विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार बुद्धि को आत्मा कहना सङ्गत ही है, क्योंकि विज्ञानवादी दर्शन में समस्त विज्ञान चित्त रूप ही हैं। चित्त ही बुद्धि है और चित्त के अतिरिक्त किसी तत्त्व की सत्ता विज्ञानवादी दर्शन में नहीं स्वीकार की गई है। इसीलिए लङ्कावतारसूत्र में कहा गया है—

'दृश्यते न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥'

(लङ्कावतारसूत्र ३।३३)

लङ्कावतारसूत्र के उपर्युक्त श्लोक के अनुसार चित्तमात्र (बुद्धि) समस्त देहभोगों का प्रतिष्टान है। ग्रन्थकार ने भी 'अहं कर्ता', 'अहं भोक्ता' मैं कर्ता हूँ,, मैं भोक्ता हूँ, कह कर बुद्धि में ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की अनुभूति सिद्ध की है।

सप्तम मत के प्रवर्तक प्रभाकर मत के अनुयायी मीमांसक तथा नैयायिक हैं। ये दोनों आत्मा को आनन्दरूप सिद्ध करते हुए तथा बुद्धि, सुख, दुःख एवं इच्छादि का अज्ञान में लय देखते हुए, अज्ञान को ही आत्मा कहते हैं। इस मत के अनुसार सुषुप्ति में आत्मा को किसी विषय का ज्ञान नहीं होता। इसी लिए आत्मा को अज्ञानरूप कहा है—

सुषुप्तौ बुद्ध्यादीनां ज्ञानसुखदुःखेच्छादीनामज्ञाने ज्ञानभिन्न आत्मनि लयदर्शनादभावदर्शनान्न ज्ञानमात्मेति बुद्ध्यादीनामिति।

(विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० १९७)

इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने बुद्धि के अज्ञान में लय होने पर होने वाली अनुभूति का उदाहरण 'मैं अज्ञ हूँ', 'मैं अज्ञानी हूँ' दिया है। इसका आशय यह है कि जब किसी व्यक्ति को किसी वस्तु या विषय का ज्ञान नहीं होता तो वह यही कहता है कि 'मैं इस वस्तु या विषय को नहीं जानता। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति की बुद्धि तद्वस्तुविषयक अज्ञान में ही लीन होती है।

प्राभाकर मीमांसक एवं नैयायिक के मत को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने निम्नलिखित श्रुति को उद्धृत किया है—

'अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः। 'तेनैष पूर्णः'।

(तै० उ० २।५।१)

अष्टम मत के अनुयायी कुमारिलभट्ट एवं उनके अनुयायी मीमांसक अज्ञानोपहित चैतन्य को आत्मा कहते हैं। चैतन्य की अज्ञानोपहितता के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने सुषुप्ति का उदाहरण दिया है। सुषुप्ति में ज्ञान के प्रकाश एवं अज्ञान के अप्रकाश की स्थिति देखी जाती है। ज्ञान का प्रकाश चैतन्य का स्वरूप है। इसीलिए चैतन्य को अज्ञानोपहित कहा है। ज्ञानाज्ञान की स्थिति का प्रमाण सुषुप्ति के पश्चात् अनुभूत उस स्थिति में देखा जा सकता है जब सुषुप्ति से उठने के पश्चात् व्यक्ति, 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिद-वेदिषम्' (मैं सुखपूर्वक सोया (किन्तु) कुछ नहीं जाना) कहता है। यहाँ मैं सुख-पूर्वक सोया, यह अनुभूति ज्ञान के प्रकाश की सूचक है और किन्तु 'कुछ नहीं जाना' यह अनुभूति अज्ञानरूप अप्रकाश की सूचक है। इस प्रकार सुषुप्ति में चैतन्य का अज्ञानोपहित होना सिद्ध हो जाता है। अज्ञानोपहित चैतन्य के सम्बन्ध में 'स्वयमहं न जानामि' (मैं अपने आपको नहीं जानता) इस अनु-भूति का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। 'स्वयमहं न जानामि' (मैं अपने आपको नहीं जानता) सुषुप्ति की वह अनुभूति है, जिसमें आत्मा का अस्तित्व तो रहता है, किन्तु ज्ञातृत्व नहीं रहता।

नवम मत शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध का है। इसके प्रमुख दार्शनिक नागार्जुन हैं। शून्यवादी बौद्ध आत्मा को द्रव्य रूप न मान कर सर्वाभावरूप स्वीकार करता है। यह सर्वाभावरूपता ही शून्यता है। शून्यवादी के मत को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने सुषुप्ति अवस्था की अभावरूपता का दृष्टान्त दिया है। ग्रन्थकार का कथन है कि जब व्यक्ति सुषुप्ति से उठता है तो उसे सुषुप्ति अवस्था का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। इसीलिए वह कहता है कि मुझे सुषुप्ति का कुछ भी ज्ञान नहीं है। इस प्रकार सुषुप्ति के पश्चात् वह यही अनुभव करता है कि मैं सुषुप्ति में नहीं था। इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था अभावरूपता की ही स्थिति है। इस तर्क के आधार पर आत्मा शून्यता ही है। शून्यता का ही दूसरा नाम प्रतीत्यसमुत्पाद है—

'यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्षते'।

(माध्यमिककारिका २४·१८)

शून्यवादी के मत के समर्थनार्थ ग्रन्थकार ने निम्नलिखित श्रुति को उद्धृत किया है—

तदेके आहुरसदेवेदमग्र आसीदमेवाद्वितीयं तस्माद्सन्तः सज्जायत।

(छा० उ० ६।२।१)

इस प्रकार पूर्वपक्ष के रूप में ग्रन्थकार ने पुत्र से लेकर शून्य तक की आत्मस्वरूपता का निरूपण किया है। जैसा कि कहा जा चुका है, यहाँ

उत्तरोत्तर स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्ति स्पष्ट प्रतीत होती है, क्योंकि पुत्र की अपेक्षा स्थूलशरीर, स्थूलशरीर की अपेक्षा इन्द्रियाँ, इन्द्रियों की अपेक्षा प्राण, प्राण की अपेक्षा मन, मन की अपेक्षा बुद्धि, बुद्धि की अपेक्षा अज्ञान, अज्ञान की अपेक्षा अज्ञानोपहित चैतन्य एवं अज्ञानोपहित चैतन्य की अपेक्षा शून्य सूक्ष्म है। ग्रन्थकार ने उपर्युक्त पूर्वपक्षों को प्रस्तुत करते हुए श्रुति, युक्ति, एव अनुभव का आश्रय लिया है। अब पूर्वपक्षों के श्रुत्यादि का खण्डन करते हुए सिद्धान्त मत को प्रस्तुत किया जाएगा।

पुत्रादि के आत्मत्व का खण्डन

एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु, पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तर-श्रुतियुक्त्यनुभवाभासैरात्मत्वबाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव। किञ्च, प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्त्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्य्यन्तस्य जडस्य चैतन्य-भास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्त-च्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिल-मनात्मैव। अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक्-चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः। एवमध्यारोपः ॥२०॥

इन पुत्रादिकों का अनात्मत्व कहा जाता है। इन अतिसामान्यवादी आदि के द्वारा कहे गए श्रुति, युक्ति एवं अनुभवाभासों में, पूर्व पूर्व कहे गए श्रुति, युक्ति एवं अनुभवाभासों के द्वारा (प्रतिपादित पुत्रादि के) आत्मत्व का उत्तरोत्तर श्रुति, युक्ति एवं अनुभवाभासों के द्वारा बाध देखा जाने के कारण पुत्रादि का अनात्मत्व स्पष्ट ही है तथा आन्तरिक (प्रत्यक्) सूक्ष्म, अचक्षु, अप्राण, अमना एवं अकर्ता, चैतन्य चित्मात्र एवं सत् (नित्य आत्मा) है, इत्यादि प्रबल श्रुति से विरोध होने के कारण इस—पुत्रादि से लेकर शून्यपर्यन्त जड (अनात्मत्व) प्रपञ्च के चैतन्य से भासित होने के कारण तथा घटादि के समान अनित्य होने के कारण एवं 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ज्ञानी के अनुभव की प्रबलता होने के कारण उन उन (पूर्वोक्त) श्रुति, युक्ति एवं अनुभवाभासों के बाधित होने के कारण भी पुत्र से लेकर शून्य तक समस्त (प्रपञ्च) अनात्मा ही है। इसलिए उस उस (प्रपञ्च) को भासित करने वाला, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं सत्यस्वभाव वाला प्रत्यक्चैतन्य (आन्तरिक चैतन्य) ही आत्मतत्त्व है। ऐसा वेदान्त के विद्वानों का अनुभव है। इस प्रकार अध्यारोप है।

विवेक

पुत्र से लेकर शून्यपर्यन्त के आत्मत्व का विचार ग्रन्थकार ने पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया था। पुत्र से लेकर अज्ञानोपहित चैतन्य तक के सम्बन्ध में जो श्रुति, युक्ति एवं अनुभवाभास प्रस्तुत किए गए हैं, उनका निराकरण उत्तरोत्तर प्रस्तुत श्रुति आदि से स्वतः हो गया है। वहां केवल शून्यता की आत्मता का निराकरण नहीं हुआ था। पता नहीं, ग्रन्थकार ने शून्यता की आत्मता का निराकरण न होने पर भी 'एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु ......आत्मत्वबाधदर्शनात् पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव'' क्यों कह दिया ? यहाँ ग्रन्थकार पुत्र से लेकर शून्य तक के अनात्मत्व का प्रतिपादन करते हुए आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार पुत्रादि के अनात्मत्व के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने ये हेतु दिए हैं—

१. पहले उद्धृत श्रुतियों का प्रबल श्रुतियों से विरोध देखा जाता है।[1]

पुत्रादि की आत्मता की साधक श्रुतियाँ	बाधक श्रुतियाँ
१. आत्मा वै जायते पुत्रः। (कौ० उ० २।११)	१. कश्चित् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत। (क० उ० ४।१)
२. स एष पुरुषोऽन्नरसमयः। (तै० उ० २।११)	२. अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्। (बृ० उ० ३।८।८)
३. ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः। (छा० उ० ५।१।७)	३. अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणि-पादम्। (मु० उ० २।१।२)
४. अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः (तै० उप० २।३।१) अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। (तै० उ० २।३।१)	४. अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः। मु० उ० (२।१।२)
५. अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः (तै० उ० २।५।१)	५. अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता। (श्वे० उ० १।९)
६. अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः। (तै० प० २।५।१)	६. न चास्ति वेत्ता मम चित् सदाऽहम्। (कैवल्य० २१)
७. असदेवेदमग्र आसीत् (छा० उ० ६।२।१)	७. तदेव सौम्येदमग्र आसीत् (छा० उ० ६।२।१)

२. पुत्र से लेकर शून्यपर्यन्त समस्त प्रपञ्च जड़ होने पर भी चैतन्य रूप से भासित होता है, किन्तु वह घटादि के समान अनित्य है।

३. अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूं), इस प्रकार के ज्ञानी के अनुभव की प्रबलता के कारण पूर्वोक्त श्रुति, युक्ति एवं अनुभवाभासों का बाध होता है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि उपर्युक्त प्रथम हेतु के अन्तर्गत प्रदर्शित प्रबल श्रुतियों के द्वारा पूर्वोक्त श्रुतियों का बाध होने के कारण पूर्वोक्त (आत्मा वै जायते पुत्रः) आदि श्रुतियों की अप्रामाणिकता सिद्ध होती है, किन्तु श्रुति के एक भाग को अप्रामाणिक कहना तथा दूसरे को प्रामाणिक कहना सङ्गत नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में भी यही समाधान है कि यहाँ उद्धृत श्रुतियों की प्रामाणिकता सोपानारोहणन्याय से ही है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति सोपान पर पैर रख कर ही अपने गन्तव्य को प्राप्त करता है और गन्तव्य पर पहुँचने पर सोपानों का महत्त्व नहीं होता। एक सोपान से दूसरे सोपान पर पहुंचने पर पहले का वैयर्थ्य सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार जब व्यक्ति लक्ष्य पर पहुँच जाता है तो सभी सोपानों की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी उत्तरोत्तर श्रुतियों द्वारा पूर्व-पूर्व श्रुतियों का बाध होता चलता है, किन्तु आत्मतत्त्व का प्रतिपादन होने पर सभी की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है, यही बात अरुन्धती न्याय से भी समझी जा सकती है। अरुन्धती (जो अत्यन्त लघु तारा है) का बोध कराने के लिए पहले व्यक्ति को चन्द्रमा को ही अरुन्धती बतलाया जाता है। इसके बाद जब व्यक्ति चन्द्रमा को देख लेता है तो उसे चन्द्रमा का समीपवर्ती नक्षत्र दिखलाया जाता है और कहा जाता है कि यही अरुन्धती है। तदनन्तर सात तारों (सप्तर्षिमण्डल) को ही अरुन्धती कहा जाता है, किन्तु फिर उन सात में से तीन नक्षत्रों को अरुन्धती कह कर फिर उन तीन के मध्यवर्ती को अरुन्धती कहा जाता है। इसके पश्चात् उन तीनों में जो सूक्ष्मतम—अरुन्धती है, उसको बतलाया जाता है।[1]

यद्यपि इन सब में विरोध की प्रतीति होती है, किन्तु वस्तुतः विरोध

---

१. देखिए गोभिलीय गृह्यसूत्र '२।३।८।१०, पारस्करगृह्यसूत्र १।८।१९, आश्वलायन गृह्यसूत्र १।७।२२' तथा ब्रा० सू० शा० भा० १।१।८ तथा १।१।१२।

नहीं है, क्योंकि चन्द्रादि अरुन्धती का बोध कराने में साधक हैं, बाधक नहीं।[1]

इसी प्रकार यही बात पुत्रादि के आत्मत्व के विरोध के सम्बन्ध में कही जा सकती है। पुत्र आदि का आत्मत्व भी क्रमशः आत्मतत्त्व के बोध में सहायक ही है। क्योंकि पुत्रादि के आत्मत्व के निरूपण में क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्ति स्पष्ट प्रतीत होती है।

पुत्रादि की अनात्मता सिद्ध करने के पश्चात् ग्रन्थकार ने आत्मतत्त्व की स्थापना करते हुए कहा है कि विभिन्न अनात्मप्रपञ्च का अवभासक आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं सत्य स्वभाववाला एवं प्रत्यक्चैतन्यस्वरूप (अन्तः-करण में अनुस्यूत) है। यहां आत्मा को अवभासक इसलिए कहा है कि स्वतः प्रकाशस्वरूप होने के कारण आत्मा अनात्मविषयों का प्रकाशक है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार दीपक इतर वस्तुओं को अपने प्रकाश से अवभासित करता है।

अपवाद-निरूपण

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्या वस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। तदुक्तम्—

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥ इति

तथा—एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं भोग्यरूपान्न-पानादिकमेतदायतनभूतभूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेण तत्कारणभूता-ज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति। एतदज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यञ्चेश्वरा-दिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति॥२१॥

रज्जु में विवर्त रूप से स्थित सर्प के सम्बन्ध में रज्जुमात्र की सत्यता के समान वस्तु (आत्मस्वरूप) में विवर्त रूप से स्थित अवस्तु एवं अज्ञानादिप्रपञ्च के सम्बन्ध में भी (आत्मतत्त्वस्वरूप) वस्तुमात्र की ही सत्यता है। जैसा कि कहा है—

तत्त्वसहित (किसी वस्तु का) परिवर्तन 'विकार' कहलाता है। तत्त्वरहित परिवर्तन 'विवर्त' है।

---

१. रामतीर्थ ने 'अरुन्वतीन्याय' के समकक्ष 'मुञ्जादिषीकाग्रहणन्याय' की चर्चा की है। विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० ११९

अतः इन भोगों का आश्रय समस्त चतुर्विध स्थूलशरीर भोग्यरूप अन्नपानादि इनके आयतनभूत भू आदि (पूर्वोक्त चतुर्दशभुवन और इनका आश्रयभूत ब्रह्माण्ड यह सब इनके कारण रूप पञ्चीकृतभूतमात्र होता है) ये शब्द आदि विषयों के सहित पञ्चीकृत भूत, सूक्ष्मशरीरसमूह यह सब, इनके कारण रूप अपञ्चीकृत भूतमात्र होता है। ये सत्त्वादिगुणसहित अपञ्चीकृत (भूत) उत्पत्ति के व्युत्क्रम से अपना कारणभूत अज्ञानोपहित चैतन्यमात्र होता है। यह अज्ञानोपहित चैतन्य और ईश्वरादिक इनका आधारभूत (अज्ञान की) उपाधि से रहित चैतन्यरूप तुरीय ब्रह्ममात्र होता है।

विवेक

इससे पूर्व के प्रकरण तक ब्रह्म में जगत् के अध्यारोप का विवेचन किया जा चुका है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्म में जगत् का आरोप अद्वैत-वेदान्त का सिद्धान्त मत नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि ब्रह्म में जगत् का आरोप सिद्ध होने पर तो द्वैत की सिद्धि होगी। अतः यहाँ ग्रन्थकार अद्वैतसिद्धि के निमित्त अपवाद की प्रक्रिया से यह सिद्ध कर रहे हैं कि जगत् का आरोप मिथ्या है। अपवाद के सम्बन्ध में विवेचन करने से पूर्व इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विचार कर लेना चाहिए। सुबोधनीकार ने अपवाद शब्द का अर्थ नाश किया है। उनका कथन है कि जिसप्रकार रज्जु-सर्प के उदाहरण के अन्तर्गत रज्जु के स्वरूप का परित्याग हुए बिना सर्प के आकार से भासमान रज्जु के विवर्त का अपवाद अर्थात् नाश होता है और इस नाश के फलस्वरूप अधिष्ठानरूप रज्जुमात्र की स्थिति देखी जाती है उसी प्रकार चित् तत्त्व के विवर्तरूप प्रपञ्च का नाश हो जाता है एवं उसके फल-स्वरूप अधिष्ठानरूप चित्तत्व की ही स्थिति देखी जाती है।[1] अतः जिस प्रकार रज्जुसर्प एवं शुक्तिरजत के उदाहरणों में रज्जु एवं शुक्ति की ही सत्यता है, उन पर अध्यस्त सर्प एवं रजत की प्रतीति मिथ्या एवं अज्ञान-मूलक है; उसी प्रकार ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध में भी ब्रह्म ही स्वरूपतः सत्य है, जगत् की प्रतीति मिथ्या एवं अज्ञानमूलक है।'

रज्जुसर्पादि के उदाहरणों के आधार पर आत्मतत्त्व की एकमात्रसत्यता सिद्ध करने वाले प्रत्येक अद्वैतसिद्धिकार पर प्रत्यक्ष अनुभूत जगत् के स्वरूप

१. रज्जुस्वरूपापरित्यागेन सर्पाकारेण भासमानस्य रज्जुविवर्त्तस्यापवादो नाशो नामाधिष्ठानरज्जुमात्रतयावस्थानवच्चिद्विवर्तस्याज्ञानादि-प्रपञ्चस्य नाशो नाम चिन्मात्रत्वेनावस्थानमित्यर्थः। सुबोधिनी, पृ० २७

की सिद्धि का उत्तरदायित्व स्वत: आ जाता है। इस सम्बन्ध में यहाँ अद्वैत के प्रतिपादक सदानन्द ने 'सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा' इत्यादि उद्धरण के द्वारा दो सिद्धान्तों—विकारवाद एवं विवर्त्तवाद—की ओर सङ्केत किया है। इनमें विकारवाद का सिद्धान्त ही परिणामवाद भी कहलाता है। जब कोई वस्तु अपने स्वरूप को त्याग कर स्वरूपान्तर को प्राप्त करती है, तो इस प्रक्रिया को परिणामवाद कहते हैं। उदाहरण के लिए, दुग्ध का दधिरूप से परिणत होना परिणामवाद की ही प्रक्रिया के अन्तर्गत आएगा, क्योंकि दधि की अवस्था दूध की स्थिति में नहीं देखी जाती। अतः दही दूध का परिणाम ही है। इस सिद्धान्त का अनुयायी सांख्यदर्शन है क्योंकि वहाँ भी जगत् को अव्यक्त प्रकृति का कार्य एवं परिणामरूप ही कहा गया है।[1] परिणामवादी के अनुसार कार्यरूप जगत् का मिथ्यात्व नहीं स्वीकार किया गया है। परिणामवादी के अनुसार जगत् की वस्तुएँ सत्य ही हैं, न कि मिथ्या। इस सम्बन्ध में वेदान्तसूत्र के अनुवादक एवं विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज के भक्त थीबो का कथन उद्धरणीय है—

"The world, with its variety of material forms of existence and individual souls, is not unreal Māyā, but a real part of Brahman's nature.[2]

परिणामवाद का उपर्युक्त सिद्धान्त अद्वैतवाद के अनुरूप नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार दधि दूध का परिणाम या विकार है, उसी प्रकार जगत् ब्रह्म का विकार नहीं है। ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध में दिए गए रज्जु एवं सर्प के उदाहरण के अन्तर्गत भी सर्प रज्जु का विकार नहीं है। इसी लिए अद्वैतवाद के लिए विवर्तवाद का ही सिद्धान्त अनुकूल है।

विवर्तवाद सिद्धान्त के अन्तर्गत वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करती, अपितु उसके अतिरिक्त स्वरूप से भिन्न दूसरी वस्तु की मिथ्या प्रतीति होती है।[3] रज्जु में सर्प एवं शुक्ति में रजत की प्रतीति विवर्त रूप ही है। क्योंकि सर्प एवं रजत अपने अधिष्ठान रज्जु एवं शुक्ति से नितान्त विलक्षण

---

१. सांख्यकारिका, १५, १६

2. Thibaut, Vedāntasūtra, pp. xxviii & xxx.

३. विवर्तभावस्तु वस्तुनः स्वस्वरूपापरित्यागेन स्वरूपान्तरेण मिथ्याप्रतीतिर्यथा रज्जुः स्वस्वरूपापरित्यागेन सर्पाकारेण मिथ्या प्रतिभासते।
सुबोधिनी, पृ० २९-३०

हैं। इसी प्रकार विवर्तवाद के अनुसार जगत् की प्रतीति ब्रह्म से सर्वथा विलक्षण है एवं सर्पादि के समान अवास्तविक है। ज्ञानदशा में जिस प्रकार रज्जुमात्र की ही सत्यता है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान की स्थिति में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' इस श्रुतिवाक्य के अनुसार ब्रह्ममात्र की ही सत्यता है और यही अद्वैतसम्प्रदाय का अभीष्ट है। इस सम्बन्ध में शङ्कराचार्य ने स्पष्ट कहा है कि कारणरूप ब्रह्म एवं कार्य रूप अध्यस्त जगत् में अनन्यत्व है—

कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत् कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावं कार्यस्यावगम्यते।

(ब्र० सू० शा० भा० २।१।१४)

यहाँ यह विचारणीय है कि विवर्तवाद के अनुरूप ब्रह्म और जगत् में अनन्यता होने पर प्रत्यक्ष अनुभूयमान जगत् की क्या स्थिति है? क्या अद्वैतता की स्थिति में, जैसा कि जगत् दिखाई पड़ता है, वैसा नहीं रहता? इस सम्बन्ध में अद्वैतियों का उत्तर है कि जगत् शून्यरूप नहीं है, वह ज्ञानी के समक्ष भी बना रहता है, किन्तु अन्तर यही है कि अज्ञानी जगत् को नामरूपात्मक एवं ममत्व, परत्व की भावना से देखता है, किन्तु ज्ञानी जगत् को ब्रह्मस्वरूप ही देखता है। गौडपादाचार्य ने 'ज्ञात द्वैतं न विद्यते' कह कर यही बात स्पष्ट की है। ब्रह्म और जगत् की अनेकरूपता के बीच अद्वैतता की स्थापना के सम्बन्ध में यह उदाहरण उपयुक्त ही है कि जिस प्रकार जमे हुए घी के अनेक भाग (दाने आदि) दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु जब घी पिघल जाता है, तो समस्त भेद समाप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञान होने पर अद्वैत ब्रह्म का ही अनुभव होता है। जगत् को ब्रह्म का विवर्त कह कर ग्रन्थकार ने अद्वैतसिद्धि का युक्तियुक्त प्रयास किया है। यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि जिस जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहा गया है, उसका अपवाद के द्वारा निराकरण किया जाता है।

विवर्तवाद और विकारवाद का भेद स्पष्ट है। जहाँ परिणाम या विकार अपनी कारणरूप वस्तु की समान सत्ता वाला है, वहाँ विवर्त की सत्ता अपने कारण से सर्वथा विषम है।[1] जहाँ विकार सत्ता यथार्थ है, वहाँ विवर्त सर्वथा अवास्तविक है। इस प्रकार जहाँ कारण से अभिन्न कार्य परिणाम

१. परिणामो नाम उपादानसमसत्ताककार्योत्पत्तिः।
विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्योत्पत्तिः॥

या विकार है, वहाँ कारण से भिन्न कार्य विवर्त है।[1]

ऊपर बतलाई गई अपवाद की प्रक्रिया द्वारा विवर्त रूप जगत् का निराकरण होने पर अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म की सत्यता स्वीकार करना नितान्त सङ्गत है क्योंकि विना अधिष्ठान के अध्यास की कल्पना निरर्थक ही है।[2] शङ्कराचार्य ने स्पष्ट कहा है कि मृगतृष्णिकादि का आरोप भी विना अधिष्ठान के असम्भव है[3], जगत् की वात तो दूर रही। अधिष्ठान की महत्ता को स्पष्ट करते हुए शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहा है कि अधिष्ठान के विना इन्द्रियों का व्यवहार भी सम्भव नहीं है।[4] अतः अपवाद की प्रक्रिया से विवर्तरूप का निराकरण होने पर एवं अधिष्ठान की सत्ता स्वीकार कर लेने पर ही अद्वैतसिद्धान्त की स्थापना सम्भव है—

अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः।
भावस्यैव ह्यभावत्वं नाशो भावस्य भावता॥

उपर्युक्त अपवाद एवं विवर्त की प्रक्रिया के अनुसार ग्रन्थकार ने समस्त प्रपञ्च रूप जगत् का निराकरण करके परमार्थवस्तुस्वरूप ब्रह्ममात्र की सत्यता स्थापित की है। इसीलिए ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट किया है कि स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर का लय होने के पश्चात् अधिष्ठानस्वरूप चैतन्य ही शेष रहता है। स्थूल शरीर अपने आश्रयरूप ब्रह्माण्ड के सहित अपने कारणभूत पञ्चीकृत पञ्च महाभूतों में लीन होकर तन्मात्रारूप में

---

१. ब्रह्मणश्चोपादानत्वमद्वितीयकूटस्थचैतन्यरूपस्य न परमाणूनामिवारम्भकत्वरूपं न वा प्रकृतेरिव परिणामित्वरूपं किन्तु अविद्यया वियदादिप्रपञ्चरूपेण विवर्त्तमानत्वलक्षणम्। वस्तुनस्तत्समसत्ताको इति वाऽकारणोऽन्यथाभावः परिणामः तद् विलक्षणो विवर्त इति वा कारणभिन्नं कार्यं परिणामः तद्भेदं विनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा विवर्तपरिणामयोर्विवेकः,"

सि० ले० स०, पृ०-१०
(विजयनगरम् सीरिज)

२. देखिए—वेदान्तपरिभाषा —१
३. नहि मृगतृष्णिकादयः अपि निरास्पदा भवन्ति।
ब्र० सू० शा० भा० गीता, १३।१४
४. न चाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः सम्भवति।
ब्र० सू० शा० भा० १।१।१

स्थित रहता है, यही सूक्ष्म शरीर है। इस प्रकार स्थूल शरीर का लय सूक्ष्म शरीर में होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सहित सब पञ्चीकृत तथा पूर्वोक्त १६ अवयवों वाले सूक्ष्मशरीर अपञ्चीकृत महाभूतों में लीन हो जाते हैं। यही सूक्ष्म शरीर का कारण शरीर में लय है। सत्त्वादिगुणसहित अपञ्चीकृत महाभूत अपने कारणरूप अज्ञानोपहित चैतन्य में लीन हो जाते हैं। इसके पश्चात् अज्ञान एवं अज्ञानोपहित सर्वज्ञत्वादिगुण विशिष्ट चैतन्य ईश्वरादि अपने आधारभूत अनुपहित चैतन्यरूप तुरीय ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार चैतन्यमात्र ही शेष रहता है। विवर्तवाद के सम्बन्ध में वाचारम्भण श्रुति भी विचारणीय है।

वाचारम्भण श्रुति के अनुसार घट आदि मृत्तिका के जो विकार हैं, वे विकार नाम वाले हैं, किन्तु वस्तुतः मृत्तिका ही सत्य है। ब्रह्म की अद्वैतता के सम्बन्ध में उक्त श्रुति घटादि की विकारता के समान जगत् को विकार ही सिद्ध करती है किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि परवर्ती अद्वैतियों के अनुसार तो जगत् ब्रह्म का विवर्त है, विकार नहीं, जैसा कि अभी ऊपर कहा जा चुका है। इससे यही प्रतीत होता है कि विकार एवं विवर्त का भेद उत्तरकालिक वेदान्तियों की देन है।

अध्यारोप एवं अपवादन्याय से 'तत्त्वमसि' में 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के अर्थ का निरूपण—

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वंपदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति। तथा हि। अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतन्यत्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति। अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहिताल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यमेतदनुपहितं चैतन्यत्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति ॥२२॥

इन अध्यारोप-अपवाद के द्वारा (तत्त्वमसि के अन्तर्गत) तत्-त्वम् पदों के अर्थ का स्पष्टीकरण भी हो जाता है। वह इस प्रकार है—

अज्ञानादि की समष्टि, इससे उपहित सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य, इसी (अज्ञानादि की समष्टि) से अनुपहित चैतन्य (शुद्ध चैतन्य)—इन तीनों का तप्त लोहपिण्ड के समान एक रूप में भासित होना तत् पद का वाच्यार्थ होता है। इस (अज्ञान की समष्टिरूप) उपाधि से उपहित ईश्वरचैतन्य का आधारभूत अनुपहित चैतन्य तत् पद का लक्ष्यार्थ होता है। अज्ञानादि की व्यष्टि, इससे

(अज्ञानादि की व्यष्टि से) उपहित अल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्य, इससे अनुपहित (शुद्ध चैतन्य)—इन तीनों का तप्तायःपिण्ड के समान एक रूप में भासित होना त्वम् पद का वाच्यार्थ है। इस (अज्ञान की समष्टिरूप) उपाधि से उपहित (ईश्वरचैतन्य) का आधारभूत अनुपहित शुद्धचैतन्य इन सबसे पृथक्, आनन्दस्वरूप तुरीय-चैतन्य त्वम् पद का लक्ष्यार्थ होता है।

विवेक

इससे पूर्व ग्रन्थकार ने अध्यारोप एवं अपवादन्याय के द्वारा ब्रह्म एवं जगत् की अद्वैतता का प्रतिपादन किया है। अध्यारोप के अनुसार ब्रह्मस्वरूप वस्तु में जगत्रूप अवस्तु का आरोप होता है तथा अपवादन्याय के द्वारा जगत् का निराकरण किया जाता है। यह सिद्धान्त अभी स्पष्ट किया जा चुका है। यहां यह वक्तव्य है कि अध्यारोप एवं अपवादन्याय के द्वारा अद्वैतता की स्थापना होने पर 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अन्तर्गत तत् एवं त्वम् पदों का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। उक्त न्यायों के समान 'तत्त्वमसि' महावाक्य भी जीव एवं ब्रह्म की अद्वैतता का ही प्रतिपादक है। इसीलिए अद्वैतता के प्रतिपादक उक्त न्यायों को तत्त्वमसि के अद्वैतता-प्रतिपादक तत् एवं त्वम् पदों के अर्थ के स्पष्टीकरण में सहायक वतलाया गया है।

'तत्त्वमसि' यह महावाक्य उद्दालक द्वारा श्वेतकेतु को दिया गया उपदेश है। इसके उपदेश से उद्दालक श्वेतकेतु से कह रहे हैं कि तुम परमात्मस्वरूप ही हो। इस प्रकार इस महावाक्य के द्वारा जीव एवं ब्रह्म की अद्वैतता का उपदेश किया गया है। 'तत्त्वमसि' के 'तत्' एवं 'त्वम्' दोनों ही पदों के वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ अद्वैतता के प्रतिपादक हैं। पहले तत् पद के वाच्यार्थ को लिया जाएगा।

अज्ञान एवं कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर की समष्टि, उससे उपहित चैतन्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वर, सूत्रात्मा चैतन्य (तुरीय चैतन्य) इन सब का तप्त लौहपिण्ड के समान एक रूप से अवभासित होना 'तत्' पद का वाच्यार्थ है। अज्ञानावच्छिन्न ईश्वर-चैतन्य का आधारभूत जो अनुपहित चैतन्य उसका अज्ञान एवं तदवच्छिन्न ईश्वरचैतन्य से विविक्त होकर भिन्न-भिन्न अवभासित होना तत् का लक्ष्यार्थ है। 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ—अज्ञान तथा कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर की व्यष्टि एवं प्राज्ञ तैजस तथा विश्वचैतन्य और इनसे अनुपहित चैतन्य—इन तीनों का तप्त लोह-पिण्ड के समान अभेद-विवक्षा से एक रूप से अवभासित होना है। 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ—व्यष्टिभूत जो अज्ञान आदि एवं तदुपहित जीवचैतन्य तथा इनका आधारभूत अनुपहित चैतन्य—प्रत्यगात्मास्वरूप तुरीयचैतन्य, इन सबका भेद-विवक्षा में पृथक्-पृथक् प्रतीत होना है।

जब यहाँ 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों का स्वतन्त्र अर्थ बतलाकर 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अर्थ के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

'तत्त्वमसि' महावाक्यार्थ का निरूपण

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं तत्त्वमसि इति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषण-विशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति। तदुक्तम्—

सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् इति॥

नैष्कर्म्यसिद्धिः ३।३

सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा 'सोऽयं देवदत्त' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च तत्त्वमसीति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वंपदस्य चैकस्मिश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वंपदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योऽन्यभेदव्यावर्त्तकतया विशेषणविशेष्यभावः।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते॥२३॥

अब (तत्त्वमसि) महावाक्य का अर्थ वर्णित किया जाता है। यह 'वह तुम हो' इस प्रकार का वाक्य त्रिविध सम्बन्ध के द्वारा अखण्डार्थ का बोधक होता है। पदों (तत्, त्वम्) का सामानाधिकरण्य, पदार्थों (तत्, त्वम् पदों के अर्थों) का विशिषण-विशेष्यभाव, प्रत्यगात्मा (आन्तर आत्मा) और लक्षण

(प्रत्यगात्मा को लक्षित करने वाले का) का लक्ष्यलक्षणभाव यही तीन प्रकार का सम्बन्ध है।[1]

इस प्रकार सामानाधिकरण्यसम्बन्ध तो जैसे 'वह यह देवदत्त है' इस वाक्य में तत्काल (अतीतकाल) विशिष्ट देवदत्त-वाचक 'वह' (सः) शब्द का और वर्तमानकालविशिष्ट देवदत्तवाचक 'यह' (अयम्) शब्द का एक देहपिण्ड में तात्पर्य का बोधक सम्बन्ध है। उसी प्रकार 'वह तुम हो'—इस में भी परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य के वाचक 'तत्' पद और प्रत्यक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य के वाचक 'त्वम्' (तुम) पद का एक चैतन्य में तात्पर्य का बोधक सम्बन्ध है।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध तो जैसे उसी वाक्य—(सोऽयं देवदत्तः) 'वह यह देवदत्त है' में वह (सः) शब्द के अर्थ—'अतीत काल से विशिष्ट देवदत्त का और यह (अयम्) शब्द के अर्थ—वर्तमानकालविशिष्ट देवदत्त का परस्पर भेद का व्यावर्त्तक होने से विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्ध है। उसी प्रकार 'वह तुम हो,' (तत्त्वमसि) इस वाक्य में भी तत् (वह) पद के अर्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य का और 'त्वम्' पद के अर्थ—अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य का एक दूसरे के भेद का व्यावर्त्तक होने के कारण विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध तो जैसे उसी वाक्य (वह यह देवदत्त है—सोऽयं देवदत्तः) में वह (सः) और यह (अयम्) शब्दों या उनके अर्थों का विरोधी अतीत काल एवं वर्तमानकालरूप विशेषता के परित्याग में अविरोधी देवदत्त के साथ लक्ष्यलक्षणभाव (सम्बन्ध) है। उसी प्रकार इस वाक्य (वह तुम हो—तत्त्वमसि) में भी वह (तत्) और तुम (त्वम्) पदों का या उनके अर्थों का, विरोधी परोक्षत्व एवं प्रत्यक्षत्व आदि विशिष्टता के परित्याग से अविरोधी चैतन्य के साथ लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध है। यही भागलक्षणा कहलाती है।

विवेक

ग्रन्थकार ने यहां 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अखण्डार्थबोध का प्रतिपादन किया है। वस्तुतः अद्वैत तत्त्व के बोध के लिए महावाक्य का तात्पर्यबोध नितान्त उपादेय है। इसी लिए सर्वज्ञात्ममुनि ने कहा है।

विना महावाक्यमतो न कश्चित् पुमांसमद्वैतमवैति जन्तुः ।। (संक्षेपशारीरक, ३।३०३)

वेदान्त में द्वादश प्रकार के महावाक्य माने गये हैं—

---

१. नैष्कर्म्यसिद्धिः ३।३

(१) तत्त्वमसि (छा० ६।८।७ (२) अहं ब्रह्मास्मि (बृ० उ० १।४।१०) (३) अयमात्मा ब्रह्म (बृ० उ० १।५।१६) (४) एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः (बृ० उ० ३।७।३) (५) स यश्चायम् (तै० उ० २।८।१) (६) पुरुषे यश्चासौ (तै० उ० ३।२।८) (७) आदित्ये स एकः (तै० उ० २।८।१, (८) प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (ऐत० ५।३) (९) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० २।१।१) (१०) स एतमेव पुरुषं ब्रह्म (ऐत० उ० ३।१३) (११) सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा० उ० ३।१९।१) (१२) एकमेवाद्वितीयम् (छा० उ० ६।२।१)[1]।

एक अन्य पद्धति के अनुसार निम्नलिखित ११ वाक्य ही उपलब्ध होते हैं—

(१) तत्त्वमसि (२) अहं ब्रह्मास्मि (३) अयमात्मा ब्रह्म (४) एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः (५) स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः (६) प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म (७) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (८) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (९) स एवमेव पुरुषो ब्रह्म (१०) सर्वं खल्विदं ब्रह्म (११) एकमेवाद्वितीयम्।

उपर्युक्त महावाक्यों में भी 'प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐ० ५।१) अहं ब्रह्मास्मि (बृ० १।४।१०) अयमात्मा ब्रह्म (बृ० २।५।१९) और तत्त्वमसि (छा० उ० २।२।७) ये चार महावाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध हैं।

यहाँ हमें सामवेद शाखा के छान्दोग्योपनिषद् के महावाक्य—तत्त्वमसि द्वारा होने वाले अखण्डार्थबोध का प्रतिपादन करना है। छान्दोग्य उपनिषद् में तत्त्वमसि का उपदेश उद्दालक द्वारा श्वेतकेतु को दिया गया है। यहाँ ग्रन्थकार ने जिस सम्बन्धत्रय के द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य से अखण्डार्थबोध की बात कही है, उसमें पहला सामानाधिकरण्यसम्बन्ध है। यहाँ क्रमशः तीनों के सम्बन्ध में विवेचन किया जाएगा—

सामानाधिकरण्यसम्बन्ध—

जिस सम्बन्ध के द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्यबोध होता है, वह सम्बन्ध सामानाधिकरण्यसम्बन्ध कहलाता है। इस सम्बन्ध के द्वारा 'तत्त्वमसि' के अखण्डार्थ का बोध कराने के लिए ग्रन्थकार ने सोऽयं देवदत्तः—वह यह देवदत्त है—यह उदाहरण दिया है। यह वाक्य किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा कहा गया है, जिसने देवदत्त को दश-पांच

---

१. विशेष देखिए, महावाक्यार्थदर्पण, बर्नेल का कैटेलॉग, पृ० ६४

वर्ष पूर्व देख रखा है। दश-पांच वर्ष के बाद मिलने पर देवदत्त में परिवर्तन स्वाभाविक है। अतः जब देवदत्त का मित्र देवदत्त को दश पाँच वर्ष के बाद मिलता है, तो उसे देवदत्त के पूर्वदृष्ट स्वरूप का स्मरण हो जाता है और वह कह उठता है—वह यह देवदत्त है (सोऽयं देवदत्तः)। इस वाक्य में सः (वह) और 'अयम्' (यह) पद एक ही देवदत्त के बोधक हैं। सः (वह)—पद का अर्थ अतीत काल एवं देश से सम्बन्धित देवदत्त है। 'अयम्' (यह) पद वर्तमान काल एवं देश में स्थित देवदत्त का बोध कराता है। यहाँ दोनों पदों—'सः' एवं 'अयम्' से बोधित होने वाले अतीत काल एवं देश तथा वर्तमानकाल एवं देश में विरोध प्रतीत होता है, परन्तु दोनों पदों का अर्थ समन्वित रूप से एक ही देवदत्त के शरीर का बोधक है। इसी प्रकार तत्त्वमसि इस महावाक्य में भी 'तत्' यह परोक्षत्व एवं सर्वज्ञत्वादि-विशिष्ट चैतन्य (तुरीय चैतन्य) का बोधक है और 'त्वम्' यह प्रत्यक्षत्व एवं अल्पज्ञत्व आदि विशिष्ट चैतन्य (जीवचैतन्य) का बोध कराता है। यहाँ भी 'तत्' पद द्वारा बोध्य परोक्षत्व एवं सर्वज्ञत्व का तथा 'त्वम्' पद द्वारा बोध्य वर्तमानत्व एवं अल्पज्ञत्व का विरोध प्रतीत होता है, किन्तु यह विरोध वास्तविक नहीं है क्योंकि 'तत्' पद द्वारा बोध्य तुरीय चैतन्य एवं 'त्वम्' पद द्वारा बोध्य अल्पज्ञ चैतन्य—जीव चैतन्य में भेद नहीं है।

'जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः" (जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं) —अद्वैत-दर्शन का यह सिद्धान्त जीव तथा ब्रह्म की अद्वैतता का ही प्रतिपादन करता है। अब यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि 'सोऽयं देवदत्तः' इस उदाहरण में तो अतीत काल एवं वर्तमान की स्थिति सम्भव है, क्योंकि देवदत्त का सम्बन्ध अतीत एवं वर्तमान देशकाल से है, किन्तु 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत तुरीय चैतन्य को परोक्षत्वादिविशिष्ट कहना सङ्गत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि तुरीय चैतन्य (ब्रह्म) तो सर्वकाल एवं सर्वदेश में व्याप्त रहता है। इसके उत्तर में यह कथन सङ्गत होगा कि यद्यपि ब्रह्म सर्वदेश एवं सर्वकालव्यापी है, किन्तु कालविशेष में वर्णित एवं उपदिष्ट होने के कारण उसके लिए परोक्षकाल का 'तत्' ऐसा व्यवहार सम्भव है।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धः—

ग्रन्थकार ने विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध की व्याख्या करते हुए—'वह यह देवदत्त है, (सः अयम् देवदत्तः) इस उदाहरण के अन्तर्गत 'वह' और 'यह' में अन्योऽन्य के भेद का व्यावर्त्तक होने के कारण, विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध माना है। यहाँ अन्योऽन्य के भेद के व्यावर्त्तकत्व को समझ लेना चाहिए। जो शब्द

अपने विशेष्य को अन्य शब्दों से व्यावृत्त कर देता है उसे विशेषण कहते हैं। और जो शब्द व्यावृत्त हो जाता है, उसे विशेष्य कहते हैं। इस प्रकार विशेषण व्यावर्त्तक है और विशेष्य व्यावर्त्य है। प्रकृत उदाहरण के अन्तर्गत 'वह' (सः) पद 'यह' (अयम्) का विशेषण है। विशेषण रूप 'वह' पद विशेष्य रूप 'यह' पद के अन्य विशेषणों का बाधक है। यही विशेषण का व्यावर्त्तकत्व है। यही बात 'वह तुम हो' (तत्त्वमसि) के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। 'वह' पद जो कि 'तुम' का विशेषण है, 'तुम' पद के अन्य विशेषणों का बाधक है। यही 'वह' (तत्) पद का व्यावर्त्तकत्व है।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध—

लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध के द्वारा भी 'वह तू है'—(तत् त्वम् असि)—वाक्य से अद्वैत चैतन्य का बोध होता है। ग्रन्थकार ने भागलक्षणा के द्वारा 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से अद्वैतचैतन्यरूप अर्थ की निष्पत्ति की है। यहां लक्ष्य अर्थ अद्वैतचैतन्यरूप है और उसके लक्षणपद 'तत्' एवं 'त्वम्' हैं। सामान्यतया लक्षणा में मम्मट के अनुसार मुख्यार्थ का बाध उसका लक्ष्यार्थ के साथ योग एवं रूढि अथवा प्रयोजन अपेक्षित होते हैं। पहले मुख्यार्थबाध को लीजिए। प्रयोजनवती लक्षणा के उदाहरण 'गङ्गायां घोषः (गङ्गा में बस्ती है) के अन्तर्गत लक्षणाशक्ति के द्वारा गङ्गापद के वाच्यार्थ-प्रवाह का बाध हो जाता है और गङ्गा पद तट अर्थ का बोध कराता है, किन्तु यह बात 'तत्त्वमसि' के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि यहाँ 'तत्' (वह) पद और त्वम् (तुम) पदों के समग्र मुख्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य एवं अपरोक्षत्व विशिष्ट चैतन्य का बाध नहीं होता, अपितु विरुद्ध (तत् पद द्वारा बोध्य) परोक्षत्व एवं (त्वम् पद द्वारा बोध्य) प्रत्यक्षत्व रूप अंश का ही बाध होता है। इस प्रकार लक्षणा के द्वारा मुख्यार्थ के कुछ अंश का बाध एवं कुछ अंश का ग्रहण होता है, इसीलिए इस ग्रन्थकार ने 'भागलक्षणा' ऐसा कहा है। इसे भागत्यागलक्षणा एवं जहदजहल्लक्षणा भी कहते हैं। जहाँ तक लक्षणा के अन्तर्गत मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ के योग (सम्बन्ध) की बात है, वह 'तत् त्वम् असि' के अन्तर्गत वर्तमान ही है; क्योंकि परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यांश का अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यांश से सम्बन्ध निश्चित ही है। यद्यपि यह सम्बन्ध पारमार्थिक नहीं है, परन्तु परमार्थतत्त्व का बोध होने से पूर्व तो उपदेशावस्था में सम्बन्ध कहा ही जा सकता है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य का प्रयोजन—अखण्डचैतन्यार्थ का बोध स्पष्ट ही है। अतः 'तत्त्वमसि' में प्रयोजनवती भागत्यागलक्षणा निष्पन्न होती है—

अस्मिन् वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते।

तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादिभेदव्यावर्तकतयाऽन्योन्यविशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावाद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते, अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तदुक्तम्—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः॥ पञ्चदशी ७।७५

इस (तत्त्वमसि) वाक्य में नीला कमल (नीलम् उत्पलम्)—इस वाक्य के समान वाक्यार्थ करना उचित नहीं है। वहाँ (नीला कमल इस वाक्य में) तो नील पद का अर्थ—नीलगुण और उत्पल पद का अर्थ—उत्पल द्रव्य इन दोनों के क्रमशः (स्वातिरिक्त) शुक्लिमा आदि गुणों एवं पट आदि द्रव्यों के भेद के व्यावर्त्तक होने के कारण एक-दूसरे के विशेषण-विशेष्यभावसंसर्ग की या एक से विशिष्ट दूसरे की या दोनों की एकता की वाक्यार्थता स्वीकार कर लेने पर (प्रत्यक्षादि) प्रमाणान्तर का विरोध न होने से वाक्यार्थ सङ्गत हो सकता है, (किन्तु) यहाँ (तत् त्वम् असि, इस वाक्य में) तो 'तत्' के अर्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य एवं 'त्वम्' के अर्थ अपरोक्षत्व आदि विशिष्ट चैतन्य की एक-दूसरे के भेद के व्यावर्त्तक होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव संसर्ग की एक दूसरे से विशिष्ट एक दूसरे की अथवा दोनों (तत् और त्वम् के अर्थों) की एकता की वाक्यार्थता स्वीकार कर लेने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध होने के कारण वाक्यार्थ सङ्गत नहीं है। इसी लिए कहा है :

"यहां (तत्त्वमसि में) संसर्गरूप अथवा विशिष्टरूप वाक्यार्थ युक्तियुक्त नहीं है। अखण्ड एकरसता के रूप से वाक्यार्थ, विद्वानों को सम्मत है।" पञ्चदशी ७।७५

विवेक

यहाँ ग्रन्थकार ने 'तत्त्वमसि' के तात्पर्यबोध के लिए पूर्वोक्त भागलक्षणा की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए विशेषणविशेष्यभावसंसर्गसिद्ध अर्थ एवं एक-दूसरे से विशिष्ट अर्थ का निराकरण किया है। विशेषणविशेष्यभाव संसर्ग या जो नीलगुणविशिष्ट है, वही उत्पल है या जो उत्पलविशिष्ट है वही

नीलगुण है (अन्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य) इन दोनों सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार का तर्क है कि 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में 'नीलमुत्पलम्' की तरह उक्त सम्बन्ध नहीं हो सकते। इन सम्बन्ध में ग्रन्थकार का तर्क है कि 'नीलमुत्पलम्' के सम्बन्ध में तो उक्त सम्बन्ध उचित है क्योंकि वहाँ नीलगुण एवं उत्पल—द्रव्य में तो उक्त सम्बन्ध मान लेने पर प्रत्यक्ष में कोई विरोध नहीं आता; क्योंकि नील गुण के उत्पल द्रव्य का विशेषण मान लेने पर या जो 'नील गुणविशिष्ट है, वही उत्पल द्रव्य है', ऐसा स्वीकार कर लेने पर प्रत्यक्ष आदि प्रमाण का कोई विरोध नहीं आता क्योंकि दोनों में किसी प्रकार का कालसम्बन्धी विरोध नहीं आता। परन्तु 'तत्त्वमसि' के विषय में यह अविरोध सिद्ध नहीं होता क्योंकि वहाँ 'तत्' (वह) परोक्ष का द्योतक है और 'त्वम्' (तुम) प्रत्यक्ष का बोधक है, अतः तत् पद द्वारा बोध्य परोक्षत्वविशिष्टचैतन्य में परोक्ष एवं प्रत्यक्ष का प्रमाणगत विरोध होने के कारण 'तत्त्वमसि' के तात्पर्य का बोध विशेषणविशेष्यभावसंसर्ग के आधार पर नहीं होता। या जो नीलगुणविशिष्ट है, वही उत्पल है एवं जो उत्पलविशिष्ट है, वही नील गुण है, (अन्यतर विशिष्ट अन्यतर)[1] इस सिद्धान्त के आधार पर भी तत्त्वमसि का तात्पर्यबोध नहीं हो सकता, क्योंकि 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों को एक-दूसरे से विशिष्ट मानने पर भी उक्त विरोध बना रहेगा। इसी प्रकार दोनों को एक मानने पर भी उक्त विरोध बना रहता है। अतः यहाँ (तत्त्वमसि) में भाग-लक्षणा के द्वारा ही तात्पर्य- बोध सम्भव है।

अब यहाँ ग्रन्थकार द्वारा 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में जहल्लक्षणा का निराकरण किया जाएगा—

जहल्लक्षणा का निराकरण

अत्र गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीति वाक्यवज्जहल्लक्षणापि न सङ्गच्छते। तत्र तु गङ्गाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थ-

---

१. निखिलानन्द ने अन्यतरविशिष्ट अन्यतर के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा है—

Mutual qualification etc. Though the words 'blue' 'lotus' are themselves distinguished from each other yet by their position in the phrase they qualify each other so as to bring out a common idea. Not all lotuses nor all blue things are meant but lotus which is blue, and that blue colour which is associated with a lotus are only meant. That is to say, they together mean what we know as the blue lotus. Nikhilananda—Vedāntasāra, p. 95

स्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीर-लक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा सङ्गच्छते । अत्र तु परोक्षत्वापरोक्ष-चैतन्यैकत्वलक्षणस्य[1] वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते । न च गङ्गापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न सङ्गच्छत इति वाच्यम् । तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वंपदयोः श्रूयमाण-त्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्य-पेक्षाभावात् ॥२६॥

यहाँ (तत्त्वमसि में) 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' (गङ्गा में घोष रहता है)--इस वाक्य के समान जहल्लक्षणा भी तात्पर्य-बोध कराने में सङ्गत नहीं हो सकती । वहाँ (गङ्गायां घोषः) में तो गङ्गा और घोष के आधारा-धेयभाव के बोधक वाक्यार्थ (गंगा में घोष है) के पूर्णतया विरुद्ध होने के कारण वाक्यार्थ को पूर्णतया त्याग कर तत्सम्बन्धित (गङ्गा सम्बन्धित) तीर की लक्षणा के उचित होने के कारण जहत्लक्षणा सङ्गत है (किन्तु) यहां (तत्त्वमसि) में तो परोक्ष-अपरोक्ष चैतन्य की एकता के बोधक वाक्यार्थ का अंशमात्र में विरोध होने के कारण, अंशान्तर को भी छोड़कर अन्य लक्षणा के अयुक्त होने से जहत्लक्षणा सङ्गत नहीं हो सकती । और न यह कहना चाहिए कि जिस प्रकार गंगा पद अपने अर्थ के परित्याग से तीर पदार्थ को लक्षित करता है, उसी प्रकार 'तत्' या 'त्वम्' पद अपने अर्थ के परित्याग के द्वारा 'त्वम्' पद के अर्थ या 'तत्' पद के अर्थ को लक्षित करे, इसलिए जहत् लक्षणा क्यों नहीं हो सकती ? वहाँ (गङ्गायां घोषः में) तो तीर पद न सुनने के कारण उसके अर्थ (तीर अर्थ) की प्रतीति न होने पर लक्षणा से उस (तीर अर्थ) की प्रतीति की अपेक्षा होने पर भी (तत्त्वमसि) 'तत्'-'त्वम्' पदों के सुने जाने के कारण उन अर्थों ('तत्' पद से बोध्य अर्थ एवं त्वम् पद से बोध्य अर्थ) की प्रतीति होने पर पुनः लक्षणा से दूसरे पद से दूसरे पद के अर्थ की प्रतीति की अपेक्षा नहीं है ।

विवेक

यहां ग्रन्थकार ने 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में जहत्लक्षणा का खण्डन

---

१. यहाँ 'परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यैकत्वलक्षणस्य' यह पाठान्तर भी मिलता है।

किया है। जहां पद अपने समग्र अर्थ को छोड़ कर दूसरे अर्थ का बोध कराता है, वहाँ जहत्लक्षणा कहलाती है—जहाति पदम् स्वार्थं यस्यां सा जहल्लक्षणा। जहल्लक्षणा का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है। 'गङ्गायां घोषः' में जहल्लक्षणा इसलिए उचित है कि वहाँ अभिधा से गङ्गा और घोष के आधाराधेयभाव-सम्बन्ध का बोध होता है, जो परस्पर विरुद्ध है। 'गङ्गायां घोषः' में अभिधेय अर्थ (गङ्गा में घोष है) के अनुसार गङ्गा आधार एवं घोष आधेय है। परन्तु यह विरुद्ध है, क्योंकि प्रवाहरूप गङ्गा में घोष की स्थिति नहीं देखी जा सकती। अतः वाक्यार्थ की सङ्गति के लिए गंगापद के समस्त अर्थ को त्याग कर गङ्गा से सम्बन्धित तीर में लक्षणा करना युक्त है। अतः वहां गङ्गा पद के समस्त अर्थं का त्याग करने के कारण जहल्लक्षणा समुचित है। परन्तु परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्वस्वरूप चैतन्य के बोधक महावाक्य 'तत्त्वमसि' में जहल्लक्षणा सङ्गत नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि 'गङ्गायां घोषः' में तो आधार रूप गंगा पद के समग्र अर्थ का आधेयरूप घोष से विरोध है, क्योंकि गंगा के किसी भी भाग में घोष की आधेयता असम्भव है, किन्तु 'तत्त्वमसि' में तो केवल तत् एवं 'त्वम्' पदों के अर्थ में परोक्षत्व एवं प्रत्यक्षत्व अंश में ही विरोध है। जहाँ तक 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों से बोध्य चैतन्यांश का प्रश्न है वह समान ही है, उसमें कोई विरोध नहीं हैं। अतः वह सर्वथा ग्राह्य है। फिर जहल्लक्षणा के अनुसार यहाँ तत् एवं त्वम् पदों के समस्त अर्थ का त्याग करने पर तो किसी अन्य अर्थ में लक्षणा (अनपेक्षित अर्थ में लक्षणा) के अयुक्त होने से जहल्लक्षणा संगत नहीं हो सकती। यदि 'गङ्गायां घोषः' के अनुरूप 'तत्त्वमसि' में जहल्लक्षणा की जाएगी तब तो अनपेक्षित विरोधी तत् एवं त्वम् पदों के परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व का त्याग होगा ही, साथ ही अपेक्षित चेतनांश का भी त्याग करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में जहल्लक्षणा के द्वारा 'तत्' एवं 'त्वम्' के समग्र अर्थ का त्याग करके जिस अर्थ का बोध होगा वह सर्वथा अनभिप्रेत एवं कोई विलक्षण अर्थ ही होगा।

जहल्लक्षणा तो तभी होती है, जबकि पहले समस्त अर्थ का त्याग किया जाता है। किन्तु 'तत्त्वमसि' में 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के समस्त अर्थों का त्याग करने से तो महावाक्य तत्त्वमसि के अभिमत अर्थं की ही हानि हो जाएगी, क्योंकि इस महावाक्य का उद्देश्य सर्वज्ञत्वविशिष्टचैतन्य एवं अल्पज्ञत्वविशिष्ट चैतन्य की एकता का बोध कराना है।

ग्रन्थकार ने एक अन्य पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए कहा है कि जिस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में गङ्गा पद अपने (प्रवाहरूप) अर्थ के

परित्याग से तीर अर्थ को लक्षित करता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' में भी तत् पद जहल्लक्षणा के अनुसार अपने अर्थ परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य का त्याग करके 'त्वम्' पद के अर्थ का बोध कराएगा तथा 'त्वम्' पद अपने अर्थ का त्याग करके 'तत्' पद के अर्थ का बोध कराएगा। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' में भी 'गङ्गायां घोष:' के समान लक्षणा सम्भव हो सकती है। ग्रन्थकार ने इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा है कि 'गङ्गायां घोष:' में तो 'तीर' पद का श्रवण नहीं होता, इसलिए वक्ता के प्रयोजन के अनुसार लक्षणा की आवश्यकता है, किन्तु 'तत्त्वमसि' में उक्त प्रक्रिया के अनुसार लक्षणा की कोई अपेक्षा नहीं है; क्योंकि 'त्वम्' पद जब स्वयं अपने अर्थ का बोधक है तो फिर 'तत्' पद में 'त्वम्' की लक्षणा की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार जब 'तत्' पद स्वयं अपने अर्थ का बोधक है तो 'त्वम्' पद में 'तत्' की लक्षणा अनपेक्षित ही कही जाएगी।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि 'तत्त्वमसि' में जहल्लक्षणा अनावश्यक है। अब यहाँ 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में अजहल्लक्षणा' का निराकरण किया जाएगा—

अजहल्लक्षणा का निराकरण

अत्र 'शोणो धावति' इति वाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति। तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव। न च तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वंपदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम्। एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च ॥२६॥

यहाँ ('तत् त्वमसि' इस वाक्य में) 'शोणो धावति' (लाल दौड़ता है) इस वाक्य के समान अजहल्लक्षणा भी संभव नहीं है। वहाँ ('शोणो धावति' इस उदाहरण में) रक्त गुण के गमन के बोधक वाक्यार्थ के विरुद्ध होने के कारण उसका (रक्त अर्थ का) परित्याग न करके उसमें (रक्त गुण) के आश्रय अश्व आदि में लक्षणा करके उक्त विरोध का समाधान सम्भव होने से अजहल्लक्षणा सम्भव है। यहाँ ('तत्त्वमसि' में) तो परोक्षत्व अपरोक्षत्व विशिष्ट

चैतन्य की एकतारूप वाक्यार्थ के विरुद्ध होने के कारण उक्त (अर्थ) का परित्याग न करके, उससे सम्बन्धित जिस किसी अर्थ के लक्षित होने पर भी उक्त विरोध का परिहार सम्भव न होने के कारण अजहल्लक्षणा सम्भव नहीं है। और यह नहीं कहना चाहिए कि 'तत्' पद या 'त्वम्' पद अपने अर्थ के विरुद्ध अंश (परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व) का त्याग करके अंशान्तर (चैतन्यांश) के साथ 'त्वम्' पद के अर्थ को अथ वा 'तत्' पद के अर्थ को लक्षित करे, इसलिए प्रकारान्तर से भागलक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है। एक पद से स्वार्थांश एवं पदार्थान्तर दोनों में लक्षणा के असम्भव होने से (तथा) दूसरे पद से उक्त अर्थ की (अभिधा से) प्रतीति होने पर फिर लक्षणा द्वारा उस अर्थ की प्रतीति की अपेक्षा नहीं है।

विवेक

इस स्थल पर 'तत् त्वमसि' के सम्बन्ध में अजहल्लक्षणा का निराकरण किया गया है। अजहल्लक्षणा के अन्तर्गत पद अपने अर्थ का त्याग न करके अन्य अर्थ का बोध कराता है—'न जहाति पदं स्वार्थं यस्यां सा।'' इस सम्बन्ध में ग्रन्थकर्ता ने 'शोणो धावति' (लाल दौड़ता है) उदाहरण प्रस्तुत किया है। पूर्वपक्षी के मत को प्रस्तुत करते हुए इस स्थल पर कहा गया है कि उक्त उदाहरण में अभिधा से लाल गुण का जो दौड़ना अर्थ प्रतीत होता है, वह परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि रक्त गुण का दौड़ना सम्भव नहीं है। अतः अजहल्लक्षणा के अनुसार शोण गुण अपने अर्थ का परित्याग न करके अपने आश्रयरूप, जिसमें कि वह रहता है—अश्व का लक्षणा से बोध कराता है। इस प्रकार अजहल्लक्षणा के अन्तर्गत 'शोणो धावति' (लाल दौड़ता है) इस वाक्य का अर्थ होता है—"रक्त गुण से विशिष्ट अश्व दौड़ता है।" इस प्रकार लक्ष्यार्थ मानने पर उक्त विरोध का शमन हो जाता है। ग्रन्थकर्त्ता ने 'तत् त्वमसि' के सम्बन्ध में उक्त पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए कहा है कि 'तत्त्वमसि' में उक्त प्रकार से अजहल्लक्षणा सम्भव नहीं है, क्योंकि यहाँ वाक्य का अभिधेयार्थ परोक्षत्व-विशिष्ट चैतन्य ('तत्' पद का अर्थ) एवं अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य ('त्वम्' पद का अर्थ) का ऐक्य है। इस अर्थ में स्पष्ट ही परोक्षत्व-अपरोक्षत्व का विरोध है, क्योंकि एक ही चैतन्य को परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व से विशिष्ट कहना उचित नहीं है। इससे तो द्वैत की ही सिद्धि होती है। अब यदि अजहल्लक्षणा के अनुसार 'तत्' एवं 'त्वम्' पद अपने उक्त अर्थ का त्याग नहीं करेंगे, तब तो उक्त भेद बना ही रहेगा और इससे सिद्धान्त की हानि ही (अद्वैत सिद्धान्त हानि) निश्चित है। अतः 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में अज-

लक्षणा मानना अनुचित ही है। तब तो लक्षणा से किसी विचित्र, (अनभिमत) अर्थ का ही बोध होगा और इस प्रकार परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व विशिष्ट-चैतन्य का जो विरोध है, उसका परिहार न हो सकेगा। इस प्रकार अजहल्ल-क्षणा से तो अद्वैत-सिद्धान्त की हानि ही होगी। ग्रन्थसम्मत भाग-लक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि यदि 'तत्' पद अपने विरुद्ध अंश (परोक्षत्व) का एवं 'त्वम्' पद अपने विरुद्ध अंश (प्रत्यक्षत्व) का त्याग करके चैतन्यांश के साथ क्रमशः 'त्वम्' पद के अर्थ को तथा तत् पद के अर्थ को लक्षित करे, तो इस प्रक्रिया के अनुरूप तत्त्वमसि का अर्थबोध स्वतः हो जाएगा। इसलिए प्रकारान्तर से लक्षणा के मानने की क्या आवश्यकता है। इस शङ्का का समाधान प्रस्तुत करते हुए सदानन्द ने कहा है कि एक ही पद स्वार्थांश (विरोधी परोक्षत्व अथवा अपरोक्षत्व) का लक्षणा से त्याग करे तथा दूसरे पद के अविरुद्ध अर्थ को भी बतलावे—यह उभयगत लक्षणा सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त जब 'त्वम्' पद के अर्थ-बोध के लिए 'त्वम्' पद वर्तमान है, तो 'तत्' पद में 'त्वम्' पद के अर्थ की लक्षणा की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार जब 'तत्' पद के अर्थ-बोध के लिए 'तत्' पद वर्तमान है, तो 'त्वम्' पद में 'तत्' पद के अर्थ की लक्षणा की क्या आवश्यकता है?

ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने 'न च तत पदं' इत्यादि से पूर्वपक्ष के रूप में एक अन्य भाग-लक्षणा की कल्पना की है, जिसके अनुसार 'तत' पद या 'त्वम्' पद अपने विरोधी अंश का त्याग करते हैं तथा अविरोधी चैतन्यांश के साथ दूसरे पद के ('त्वम्' पद के) अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य तथा ('तत्' पद के) सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य अर्थ को लक्षणा से बोधित करते हैं। इसीलिए पूर्वपक्ष के रूप में इस भागलक्षणा को प्रस्तुत करते हुए प्रकारान्तर से (अद्वैतसम्मत) भागलक्षणा की अनावश्यकता बतलाते हुए ग्रन्थ-कार ने कहा है—

"न च तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वं पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयतु, अतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम्।"

ऊपर किए गए विवेचन के आधार पर अजहल्लक्षणा का भी खण्डन हो जाता है। अब यहाँ भागलक्षणा का स्थापन किया जाएगा—

भागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा का प्रस्थापन

तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्काल-विशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालैतत्काल-विशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा 'तत्त्व-मसीति' वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वांशं परित्य-ज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति ॥२७॥

अतः 'सोऽयं देवदत्तः' (वह यह देवदत्त है) यह वाक्य या उसका अर्थ तत्काल तथा एतत्कालविशिष्ट देवदत्त के बोधक वाक्यार्थ के अंश में विरोध होने के कारण विरोधी—तत्काल एवं एतत्कालविशिष्टत्व रूप अंश का परि-त्याग करके अविरोधी देवदत्त रूप अंश मात्र को लक्षित करता है, उसी प्रकार 'तत् त्वमसि' यह वाक्य या उसका अर्थ परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्वादि-विशिष्ट चैतन्य की एकता के बोधक वाक्यार्थ के अंश में विरोध होने के कारण विरोधी—परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्वादिविशिष्ट-विरोध रूप अंश का परित्याग करके अविरोधी अखण्ड चैतन्यमात्र को लक्षित करता है ।

विवेक

इस स्थल पर ग्रन्थकार ने 'तत्त्वमसि' के तात्पर्यबोध के लिए भाग-लक्षणा या जहदजहल्लक्षणा की कल्पना की है। भागलक्षणा वहाँ होती है, जहाँ पद लक्षणाशक्ति से अपने आंशिक अर्थ का परित्याग करता है तथा आंशिक अर्थ का बोध कराता है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने 'सोऽयं देवदत्तः' (वह यह देवदत्त है) उदाहरण दिया है। जब कोई व्यक्ति देवदत्त को बहुत दिनों के बाद देखता है, तो उसे पहिले देखे गए देवदत्त का स्मरण हो आता है और वह सामने उपस्थित देवदत्त को पूर्व-संस्कारों के आधार पर पहिचान कर कह उठता है—वह यह देवदत्त है—(सोऽयं देवदत्तः)। 'सोऽयं देवदत्तः'—इस उदाहरण में भागलक्षणा मानते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि उक्त उदाहरण में तत् काल एवं एतत् काल का विरोध है। वाक्य में 'सः' (वह) तत्काल का बोधक है और 'अयम्' (यह) एतत्काल का (वर्त-मान काल का) वाचक है। अतः दोनों में विरोध है। भागलक्षणा के द्वारा कालसम्बन्धी-विरोधी अंश का परित्याग कर दिया जाता है तथा देवदत्त पिण्ड-रूप अंश, जो कि भूतकाल में देखे गए देवदत्त एवं वर्तमान में देखे गए देवदत्त में समान ही है, का लक्षणा से बोध होता है। इस प्रकार भागलक्षणा के द्वारा

'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य से अविरोधी देवदत्त का बोध होता है। यह उदाहरण 'तत् त्वमसि' के सम्बन्ध में भी पूर्णतया चरितार्थ होता है। 'तत् त्वमसि' (वह तुम हो) इस वाक्य में 'तत्' से बोध्य परोक्षत्व एवं 'त्वम्' से बोध्य अपरोक्षत्व का विरोध है, अतः भागलक्षणा के द्वारा वाक्य के पदों—तत् एवं 'त्वम्' के विरोधी अंश का परित्याग हो जाता है और इस प्रकार ये पद अविरोधी अखण्ड चैतन्य मात्र का लक्षणा से बोध कराते हैं।

इस प्रकार ग्रन्थकार द्वारा तत्त्वमसि के तात्पर्य-बोध के लिए भागलक्षणा की सङ्गति सिद्ध की गई है। उक्त अंश ही वेदान्त का सिद्धान्तवाक्य है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि ग्रन्थकार ने 'तत्त्वमसि' के तात्पर्यबोध के लिए जिस भागलक्षणा की अवतारणा की है, वह उनकी अपनी ही सूझ है, क्योंकि मेरे विचार से किसी भी काव्यशास्त्री ने भागलक्षणा, भागत्याग लक्षणा, या जहत-अजहल्लक्षणा के रूप में लक्षणा की कल्पना नहीं की है। इससे यह सिद्ध होता है कि सदानन्द वेदान्त के ही नहीं, अपितु काव्यशास्त्र के भी पण्डित थे। इसके अतिरिक्त 'सोऽयं देवदत्तः'' इस उदाहरण के आधार पर किए गए 'तत्त्वमसि' के पदार्थ-निरूपण में कश्मीरी शैव-दर्शन के प्रत्यभिज्ञावाद की झलक भी स्पष्टतया मिल जाती है। इस स्थल पर यह भी विचारणीय है कि काव्यशास्त्र के प्रौढ ग्रन्थों में कहीं भी भागलक्षणा का उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, कौण्डभट्ट ने 'वैयाकरणभूषणसार' में अवश्य जहदजहल्लक्षणा का उल्लेख किया है। इस प्रकार सदानन्द की भागलक्षणा का आधार कौण्डभट्ट की पृष्ठभूमि ही हो सकती है।

अब यहाँ अनुभववाक्यार्थरूप 'अहं ब्रह्मास्मि' का निरूपण किया जाएगा—

अनुभव वाक्य—'अहं ब्रह्मास्मि'

अथाधुनाहं ब्रह्मास्मीत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते। एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरस्सरं तत्त्वंपदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिताचित्तवृत्तिरुदेति। सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते। तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्ति-

रपि बाधिता भवति । तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति तथा स्वयं प्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत्स्वोपाधिभूताखण्डचित्तवृत्तेर्बाधितत्वाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति ॥२८॥

'तत्त्वमसि' इस उपदेश का निरूपण करने के पश्चात् यहाँ 'मैं ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि—बृ० उ० १।४।१०)—इस अनुभव-वाक्य का अर्थ वर्णित किया जाता है। इस प्रकार (पूर्वोक्त प्रकार से) आचार्य के द्वारा अध्यारोप एवं अपवाद के निरूपण के द्वारा 'तत्त्वमसि' में 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के अर्थ को खोजकर वाक्य (महावाक्य—तत्त्वमसि) से अखण्ड अर्थ का बोध होने पर अधिकारी की मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव, परमानन्द, अनन्त एवं अद्वैतरूप ब्रह्म हूँ, इस प्रकार की अखण्ड आकार से आकारित चित्तवृत्ति उदित होती है। वह (चित्तवृत्ति) तो चित् के प्रतिबिम्ब से युक्त होती हुई प्रत्यगभिन्न (सर्वान्तर्यामी अज्ञात परब्रह्म को विषय बनाकर प्रत्यक्-चैतन्यगत ब्रह्मविषयक) अज्ञान को ही बाधित करती है। उस समय, जिस प्रकार कि वस्त्र के कारणभूत तन्तुओं का दाह होने पर पट का भी दाह हो जाता है, उसी प्रकार समस्त (प्रपञ्च) के कारण अज्ञान के बाधित होने पर, उसके समस्त कार्य (प्रपञ्च) के बाधित हो जाने के कारण, उसके अन्तर्गत (अखिल प्रपञ्च के अन्तर्गत आने वाली) अखण्डाकार से आकारित चित्तवृत्ति भी बाधित हो जाती है। जिस प्रकार कि दीपक की प्रभा सूर्य की प्रभा के प्रकाशन में असमर्थ होती हुई उससे (सूर्यप्रभा से) अभिभूत होती है, उसी प्रकार उस (चित्तवृत्ति) में प्रतिबिम्बित चैतन्य भी स्वयं प्रकाशमान प्रत्यगभिन्न परब्रह्म के अवभासन में असमर्थ होकर उस (ब्रह्म) से अभिभूत होकर अपनी उपाधिभूत अखण्ड चित्तवृत्ति के बाधित हो जाने के कारण, जिस प्रकार से दर्पण के अभाव में मुखप्रतिबिम्ब से केवल मुख मात्र ही शेष रह जाता है, उसी प्रकार प्रत्यगभिन्न परब्रह्मभाव ही शेष रह जाता है।

विवेक

जब आध्यात्मिक, गुरु के द्वारा अधिकारी शिष्य को 'तत्त्वमसि' का उपदेश किया जाता है, तो जिज्ञासु शिष्य की जिज्ञासा शान्त हो जाती है और वह 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस वृत्ति का अनुभव करता है। यहाँ

यह कहना आवश्यक है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति मुक्ति की स्थिति नहीं है, यह तो वृत्तिमात्र है, जो परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर नष्ट हो जाती है। 'अहं ब्रह्मास्मि' के सम्बन्ध में विवेचन करने से पूर्व वृत्ति को स्पष्ट करना आवश्यक है।

अन्तःकरण के परिणाम विशेष का नाम ही वृत्ति है। संक्षेप में अन्तःकरण के व्यापार को वृत्ति कहेंगे—'वर्तनं वृत्तिः'।

वृत्ति के निम्नलिखित दो भेद किए जा सकते हैं—

१. लौकिक विषयों से सम्बन्धित वृत्ति।

२. आध्यात्मिक वृत्ति (अहं ब्रह्मास्मि वृत्ति)।

लौकिक विषयों से सम्बन्धित वृत्ति को स्पष्ट करते हुए वेदान्तपरिभाषा के लेखक धर्मराजाध्वरीन्द्र ने कहा है कि जिस प्रकार तालाब का जल तालाब के किसी एक छिद्र द्वारा निकल कर नहर के समान लम्बायमान होकर खेत के केदारों (क्यारियों) में प्रविष्ट होकर उन केदारों की ही तरह त्रिकोण-चतुष्कोण आदि आकारों को प्राप्त होता है, उसी प्रकार तैजस होने के कारण अतिशीघ्रगामी अन्तःकरण भी नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा निकल कर घट-पट आदि विषय-देश को प्राप्त हुआ—घट-पट आदि विषयों के आकार-रूप से परिणमित होता है। अन्तःकरण की यही परिणाम वृत्ति है।[1] अन्तःकरण की इस वृत्ति के निम्नलिखित चार भेद हैं—

१. संशय, २. निश्चय, ३. गर्व, ४. स्मरण। इस वृत्तिचतुष्टय के आधार क्रमशः मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त हैं। मन के संशयात्मक, बुद्धि के निश्चयात्मक, अहंकार के अहन्तारूप तथा चित्त के संज्ञानरूप (स्मरणात्मक) होने के कारण वृत्ति-चतुष्टय का उक्त आधार समीचीन ही है। लौकिक वृत्ति का कार्य लौकिकविषयगत अज्ञान को दूर करके उस विषय का बोध कराना है।[2] इस प्रकार वेदान्त के लौकिक ज्ञान की यह प्रक्रिया है कि जब कोई

---

१. यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते।

—वेदान्तपरिभाषा १

२. विशेष देखिए, डा० राममूर्ति शर्मा : अद्वैत वेदान्त, पृ० २३६-२४१

व्यक्ति किसी पुष्प को देखता है, तो इस क्रिया में अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति उस व्यक्ति के पुष्पविषयक अज्ञान को दूर करती है और इसके पश्चात् चित्-प्रतिबिम्ब से युक्त वृत्ति पुष्प के आकार में परिणमित होकर पुष्प को प्रकाशित करती है।

दूसरी वृत्ति—आध्यात्मिक वृत्ति (अहं ब्रह्मास्मि) है। ग्रन्थकार ने 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य को अनुभववाक्य इसलिए कहा है कि जब अधिकारी गुरु से तत्त्वमसि का उपदेश ग्रहण कर लेता है, तो स्वयं ब्रह्मस्वरूपता का अनुभव करता है। अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति अनुभव की स्थिति का नाम है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार का कथन है कि जब आध्यात्मिक गुरु अध्यारोप एवं अपवादन्याय से 'तत्त्वमसि' के तत् एवं त्वम् पदों के अर्थ को शोध कर लेता है, तो अधिकारी को अखण्ड अर्थ का बोध होता है और उस अधिकारी में, मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध आदि अद्वैत ब्रह्म हूँ, ऐसी चित्तवृत्ति का उदय होता है। अध्यारोप एवं अपवाद के आधार पर 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के अर्थबोध की प्रक्रिया ग्रन्थकार द्वारा पीछे इस प्रकार बतलाई जा चुकी है—

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम् पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति। तथाहि अज्ञानादि···त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति।

अधिकारी को जिस ब्रह्म की अस्मिता का अनुभव होता है, उसे (ब्रह्म को) नित्य इसलिए कहा है कि वह सर्वदैकरस एवं शाश्वत है, शुद्ध इसलिए कहा है कि अविद्यादिदोष से रहित है, बुद्ध इसलिए कहा है कि स्वयं प्रकाशस्वरूप है, मुक्त इसलिए कहा है कि समस्त उपाधियों से रहित है, सत्यस्वभाव इसलिए कहा है कि वह अविनाशिस्वभावसम्पन्न है। परमानन्द इसलिए कहा है कि समस्त वैषयिक (लौकिक विषयों से सम्बन्धित) आनन्द कर्मजन्य होने के कारण विनाशशील एवं तुच्छ है, किन्तु परमानन्द निरतिशय एवं उत्कृष्टतम है, अनन्त इसलिए है कि वह लौकिक देश, काल और वस्तुओं से सीमित नहीं है और अद्वय-स्वभाव इसलिए है कि अनेकत्व का निषेधक एवं एकत्वस्वरूप है। ग्रन्थकार ने चित्तवृत्ति को ब्रह्म के अखण्ड आकार से आकारित कहा है—

'अहं ब्रह्मास्मीत्याखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति।'

यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि जो ब्रह्म अखण्ड है, उसके अखण्ड आकार से आकारित चित्तवृत्ति के होने का प्रश्न कहाँ उपस्थित होता है? अखण्ड ब्रह्म का आकार कैसा? और जब आकार ही नहीं, तो चित्तवृत्ति का

ब्रह्म के अखण्ड आकार से आकारित होना भी निर्मूल ही है। वस्तुततः अखण्ड ब्रह्म का आकार सम्भव नहीं है, किन्तु जड़ चित्तवृत्ति उसके स्वरूप की कल्पना करके उसके स्वरूप से स्वरूपित हो जाती है। इस प्रकार यहाँ आकार का अर्थ 'स्वरूप' ग्रहण करना चाहिए।

'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्ति के स्वरूप एवं कार्य के सम्बन्ध में बतलाते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि अन्तःकरण में रहने वाली ईस वृत्ति में सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप ब्रह्म के चित् का प्रतिबिम्ब पड़ता है और यह उस चित् से युक्त वृत्ति ही प्रत्यगभिन्न चैतन्यगत ब्रह्म को विषय बना कर चैतन्य के अज्ञान को दूर करके चैतन्य की ब्रह्मस्वरूपताप्राप्ति में सहायक होती है। यही उसका प्रयोजन है—'तस्याश्चैतन्यावदज्ञाननिवृत्तिरेव प्रयोजनम्' (सुबोधिनी ३९)। कहीं यह शंका न हो जाए कि जड़ चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय किस प्रकार बनाती है, इसीलिए ग्रन्थकार ने स्पष्ट कह दिया है—

'प्रत्यगभिन्नं परं ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते।'

इस प्रकार उक्त वृत्ति का विषय शुद्ध ब्रह्म नहीं है, अपितु वह अज्ञान-विशिष्ट प्रत्यगभिन्नपरब्रह्मविषयिणी है।

उक्त वृत्ति एवं उससे प्रकाशित परब्रह्म की स्थित से उत्पन्न होने वाले द्वैत के भ्रम की निवृत्ति के लिए सदानन्द ने पट-तन्तुदाह—के उदाहरण से यह स्पष्ट कर दिया है कि जिस प्रकार पट के कारण तन्तुओं के जलने पर तन्तुओं के कार्यरूप पट का दाह हो जाता है, उसी प्रकार समस्त प्रपञ्च के कारण—चैतन्य के अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर समस्त कार्यप्रपञ्च के बाधित होने पर अज्ञान एवं उसके कार्यप्रपञ्च के अन्तर्गत आने वाली उक्त वृत्ति का भी बाध हो जाता है। जिस प्रकार अग्नि इन्धन को जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है और जिस प्रकार उदर में स्थित दूषित जल की शान्ति के लिए पिया गया उष्ण जल उदरस्थ दूषित जल को शान्त करके स्वयं भी शान्त हो जाता है, शीतल हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञान का बाध करके उक्त चित्तवृत्ति भी शान्त हो जाती है।

इस प्रकार वृत्ति एवं समस्त कार्यप्रपञ्च का बाध होने पर अद्वैत सिद्धान्त सर्वथा सिद्ध हो जाता है। अब यह प्रश्न उठता है कि जब उक्त

---

१. सा चित्तवृत्तिर्न शुद्धब्रह्मादिविषयिणी, किन्त्वज्ञानविशिष्टप्रत्यगभिन्नपर-ब्रह्मविषयिणी। —सुबोधिनी, पृ० ३९

वृत्ति नहीं रहती, तो उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्यांश का क्या होता है ? इस शङ्का के आभास को भी ग्रन्थकार ने दीपप्रभा के दृष्टान्त से निराकृत कर दिया है। जिस प्रकार कि दीपक की प्रभा सूर्य के आलोक के प्रकाशन में असमर्थ होकर उससे अभिभूत हो जाती है, उसी प्रकार स्वयं प्रकाशमान—प्रत्यगभिन्न परब्रह्म के प्रकाशन में असमर्थ चैतन्याभास भी उस ब्रह्मालोक से अभिभूत हो जाता है और अपनी (आधारस्वरूप) उपाधिभूत अखण्डचित्त-वृत्ति के बाधित होने के कारण ब्रह्मस्वरूप में शेष रह जाता है। जब आधार [वृत्ति] ही नहीं रहता तो आधेय (चित्तप्रतिबिम्ब) कैसा ? न होगा बांस न बजेगी बांसुरी। ग्रन्थकार ने इस सम्बन्ध में दर्पण का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जब दर्पण नहीं होता, तो उसमें पड़ने वाला मुख का प्रतिबिम्ब भी नहीं रहता और प्रतिबिम्ब के स्थान पर मुखमात्र ही शेष रह जाता है। यही बात वृत्ति में पड़ने वाले चित् के प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए।

अब यहाँ वृत्ति के कार्य एवं लौकिक तथा अलौकिक वृत्ति के भेद का निरूपण किया जाएगा—

वृत्ति का कार्य एवं उसके लौकिक तथा अलौकिक भेद का निरूपण

एवञ्च सति मनसैवानुद्रष्टव्यं यन्मनसा न मनुते इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात्। तदुक्तम्—

'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्'।
'ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता
स्वयम्प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते' इति ॥

जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति। तथापिह—अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञान-निरसनपुरस्सरं, स्वगतचिदाभासेन जडघटमपि भासयति, तदुक्तम्—

"बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् इति ॥"

यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गता-न्धकारनिरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति ॥२६॥

ऐसा (सिद्ध) होने पर मन से ही उसे देखना चाहिए (मनसैवानुद्रष्टव्यम्, बृ० उ० ४।४।१९) तथा जो मन के द्वारा नहीं जाना जाता (यन्मनसा न मनुते, केनोपनिषद्, ४।५) इन दोनों श्रुति-वाक्यों का सामञ्जस्य वृत्ति की व्याप्यता को स्वीकार करके (अवभासन रूप) फल की व्याप्यता के निषेध के प्रतिपादन से हो जाता है। इसीलिए इस प्रकार कहा है—

शास्त्रकारों ने इस (वृत्ति) की फलव्याप्यता का ही निवारण किया है, किन्तु ब्रह्म में अज्ञान के नाश के लिए वृत्ति की व्याप्यता अपेक्षित है। (पंच-दशी, ६।९०) और इस प्रकार कहा है—

स्वयं प्रकाशमान होने के कारण (ब्रह्म के लिए) आभास उपयुक्त नहीं है। (पञ्चदशी, ६।९२)

जड पदार्थ के आकार से आकारित चित्तवृत्ति विशेष है, क्योंकि यह घट है, इस प्रकार घट के आकार से आकारित चित्तवृत्ति अज्ञात घट को विषय बनाकर उस (घट) से सम्बन्धित अज्ञान को निवृत्त करके अपने में विद्यमान चित् तत्त्व के आभास से जड घट को भी प्रकाशित करती है। इसीलिए कहा है—"बुद्धि और उसमें स्थित चित् का आभास, ये दोनों घट को व्याप्त करते हैं। वहाँ (घट में) अज्ञान (घट विषयक अज्ञान) बुद्धि से नष्ट हो जाता है और (चित् के) आभास से घट की अभिव्यक्ति होती है। (पञ्चदशी ७।९१)

जिस प्रकार दीपक का प्रभामण्डल अन्धकार में स्थित घट-पट आदि को विषय बनाकर उन (घट पटादि) से सम्बन्धित अन्धकार की निवृत्ति करके अपनी प्रभा से उन्हें भी प्रकाशित करता है।

विवेक

पूर्व प्रकरण में अखण्डाकाराकारित 'अहं ब्रह्मास्मि' इस चित्तवृत्ति के चैतन्य के आवरक अज्ञान की निवृत्तिकर्त्री सिद्ध हो जाने पर तथा यह स्पष्ट हो जाने पर कि उक्त वृत्ति परब्रह्म के प्रकाशन में असमर्थ है, इस स्थल पर यह सिद्ध किया गया है कि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (मन से ही देखना चाहिए और 'यन्मनसा न मनुते' (जो मन से नहीं जाना जाता)—

इन श्रुतिवाक्यों में परस्पर विरोध न होकर सामञ्जस्य है। उक्त दोनों श्रुतिवाक्यों का विरोध तो स्पष्ट ही प्रतीत होता है, क्योंकि एक वाक्य—'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'—यह प्रतिपादन करता है कि ब्रह्म तत्त्व मन के साक्षात्कार का विषय है, तो दूसरा वाक्य—'यन्मनसा न मनुते' उसे मन का अविषय सिद्ध करता है। इस विरोध की शान्ति करते हुए सदानन्द का तर्क है कि अज्ञात ब्रह्म के साक्षात्कार में वृत्ति की व्याप्यता है, किन्तु ब्रह्मतत्त्व रूप फल के प्रकाशन में वृत्ति की व्याप्यता नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि व्याप्य कौन है तथा व्यापक कौन है? नृसिंह सरस्वती के अनुसार अन्त:करण की वृत्ति आवरण की निवृत्ति के लिए अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य को व्याप्त करती है, यही वृत्तिव्याप्यत्व है।[1] इस प्रकार वृत्ति-व्याप्य तथा ब्रह्म व्यापक है। वृत्तिव्याप्यत्व के अनुसार 'अहं ब्रह्मास्मि' यह वृत्ति जीव-चैतन्य के ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति करती है, अत: 'मनसैवाऽनुद्रष्टव्यम्'—यह श्रुतिवाक्य सङ्गत है। उक्त वृत्ति चैतन्य के अज्ञान की निवृत्ति होने के पश्चात् उसके फलस्वरूप साक्षात्कृत स्वयं प्रकाशमानस्वरूप परब्रह्म के प्रकाशन में असमर्थ है, यही उसकी, (वृत्ति की) ब्रह्मज्ञानरूप फल के प्रति व्याप्यता का निषेध है। वृत्ति की ब्रह्मज्ञान रूप फल के प्रति व्याप्यता का निषेध होने से 'यन्मनसा न मनुते' इस श्रुति-वाक्य की सङ्गति स्पष्ट हो जाती है। अत: उक्त दोनों श्रुतिवाक्यों का समन्वित अर्थ इस प्रकार होगा कि अन्त:करण की 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति के द्वारा चैतन्य के अज्ञानावरण के निवृत्त होने के कारण ब्रह्मतत्त्व परम्परया मन के साक्षात्कार का विषय है, किन्तु अज्ञान निवृत्ति के फलस्वरूप साक्षात्कार को प्राप्त हुआ परब्रह्म उक्त वृत्ति का विषय नहीं है। यह कथन 'यन्मनसा न मनुते' का समर्थक है। अत: दोनों श्रुतिवाक्यों में कोई विरोध नहीं है। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए पञ्चदशी में विद्यारण्य ने कहा है कि वृत्ति की फलव्याप्यता का शास्त्रकारों ने निषेध किया है, किन्तु चैतन्यगत ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति के लिए वृत्ति की व्याप्यता अपेक्षित ही है। विद्यारण्य का कथन है कि ब्रह्म के स्वयं प्रकाशमान होने के कारण वृत्ति के द्वारा उसका आभास (प्रकाशन) उपयुक्त नहीं है।

इस स्थल पर उपर्युक्त 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अलौकिक वृत्ति ने लौकिक

---

१. अन्त:करणवृत्तिरावरण निवृत्त्यर्थमज्ञानावच्छिन्नं चैतन्यं व्याप्नोतीत्येतद्वृत्तिव्याप्यत्वमङ्गीक्रियते।

—सुबोधिनी ४१

वृत्ति की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। जहाँ उपर्युक्त 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अलौकिक वृत्ति परब्रह्म के प्रकाशन में असमर्थ है, वहाँ द्रष्टा को घट में 'अयं घटः' (यह घट है)—इस प्रकार की घट के आकार से आकारित चित्तवृत्ति जिसके अनुसार द्रष्टा 'घट-विषयक ज्ञानवान् अहम्' (मुझे घट विषयक ज्ञान है)"—ऐसा अनुभव करता है, पहले अज्ञात घट को द्रष्टा के प्रत्यक्ष का विषय बनाती है और फिर उक्त वृत्ति घटावच्छिन्न चैतन्य के आवरक अज्ञान का निराकरण करके अपने में वर्तमान ब्रह्म के चित् तत्त्व के आभास से जड घट को भी प्रकाशित करती है। वेदान्त में लौकिक विषय के ज्ञान की यही प्रक्रिया है। इसीलिए पञ्चदशी में यह कहा गया है कि वृत्ति (धी)[1] और वर्तमान चित् तत्त्व का आभास—ये दोनों ही घट को व्याप्त करते हैं। वृत्ति के द्वारा तो घट विषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है किन्तु जड वृत्ति घट को प्रकाशित करने में असमर्थ है, अतः वृत्ति में स्थित चित् के आभास से ही घट प्रकाशित होता है। इस सम्बन्ध में यह दृष्टान्त उपयुक्त ही है कि जिस प्रकार दीपक का प्रभामण्डल अन्धकार में स्थित घट-पट आदि को विषय बना कर उनसे सम्बन्धित अन्धकार का निवारण करता है उसी प्रकार बुद्धि एवं उसमें स्थित चित् का आभास, ये दोनों भी क्रमशः घटादिविषयक अज्ञान को दूर करते हैं तथा घटादि का प्रकाशन करते हैं। जैसा कि कह चुके हैं, यह बात 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस अलौकिक वृत्ति के सम्बन्ध में नहीं है, क्योंकि वह चैतन्य के अज्ञान को तो दूर करती है, परन्तु परब्रह्म को प्रकाशित नहीं करती। यही दोनों का भेद है।

अब यहाँ ब्रह्मसाक्षात्कार के साधनभूत श्रवण, मननादि की अपेक्षा होने के कारण उनका विवेचन किया जाएगा—

श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं समाधि का निरूपण

एवंभूतस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते। श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्। लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि। तत्र प्रकरण-

1. धीशब्देन वृत्तिरूपज्ञानाभिधानात्। —वेदान्तपरिभाषा १

प्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्। फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। यथा तत्र 'सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते। मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्। विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्। समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति। तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्। तदा मृन्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद्द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते। तदुक्तम्—

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम्॥ इति॥

निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते। ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का न भवति। उभयत्रवृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः॥३०॥

इस प्रकार के स्वरूप चैतन्य के साक्षात्कार तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि के अपेक्षित होने के कारण, उनका भी वर्णन किया जा रहा है। छः प्रकार के लिङ्गों के द्वारा समस्त वेदान्त-वाक्यों का अद्वैत-वस्तु (परब्रह्म) में तात्पर्य निश्चय करना श्रवण कहलाता है। लिङ्ग हैं—

उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति। वहाँ प्रकरण द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का (प्रकरण में) आदि तथा अन्त में प्रतिपादन करना क्रमशः उपक्रम और उपसंहार कहलाते हैं। जिस प्रकार कि छान्दोग्योपनिषद् में छठे अध्याय में प्रकरण द्वारा प्रतिपाद्य अद्वैत वस्तु का 'एक ही अद्वैत (ब्रह्म) है—(छा० ६।२।१) इस प्रकार आदि में तथा यह सब आत्म-तत्त्व से व्याप्त है (छा० ६।८।७) इस प्रकार अन्त में प्रतिपादन किया गया है। प्रकरण द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु का प्रकरण के मध्य में पुनः-पुनः प्रतिपादन अभ्यास है। जिस प्रकार कि छान्दोग्योपनिषद् में ही अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) के विषय में मध्य में बार-बार 'तत्त्वमसि' का प्रतिपादन (अभ्यास है)। प्रकरणप्रतिपाद्य अद्वैत वस्तु का दूसरे (प्रत्यक्ष) प्रमाणों का विषय न होना अपूर्वता है। जिस प्रकार कि छान्दोग्योपनिषद् में ही अद्वैत वस्तु का प्रमाणान्तरों का विषय न होना (अपूर्वता) है। फल तो प्रकरणप्रतिपाद्य आत्मज्ञान का या उसके अनुष्ठान का वहाँ (छान्दोग्योपनिषद् में) सुना गया प्रयोजन है। जिस प्रकार कि वहाँ (छान्दोग्योपनिषद् में) आचार्यवाला पुरुष (जिसका आचार्य अर्थात् गुरु है) जानता है, उसके लिए तब तक ही विलम्ब है, जब तक कि वह इस शरीर से मुक्त नहीं हो जाता, तत्पश्चात् ब्रह्मस्वरूप हो जाता है (छा० ६।१४।२)। इस प्रकार अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) के ज्ञान का, ब्रह्म प्राप्ति, प्रयोजन सुना जाता है। प्रकरण प्रतिपाद्य अर्थ की स्थान-स्थान पर प्रशंसा अर्थवाद (है), जिस प्रकार कि छान्दोग्योपनिषद् में क्या तुमने उस उपदेश को पूछा, जिससे बिना सुना हुआ भी (सकल प्रपञ्च) सुना हुआ, अचिन्तित भी चिन्तित तथा अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है। (छा० ६।१।३)। इस प्रकार अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) की प्रशंसा करना अर्थवाद है। प्रकरणप्रतिपाद्य अर्थ के सिद्ध करने के लिए स्थान-स्थान पर सुनी गई युक्ति उपपत्ति (कहलाती) है। जिस प्रकार कि छान्दोग्योपनिषद् में 'हे सौम्य! एक मिट्टी के पिण्ड से समस्त मृण्मय (मिट्टी से बना पदार्थ-सङ्घात) ज्ञात हो जाता है, विकार नाम की वस्तु तो वाचिक-प्रपञ्च है, (वस्तुतः) मृत्तिका ही सत्य है (छा० ६।१।४) इत्यादि में अद्वैत वस्तु-ब्रह्म के सिद्ध करने में विकार की वाचिक प्रपञ्चमात्रता में युक्ति सुनी जाती है। श्रवण की गई अद्वैतवस्तु का वेदान्त के अनुकूल युक्तियों के द्वारा सतत चिन्तन-मनन है। विजातीय (विरोधी)

देह आदि विचारों से रहित अद्वैत ब्रह्म के विषय में सजातीय (अनुकूल) विचारधारा का प्रवाह निदिध्यासन है। समाधि सविकल्पक और निर्विकल्पक रूप से दो प्रकार की है। उनमें ज्ञाता, ज्ञान आदि विकल्प की समाप्ति की अनपेक्षा से अद्वैततत्त्व रूप वस्तु में उसके (अद्वैत-वस्तु-ब्रह्म) के आकार से आकारित चित्तवृत्ति की अवस्था का नाम सविकल्पक है। उस अवस्था में मिट्टी से बने हुए गज आदि का भान होने पर भी मिट्टी का भान होने के समान द्वैतप्रतीति (गज तथा मिट्टी—की प्रतीति) होने पर भी अद्वैत वस्तु-ब्रह्म प्रकाशित होता है। इसीलिए कहा है—"मैं वही शाश्वत मुक्त (ब्रह्म) तत्त्व हूँ जो साक्षिस्वरूप आकाश के समान (व्यापक), एक रूप से भासित, जन्मरहित, एक, अविनाशी निर्लेप, सर्वव्यापी, अद्वैततत्त्व तथा ओश्म् स्वरूप है"। ज्ञाता-ज्ञान आदि विकल्प की समाप्ति की अपेक्षा से अद्वैत-वस्तु (ब्रह्म) में उसके (अद्वैत ब्रह्म के) आकार से आकारित चित्तवृत्ति का अत्यन्त अद्वैतभाव से स्थित होना निर्विकल्पक समाधि है। उस स्थिति में जल के आकार से आकारित नमक के प्रकाशित न होने से जल मात्र के प्रकाशित होने के समान अद्वैत वस्तु के आकार से आकारित चित्तवृत्ति के अवभासित न होने से अद्वैत वस्तु मात्र अवभासित होती है। तब इस निर्विकल्पक समाधि तथा सुषुप्ति के अभेद की शङ्का नहीं होती। दोनों (निर्विकल्प समाधि तथा सुषुप्ति) में समान रूप से वृत्ति का भान न होने पर भी उसके (निर्विकल्पक समाधि में वृत्ति के) रहने से (सुषुप्ति में वृत्ति के) न रहने मात्र से इन दोनों का भेद सिद्ध हो जाता है।

विवेक

इस प्रकरण के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने परमात्मसाक्षात्काररूप अनुभव की दृढ़ता के लिए श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन की अपेक्षा स्वीकार की है। वृहदारण्यक उपनिषद्[1] के अन्तर्गत पाण्डित्य, बाल्य एवं मुनि शब्दों के द्वारा क्रमशः श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का विधान किया गया है। शङ्कराचार्य ने विवेकचूडामणि के अन्तर्गत आत्मसाक्षात्कार की दृढ़ता के लिए श्रवणादि की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि श्रवण की अपेक्षा

१. तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः।

—वृ० उ० ३।५।१

मनन का सौगुना, मनन की अपेक्षा निदिध्यासन का लाख गुना और निदि-ध्यासन की अपेक्षा निर्विकल्पक समाधि का अनन्त गुना महत्त्व है :

श्रुतेः शतगुणं विद्यान् मननं मननादपि ।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ॥
(विवेकचूडामणि, समाधिनिरूपण, ३६५)

शङ्कराचार्य के परवर्ती विद्वानों में श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन की परमात्मसाक्षात्कार की कारणता के सम्बन्ध में अनेकविध मत मिलते हैं। प्रकाशात्मयति मनन को ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रधान कारण मानते हैं। मनन एवं निदिध्यासन को वे परम्परया कारण स्वीकार करते हैं, किन्तु पञ्चदशी के लेखक विद्यारण्य ने श्रवणादि के अतिरिक्त चित्तशुद्धिकर्त्री होने के कारण उपासना की भी मोक्षसाधनता स्वीकार की है। लघुचन्द्रिका के लेखक ब्रह्मानन्द ने न्यायरत्नावली के अन्तर्गत श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन को तर्करूप में ग्रहण किया है। यदि 'तत्त्वमसि' के रूप में जीव और ब्रह्म का ऐक्य न हुआ होता तो तत्त्वमसि आदि के द्वारा ब्रह्मज्ञान का होना असम्भव था, इस प्रकार के तर्कों को ब्रह्मानन्द श्रवण के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान को दृढ़ करने के लिए प्रवृत्त होना मनन के अन्तर्गत आता है। ब्रह्मानन्द के अनुसार यह भी तर्क का ही रूप है। निदिध्यासन को ब्रह्मानन्द अन्तिम तर्क मानते हैं। ब्रह्मानन्द का विचार है कि श्रवण एवं मनन से उत्पन्न ज्ञान को निदिध्यासन ब्रह्म-साक्षात्कार के मूल आनन्द रूप में परिणत कर देता है।

श्रवणादि में श्रवण की विवेचना करते हुए ग्रन्थकार ने उपक्रम एवं उपसंहारादि छः प्रकार के लिङ्गों के द्वारा समस्त वेदान्त सिद्धान्तों के अद्वैत-ब्रह्म में तात्पर्यनिश्चय को श्रवण कहा है। उपक्रम एवं उपसंहारादि को लिङ्ग इसलिए कहा है कि वे ब्रह्म एवं आत्मा की अद्वैतता के निश्चायक हैं। इस प्रकार यहाँ लिङ्ग शब्द को "लीनम् अर्थं गमयति, इति लिङ्गम्" यह व्युत्पत्ति ही उपयुक्त है। व्यासरचित वृहत् संहिता के अन्तर्गत उपर्युक्त छः प्रकार के लिङ्गों का उल्लेख मिलता है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णयः ॥

छान्दोग्योपनिषद् के उपर्युक्त स्थल के अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद् आदि अन्य उपनिषदों में उपक्रम आदि षड्विध लिङ्ग की स्थिति स्पष्ट देखी जाती

है।[1] इस प्रकार उपक्रम एवं उपसंहार प्रत्येक ग्रन्थ में किसी न किसी प्रकार से अवश्य ही मिलते हैं। किसी भी विषय के प्रतिपादन के लिए दोनों की महती उपादेयता है। 'अभ्यास के द्वारा किसी भी वस्तु के प्रतिपादन में दृढ़ता आती है। अपूर्वता शास्त्र की वह अद्‌भुत विशेषता है जिसके द्वारा प्रमाणादि द्वारा अज्ञात तत्त्व—ब्रह्म का निरूपण किया जाता है। इस अद्‌भुतता को ही मीमांसकों एवं वेदान्तियों ने अलौकिकता कहा है। ग्रन्थकार ने आत्म-ज्ञान या उसके अनुष्ठान के श्रूयमाण प्रयोजन को फल कहा है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (मुण्डक० ३।२।९) तथा 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) श्रुतियाँ फल रूप ही हैं। यहाँ आत्मज्ञान के अनुष्ठान जा अर्थ विचारणीय है। बालबोधिनीकार ने अनुष्ठान से श्रवणादि के अनुष्ठान का अर्थ ग्रहण किया है।[2] किन्तु विद्वन्मनोरञ्जनी के लेखक रामतीर्थ ने सगुणविद्या का अभिप्राय ग्रहण किया है।[3] मेरे विचार से यहाँ अनुष्ठान से श्रवणादि के अनुष्ठान का अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि श्रवणादि आत्मज्ञान के पश्चात भी आत्मज्ञान को दृढ़ करने के लिए अनुष्ठित होते हैं। उसके अतिरिक्त ये आत्मसाक्षात्काररूप फल के साक्षात् कारण भी हैं। विद्वन्मनोरंजनीकार ने सगुणोपासना के अनुष्ठान की जो बात कही है, वह वैसी उपयुक्त नहीं प्रतीत होती, क्योंकि अद्वैत वेदान्त में सगुणोपासना रूप कर्म चित्तशुद्धि के माध्यम से परम्परया आत्मसाक्षात्कार का कारण है, साक्षात् नहीं। अर्थवाद का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने श्रुति का वह स्थल उद्धृत किया है, जिसमें अद्वैत ब्रह्म की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जिस अद्वैत ब्रह्म तत्त्व के जान लेने पर अश्रुत—श्रुत, अविचारित—विचारित एवं अविज्ञात विज्ञात हो जाता है। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या ब्रह्म तत्त्व के ज्ञात होने पर समस्त अश्रुत—श्रुत,

---

१. आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्वं एकं भवन्ति। (बृ० १।४।७) (उपक्रम) पूर्णमदः (५।१।११) (उपसंहार) स एव नेति नेत्यात्मा (३।९।२६) (अभ्यास) तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि। (३।९।२६) (अपूर्वता) अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि (४।२।४) (फल) तद्यो देवानाम् इत्यादि (१।४।१०) अर्थवाद 'स यथा दुन्दुभेः' इत्यादि (२।४।७) उपपत्ति।

२. ज्ञानानुकूलश्रवणाद्यधिष्ठानस्येत्यर्थः श्रवणाद्यनुष्ठानस्योपस्थितत्वात्।
—बालबोधिनी

३. तदनुष्ठानस्येति सगुणविद्याभिप्रायेणोक्तम्।
—विद्वन्मनोरंजिनी, पृ० १२८

अविचारित-विचारित एवं अज्ञात जगत् का प्रपञ्च ज्ञात हो जाता है? यदि ऐसा है, तब तो ज्ञानी की भी द्वैतदृष्टि बनी ही रहेगी। क्योंकि जगत् का ज्ञान तो द्वैतरूप ही है। अतः प्रस्तुत स्थल में ब्रह्म को जान लेने पर समस्त के जान लेने का यही आशय है कि—समस्त जगत् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य के अनुरूप ब्रह्मस्वरूप ही है और इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान होने पर कुछ भी ज्ञेय शेष नहीं बचता। षष्ठ लिङ्ग-उपपत्ति (युक्ति) प्रकरण द्वारा प्रतिपाद्य—अद्वैत तत्त्व के सिद्ध करने के लिए उपयोगी है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' इत्यादि श्रुति उद्धृत की है। यहाँ विकार शब्द का प्रयोग वाचारम्भण-मात्र जगत् के प्रपञ्च के लिए किया गया है। तदनुसार मृत्तिका के घट आदि विकार वाचिक प्रपञ्चमात्र हैं, वस्तुतः तो मृत्तिका ही सत्य है इसी प्रकार ब्रह्म मात्र की ही सत्यता है। ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त जागतिक विकार वाचिक प्रपञ्चमा है, परमार्थतः ब्रह्म ही सत्य है।

इस प्रकार उपर्युक्त ६ प्रकार के लिङ्गों द्वारा अद्वैततत्त्वस्वरूप ब्रह्म के तात्पर्य के निश्चय को ही श्रवण कहते हैं। वेदान्त सिद्धान्त की अनुकूल युक्तियों के द्वारा अद्वैततत्त्व—ब्रह्म का अनवरत चिन्तन-मनन कहलाता है। वेदान्त के अनुकूल युक्तियों का आश्रय लेकर ब्रह्मचिन्तन का विधान इसलिए किया गया है कि इतर शास्त्र की युक्तियां जिज्ञासु के मस्तिष्क में भ्रम का कारण ही बनेंगी। विद्वन्मनोरंजनीकार ने यहाँ पुरुष की अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से उत्प्रेक्षित शुष्क तर्क-भावना की व्यावृत्ति (विरोध) के लिए वेदान्तानुगुण युक्तियों का तात्पर्य ग्रहण किया है।[1] मनु ने भी धर्मोपदेश के ज्ञान के लिए वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए कहा है—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥
(मनुस्मृतिः १२।१०६)

निदिध्यासन के अन्तर्गत विजातीय वेदादि प्रत्ययों से रहित अद्वैत ब्रह्म-विषयक सजातीय प्रत्ययों के प्रवाह-सातत्य को निदिध्यासन कहा है। देह से लेकर बुद्धि-पर्यन्त अनात्म तत्त्वों के प्रत्यय विचार को विजातीय इसलिए कहा है कि वे जड विषयक होने के कारण अद्वैत तत्त्व स्वरूप चित्तत्त्व के विरोधी हैं। अद्वैत तत्त्व के सजातीय विचारों में वे विचार आएँगे जो चित्स्वरूप

१. केवलं पुरुषबुद्ध्युत्प्रेक्षितशुष्कतर्कव्यावृत्त्यर्थं वेदान्तानुगुण इति विशेषणम्। —विद्वन्मनोरंजिनी, पृ० १२६

अद्वैत तत्त्व के प्रतिपादक हैं। चित्त के समाहित होने को समाधि कहते हैं। सुबोधिनीकार नृसिंह सरस्वती ने व्युत्थान एवं संस्कारों के क्रमशः तिरोधान एवं प्रादुर्भाव के होने पर चित्त के एकाग्रतारूप परिणाम को समाधि कहा है।[1] योगदर्शन के अनुसार चित्त के व्युत्थान से कार्यावस्था या संसारावस्था का तात्पर्य है। इस अवस्था में चित्त में वृत्तियों का कार्यरूप में उत्थान देखा जाता है। इसीलिए इसे व्युत्थानावस्था कहा है। दूसरी निरोधावस्था चित्त की वह अवस्था है जिसमें वृत्तियाँ ही निरुद्ध हो जाती हैं। इस अवस्था में जातियों की कार्यता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार व्युत्थान एवं निरुद्ध रूप से चित्त के संस्कारों का तिरोभाव एवं आविर्भाव चलता रहता है। परन्तु जब समाधि के अभ्यास से व्युत्थान का पूर्णतया विलय हो जाता है तो निरुद्धावस्था की स्थिति में चित्त स्थायिनी शान्ति को प्राप्त करता है। (यो० सू० ३।१३, ३।१०)

विद्वन्मनोरंजनीकार रामतीर्थ के अनुसार समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि चित्त की ज्ञेय आत्मा की दृष्टि से निश्चल स्थिति का नाम समाधि है।[2] समाधि का सविकल्पक भेद योग-दर्शन की सम्प्रज्ञात समाधि का ही दूसरा नाम है। निर्विकल्प समाधि असम्प्रज्ञात समाधि है। सविकल्प या सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय की कल्पना बनी रहती है। इसीलिए ग्रन्थकार ने ज्ञाता, ज्ञान आदि के विकल्प के लय की अपेक्षा बतलाई है। इसे सबीज समाधि भी कहते हैं। इस समाधि में प्रज्ञान का आधार बना रहता है, इसीलिए इसे सबीज समाधि कहते हैं। सविकल्पक समाधि के अन्तर्गत चित्त की समस्त वृत्तियाँ समाप्त होकर एकमात्र आत्म-वृत्ति ही शेष रहती है। इस प्रकार इस दशा में आत्मतत्त्व ज्ञेय रूप से वर्तमान रहता है। इसीलिए सविकल्पक में नामजात्यादि की योजना का ग्रहण किया है—

नामजात्यादियोजनासहितं सविकल्पकम्।

सम्प्रज्ञात समाधि के भी योगदर्शन में—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत के रूप से चार भेद किए गए हैं।

---

१. व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरपि भवप्रादुर्भावे सति चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः समाधिः।

—सुबोधिनी २४

२. चित्तस्य ज्ञेयात्मना निश्चलावस्थानं समाधिः।

—विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० १२६

सविकल्पक समाधि को स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने मिट्टी से बने गजादि का दृष्टान्त दिया है। इस दृष्टान्त का यही आशय है कि जिस प्रकार मिट्टी के हाथी को देखकर हाथी के बोध के साथ-साथ मिट्टी का भी बोध बना रहता है, परन्तु मिट्टी से बने गज एवं अश्वादि मूल तत्त्व अद्वैत रूप से मिट्टी ही समझी जाती है, उसी प्रकार सविकल्पक में ज्ञेय एवं ज्ञान के रूप में द्वैत का भान होने पर भी परमात्मतत्त्व रूप से अद्वैत तत्त्व का ही भान होता है। इससे ज्ञाता आदि विकल्पों का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने उपदेशसाहस्री के 'दृशिस्वरूपं—श्लोक के अन्तर्गत यह स्पष्ट किया है कि सविकल्प समाधि के अन्तर्गत साधक मैं ही परब्रह्म[1] (ओम्) हूँ, ऐसा अनुभव करता है।

निर्विकल्पक समाधि के अन्तर्गत सविकल्पक के समान ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान की भेद कल्पना रहती है। इसी लिए 'नामजात्यादियोजनारहितं निर्विकल्पकम्' यह निर्विकल्पक समाधि का स्वरूप बतलाया गया है। योग-दर्शन में निर्विकल्पक को असम्प्रज्ञात समाधि का नाम दिया गया है। जबकि सम्प्रज्ञात या सविकल्पक में ध्यान का कुछ न कुछ आलम्बन बना रहता है, असम्प्रज्ञात में कोई आलम्बन नहीं रहता। इस स्थिति में 'क्लेश' तथा कर्माशय के समाप्त होने के कारण इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि के भी दो भेद हैं—एक भवप्रत्यय और दूसरा उपायप्रत्यय। भव प्रत्यय और उपाय प्रत्यय का यही अन्तर है कि भवप्रत्यय में अविद्या का सम्पूर्ण नाश नहीं होता, अतः इसके अनन्तर पुनः जीव संसार में आ जाते हैं, किन्तु उपाय-प्रत्यय में 'प्रज्ञा' का पूर्णतः उदय हो जाता है तथा इस समाधि की स्थिति होने पर जीव संसार-बुद्धि से लिप्त नहीं होता।

ग्रन्थकार ने निर्विकल्पक समाधि को स्पष्ट करते हुए कहा है कि निर्विकल्पक समाधि में चित्त अद्वैततत्त्वस्वरूप परब्रह्म के आकार से आकारित होकर ब्रह्म-तत्त्व के साथ एकीभाव को प्राप्त होता है—"तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्" यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि जब ब्रह्म का कोई आकार ही नहीं है तो चित्तवृत्ति के उसके आकार से आकारित होने का अवसर कहाँ उपस्थित होता है। अतः यहाँ चित्तवृत्ति के ब्रह्म के आकार से आकारित होने का अर्थ परब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त करना लेना चाहिए। यही बात ग्रन्थकार ने जल एवं लवण के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट की है। जिस प्रकार कि जल में

---

१. ओमिति यत् परं ब्रह्म तदेवाऽहम्। —सुबोधिनी, पृ० ३५

मिलने पर नमक की पृथक् प्रतीति नहीं होती, अपितु जलमात्र प्रतीत होता हैं, उसी प्रकार जब चित्तवृत्ति अद्वैत ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त होवी है तो उस स्थिति में अद्वैत ब्रह्ममात्र ही अवभासित होता है । चित्तवृत्ति के रहते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। निर्विकल्पक समाधि का यही लक्षण उसे सुषुप्ति से पृथक् करता है। सुषुप्ति अवस्था में उक्त वृत्ति की प्रतीति तो नहीं होती, किन्तु स्थिति होती है।

महान् सैनिक एवं वेदान्ती जैकब महोदय ने उपर्युक्त कथन का वेदान्तसार के "तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरति सूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवतः" कथन को विरोधी वतलाते हुए कहा है कि 'तदानीमेतौ' इत्यादि कथन के अनुसार ईश्वर एवं प्राज्ञ अज्ञानवृत्तियों के द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं।[1] अतः सुषुप्ति में वृत्ति की स्थिति स्पष्ट है। जबकि वेदान्तसार के उपर्युक्त अंश—'उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि' इत्यादि के अन्तर्गत सुषुप्ति में वृत्ति का अभाव वतलाया गया है। उक्त शङ्का का यही समाधान है कि सुषुप्ति अवस्था में सुख का भोग करने वाली अज्ञान वृत्ति की ही स्थिति रहती है। किन्तु निर्विकल्पक समाधि में जिस वृत्ति की स्थिति देखी जाती है वह परमात्मज्ञानस्वरूपा चित्तवृत्ति है। यह परमात्मज्ञानस्वरूपा चित्तवृत्ति निश्चय ही सुषुप्ति में नहीं रहती। यदि कहीं सुषुप्ति में भी वृत्ति की यह स्थिति देखी जाती तव तो सभी गहरी नींद की गोली खाकर निर्विकल्पक समाधि का अनुभव करते। अब यहाँ निर्विकल्पक समाधि के अङ्गों का निरूपण करेंगे।

निर्विकल्पक समाधि के अंग

अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः। तत्र "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेऽवरप्रणिधानानि नियमाः। करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि। रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः। इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं

1. The statement here, in text and commentary, as to the nonexistance of vritti in sound sleep, seems to be in opposition is that in section eight, when it is said that Iṣwara and Prājna experience pleasure during sound sleep, Ajnana Vrittibhi."

(Jacob—Vedāntasara, p. 158)

प्रत्याहारः। अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा। तत्राद्वितीय-वस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्। समाधि-स्तूक्त-सविकल्पक एव ॥१३॥

इस (निर्विकल्पक समाधि) के अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि हैं । उनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह यम हैं । शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान (आराधना) नियम हैं । हाथ-पैरों की स्थिति विशेष के सूचक पद्म एवं स्वस्तिक आदि आसन हैं । रेचक, पूरक तथा कुम्भक रूप, प्राण (वायु) के निग्रह के उपायभूत प्राणायाम हैं । इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों से हटाने का नाम प्रत्याहार है । अन्तःकरण का अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) में लगा देना धारणा है । अन्तःकरण का रुक-रुक कर अद्वैत ब्रह्म में वृत्ति का सातत्य-रूप प्रवाह ध्यान है । समाधि तो (जैसा कि) कहा है, सविकल्पक ही है निर्विकल्पक नहीं ।

विवेक

इस प्रकरण में ग्रन्थकार ने निर्विकल्पक समाधि के साधनभूत अङ्गों का निरूपण किया है । यम आदि जिन आठ अङ्गों की चर्चा यहाँ की गई है, वे अन्तरङ्गभूत साधन हैं ।

यम के अन्तर्गत जिन अहिंसा आदि आठ साधनों का उल्लेख हुआ है, वे इस प्रकार हैं—

१. अहिंसा—वाणी, मन एवं शरीर से दूसरे को पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है । (२) यथार्थ भाषण सत्य है । (३) बिना दिए हुए दूसरे के धन को ग्रहण न करना अस्तेय है । (४) अष्टाङ्ग मैथुन का त्याग ब्रह्मचर्य है । अष्टाङ्ग मैथुन एवं ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में दक्षसंहिता (सप्त अध्याय) में लिखा है—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥

शौचादि नियम इस प्रकार हैं—

१. शौच का अर्थ बाह्य एवं आन्तरिक पवित्रता है—

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।

मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ।।
याज्ञवल्क्यगीता १।६९ तथा देखिए संहिता-५)

२. सन्तोष—

यदृच्छालाभ से सन्तुष्ट होना तथा लाभ न होने पर दुःखी न होना ही सन्तोष है। यदृच्छालाभसन्तुष्ट वह व्यक्ति है जो विना मांगे अपने आप अर्थात् विना प्रयास के ही प्राप्त वस्तु से सन्तुष्ट हो जाता है। अर्थात् जो वस्तु व्यक्ति को प्राप्त होती है उसे ही पर्याप्त समझ कर सन्तुष्ट हो जाता है। यही आशय शङ्कराचार्य ने 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' (गीता ४।२२) पर भाष्य करते हुए स्पष्ट किया है—

'यदृच्छा लाभः सन्तुष्टः' अप्रार्थितोपनतो लाभो
यदृच्छालाभः तेन सन्तुष्टः संजातालंप्रत्ययः ।।
(शां० भा० गीता ४।२२)।

३. कामनाओं का भोग न करना ही तप है—

तपो नानशनात् परम् । (महानारायणोपनिषद् २१)

उपदेश साहस्री के अन्तर्गत तप के स्वरूप को इस प्रकार बतलाया गया है—

मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः ।
(उपदेशसाहस्री १७)

४. प्रणव का जप एवं उपनिषद्ग्रन्थों की आवृत्ति स्वाध्याय है—
'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (मुण्डक २।३)
'उपनिषदमावर्तयेत्' (आरुणिकोपनिषद्-२)

५. मानस उपचारों से ईश्वर की अभ्यर्चना ईश्वरप्रणिधान है—

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।
(श्वेता० ६।१८)

पद्म एवं स्वस्तिक के साथ आदि शब्द का सङ्केत करके ग्रन्थकार ने भद्रासन एवं वीरासन की ओर सङ्केत किया है। त्रिविध प्राणायाम में रेचक प्राणायाम की क्रिया के अनुसार वाम अथवा दक्षिण नासापुट से सव्यापसव्य प्रक्रिया से धीरे-धीरे प्राण वायु को बाहर निकाला जाता है। उस प्राणवायु को उसी प्रकार से अन्दर ले जाना पूरक है। अन्दर ले जाई गई वायु का अन्दर रोक देना ही

निरोध है।[1] ध्यान के अनुसार अद्वैत ब्रह्म में चित्तवृत्ति के रोकने का यही आशय है कि वृत्ति को दृढ़ करने के लिए बार-बार ध्यान करना चाहिए। ध्यान का यही स्वरूप उसे समाधि से भिन्न सिद्ध करता है। समाधि तो सविकल्पक ही है, इसका यही तात्पर्य है कि निर्विकल्पक तो साध्य ही है, अतः उसके अङ्ग होने का अवसर ही नहीं होता है।

अब यहाँ निर्विकल्प समाधि के अङ्गों की चर्चा करने के बाद उस (निर्विकल्पक समाधि) के विघ्नभूत लयादि का निरूपण करेंगे

निर्विकल्पक समाधि के विघ्न

एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा। अखण्डवस्त्ववलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः। लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्तेरागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः। समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा ॥३२॥

इस प्रकार इस अङ्गी (मुख्य) निर्विकल्पक के लय, विक्षेप, कषाय एवं रसास्वाद रूप चार विघ्न सम्भव हैं। अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का आश्रय न लेकर चित्तवृत्ति की निद्रा लय है। अखण्ड वस्तु के आश्रय के विना ही चित्तवृत्ति का अन्य वस्तु का आश्रय लेना विक्षेप है। लय और विक्षेप की अनुपस्थिति में भी चित्तवृत्ति के रागादि वासना से जडीभूत होने से अखण्ड वस्तु का आश्रय न करना कषाय है। अखण्ड वस्तु का आश्रय न लेकर भी चित्तवृत्ति का सविकल्पक आनन्द का आस्वाद रसास्वाद कहलाता है। या समाधि के आरम्भ में सविकल्पक आनन्द का आस्वाद रसास्वाद है।

विवेक

यहाँ ग्रन्थकार ने निर्विकल्पक समाधि में सम्भव लयादि विघ्नचतुष्टय का

---

१. रेचकः प्राणवायोः शनैर्वामनासापुटाद् दक्षिणनासापुटाद्वा सव्यापसव्यन्यायेन बहिर्निस्सारणम्। पूरकस्तस्य तथैवान्तः प्रवेशनम्। कुम्भकस्तु पूरितस्य वायोरन्तरेव निरोधः।
(विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० १३१

वर्णन किया है। प्रथम विघ्न लय बतलाया है। लय के दो भेद हैं—एक लय तो वह है जिसके अनुसार उस अष्टाङ्गसहित निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास के पाटव से साधक की वृत्ति का प्रत्यगभिन्न परमानन्दस्वरूप में उसी प्रकार लय हो जाता है, जिस प्रकार कि अत्यन्त तप्त लौहतल पर डाली गई जल की बूंद की समाप्त हो जाती है या जिस प्रकार तैल से रहित दीपक में दीपक की बत्ती समाप्त हो जाती है। यह लय तो विघ्न न होकर मुमुक्षु के लिए सर्वथा साध्य ही है।[1] द्वितीय लय जिसका प्रकृत स्थल में उल्लेख है, विघ्नस्वरूप है। इस द्वितीय लय के अनुरूप मूर्च्छावस्था के समान व्यक्ति की बाह्य शब्दादि विषयों के ग्रहण में तो आस्था नहीं होती, किन्तु प्रत्यगात्मस्वरूप के अवभासित न होने के कारण वृत्ति स्तब्धीभूत होकर निद्रा को प्राप्त होती है। द्वितीय विघ्न विक्षेप नामक है। इसके अनुसार साधक में अखण्ड वस्तु के साक्षात्कार के निमित्त अन्तर्मुखी होकर प्रवृत्त चित्तवृत्ति के चित् का आश्रय न लेकर पुनः बाह्य विषयों के ग्रहण के लिए प्रवृत्ति देखी जाती है। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार कि बहेलिए आदि से डरा हुआ पक्षी तुरन्त बाहर भाग जाना चाहता है[2] रागादि की वासना के कारण स्तब्धीभूत होने से अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का आश्रय ग्रहण न करने को कषाय (तृतीय विघ्न) कहा गया है। ये रागादि तीन प्रकार के हैं—बाह्य, आभ्यन्तर तथा मात्र वासना रूप। पुत्रादि से सम्बन्धित बाह्य राग है। आन्तरिक राग मन का राज्य हैं। मन के राज्य से मन के अभिमानी होने का तात्पर्य है। संस्कारमय राग वासनारूप राग है। इस प्रकार अनेक जन्मों में अभ्यस्त उक्त रागों के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से कलुषता को प्राप्त हुआ चित्त श्रवणादि से अन्तर्मुख हुआ भी चैतन्य के साक्षात्कार के सामर्थ्य के न होने से मध्य में ही स्तब्ध हो जाता है। इस सम्बन्ध में सुबोधिनीकार ने एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार कि राजा के दर्शन के लिए अपने घर से निकल कर कोई व्यक्ति जब मन्दिर में पहुँचता है तो द्वारपाल के द्वारा रोक दिया जाता है, उसी प्रकार बाह्य विषयों को छोड़कर अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) के साक्षात्कार के लिए प्रवृत्त साधक फिर जाग्रत हुए रागादि संस्कारों के द्वारा स्तब्धता को प्राप्त होता है—और अखण्ड वस्तु की उपलब्धि के मार्ग

१. देखिए—सुबोधिनी, पृ० ४९

२. अखण्ड वस्तुग्रहणायान्तर्मुखस्या प्रवृत्तायाश्चित्तवृत्तेश्चिदनवलम्बनेन त्रस्तपक्षिवत् पुनर्बाह्यविषयग्रहणाय प्रवृत्तिर्विक्षेपः।

—सुबोधिनी, ४९,५०

में रोक दिया जाता है। (सुबोधिनी, पृ० ५०) चतुर्थ विघ्न रसास्वाद है। अखण्ड वस्तु में चित्तवृत्ति के सविकल्पक आनन्द के आस्वाद को रसास्वाद कहा गया है। उक्त दोनों सविकल्पक समाधियों[1] में से दूसरी शब्दों रहित त्रिपुटीविशिष्ट है, उसमें जो आनन्द है वह बाह्य शब्दादि विषयों के प्रपञ्च के भार के त्याग से जन्य है, न कि चैतन्यस्वरूप के साक्षात्कार से जन्य है। जिस प्रकार प्रेतादि से आवृत धन-संपत्ति के लिए जाने वाला कोई व्यक्ति उस धन संपत्ति के प्राप्त न होने पर भी भूतादि अनिष्ट की निवृत्ति मात्र से ही महान् आनन्द को प्राप्त करता है, उसी प्रकार अखण्ड वस्तु के आलम्बन के विना नित्य आनन्द के रसास्वाद के अभाव में भी अनिष्ट रूप बाह्य प्रपञ्च की निवृत्ति से जन्य सविकल्पक रूप आनन्द का ब्रह्मानन्द के भ्रम से आस्वादन करता है। रसास्वाद विघ्न की एक वह स्थिति भी हो सकती है जब कि निर्विकल्पक समाधि के आरम्भकाल में अनुभूयमान सविकल्पक समाधि के आनन्द के त्याग को सहन न करने के कारण फिर उसी का आस्वादन करता है, यही रसास्वाद है।[1]

निर्विकल्पक समाधि

अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं निर्वातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते। तदुक्तम्—

"लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्॥
नास्वादयेद्रसं तत्र निस्सङ्गः प्रज्ञया भवेत्।" इति,
(गौडपादकारिका ३।४४,४५)
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।"
इति च (गीता ६।१९) ॥३३॥

जब इस विघ्न-चतुष्टय से विरहित (विनिर्मुक्त) चित्त वायु-रहित प्रदेश में स्थित दीपक (दीपक की लौ) के समान अचल होकर अखण्ड चैतन्यमात्र (स्वरूप से) स्थित रहता है तो यह निर्विकल्पक समाधि कहलाती है। इसीलिए ऐसा कहा है—चित्त को शान्त करे, विषयों से आसक्त चित्त को सावधान करे, स्थिरता को प्राप्त चित्त को विचलित न करे। उस अवस्था

१. देखिए—सुबोधिनी, उक्त समाधयोर्मध्ये।

में रसास्वाद न करे और प्रज्ञा (स्थित प्रज्ञा) से अनासक्त होवे। (गौडपाद-कारिका, ३।४४,४५)

और इस प्रकार कहा है—

जिस प्रकार वातरहित प्रदेश में स्थित दीपक (दीपक की लौ) नहीं हिलती, वही उपमा (चित्त के सम्बन्ध में कही गई है। (गीता, ६।१९)

विवेक

इस अंश में लयादि विघ्नचतुष्टय की निवृत्ति के फलस्वरूप स्थिति का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि जब उक्त चारों विघ्नों की निवृत्ति हो जाती है तो चित्त उसी प्रकार अचल स्थिति को प्राप्त होता है, जिस प्रकार कि वायु से रहित प्रदेश में दीपक की लौ स्थिरता को प्राप्त होती है। इस स्थिति में चित्त अर्थात् चित्तवृत्ति समाप्त होती है और केवल ब्रह्म-मात्र की स्थिति रह जाती है। यही स्थिति निर्विकल्पक समाधि की स्थिति कहलाती है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने उपर्युक्त विघ्नों एवं उनकी निवृत्ति के उपायों के सम्बन्ध में गौडपादकारिका तथा श्रीमद्भगवद्गीता के 'लये सम्बोधयेत्'—इत्यादि अंश को उद्धृत किया है। आचार्य गौडपाद के उपर्युक्त कथन के अनुरूप जब चित्त में लय (जाड्योत्पन्न निद्रा) रूप विघ्न उत्पन्न हो तो साधक को चित्त के जाड्य-रूप विघ्न का परित्याग कर देना चाहिए और चित्त को परमात्मा की ओर जाग्रत करना चाहिए तथा विक्षेप होने पर विषयों के प्रति वैराग्य वृत्ति के द्वारा चित्त को शान्त करना चाहिए। विषयों के प्रति वैराग्य होने से चित्त में स्वभावतः शान्ति आएगी। जब कषाय-रूप विघ्न उपस्थित होवे तो साधक को यह दृष्टि रखनी चाहिए कि रागादि की वासना से बाह्य विषयों की प्राप्ति होती है, अखण्ड वस्तुस्वरूप परब्रह्म की नहीं, अतः समीचीन नहीं है, ऐसा समझकर रागादि वासना का त्याग करना चाहिए। 'सकषायं विजानीयात्' का सुबोधिनीकार ने एक अन्य अर्थ करते हुए कहा है कि जब चित्त परमात्मस्वरूप वस्तु को प्राप्त न हो तो उसे सकषाय जानना चाहिए। वह चित्त जब तक रागादि वासना के क्षय से युक्त न हो जाय तब तक उसे चलायमान न करे। वासनाक्षय के पश्चात् तो चित्त स्वतः प्रत्यक् प्रवणता को प्राप्त करता है (सुबोधिनी ५१)। सविकल्पक समाधि में लौकिक विषयों के प्रपञ्चरूप भार के त्याग के फलस्वरूप प्राप्त आनन्द का आस्वाद नहीं करना चाहिए, अपितु समस्त सुख-दुःखादि की आसक्ति से रहित होकर प्रज्ञा से युक्त अर्थात् स्थितप्रज्ञ होना चाहिए।

यही तथ्य श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

(गीता २।५५)

उपर्युक्त विघ्नचतुष्टय से रहित होकर चित्त चित् तत्त्व रूप से स्थित रहता है, अतः इस निर्विकल्पक समाधि की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए वातरहित प्रदेश के दीपक की लौ की उपमा उपयुक्त ही है, क्योंकि जिस प्रकार निर्वात प्रदेश में दीपक की लौ स्थिरता को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार निर्विकल्पक समाधि में स्थित चित्त भी चाञ्चल्य को त्याग कर चिन्मात्रस्वरूप से स्थित रहता है। अब यहाँ समाधि के फलस्वरूप ब्रह्मनिष्ठ स्थिति को प्राप्त होने वाले जीवन्मुक्त के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

जीवन्मुक्त का लक्षण

अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते । जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः ।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥"

इत्यादिश्रुतेः । (मुण्ड० उ० २।२।८)

॥३४॥

अब जीवन्मुक्त का लक्षण कहा जाता है। जीवन्मुक्त उस मनुष्य को कहते हैं जो अपने स्वरूप—अखण्ड ब्रह्म के ज्ञान से तद्विषयक (अखण्ड ब्रह्मविषयक) अज्ञान के बाध के द्वारा अपने स्वरूप—अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर अज्ञान एवं उसके कार्य—सञ्चित कर्म, संशय एवं विपर्यय आदि का भी बाध होने से समस्त (अज्ञानरत) बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ होता है।

उस परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि (अज्ञानग्रन्थि) का भेदन हो जाता है, समस्त संशयों का उच्छेद हो जाता है तथा कर्मों का क्षय हो जाता है। (मु० २।२।८) इत्यादि श्रुति उक्त कथन में

प्रमाण है ।

विवेक

इस अंश में ग्रन्थकार ने ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि जब जीव को अपने स्वरूप अर्थात् अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है तो अखण्ड ब्रह्म से सम्बन्धित अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और अज्ञान की निवृत्ति के फलस्वरूप (स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर मूलाज्ञान एवं उसके कार्य-रूप समस्त स्थूल-सूक्ष्ममय द्वैतप्रपञ्च का उच्छेद हो जाता है) ब्रह्म साक्षात्कार होने पर उन सञ्चित कर्मों का नाश कहा गया है जो ज्ञानोत्पत्ति होने से पूर्व[1] उत्पन्न हो गये थे, किन्तु जिनका फलभोग आरम्भ नहीं हुआ है । ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर जिस संशय का नाश ग्रन्थकार द्वारा बतलाया गया है वह यह संशय है कि देहादि से अतिरिक्त ब्रह्मस्वरूप आत्मा है अथवा नहीं ? अथवा ब्रह्मात्मज्ञान से मोक्ष होता है या नहीं ? इस प्रकार की विचिकित्सा ही संशय है । जिस विपर्यय के उच्छेद की बात कही गई है वह देहादि में आत्माभिमान रूप है । ग्रन्थकार ने 'विपर्ययादि' में आदि पद के द्वारा बाह्य मायिक प्रपञ्च में सत्यत्वबुद्धि का निर्देश किया है । इन समस्त का बाध होने पर ही जीव ब्रह्मनिष्ठता को प्राप्त होता है । इस स्थल पर ग्रन्थकार ने ब्रह्म ज्ञान के होने पर अज्ञान का बाध कहा है तथा अज्ञान का बाध होने पर ब्रह्म-साक्षात्कार की बात कही है । यहाँ ग्रन्थकार द्वारा ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्मसाक्षात्कार का भेद विचारणीय है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मज्ञान साधनरूप है और ब्रह्मसाक्षात्कार साध्यस्वरूप है । यद्यपि वेदान्त में ब्रह्मसाक्षात्कार भी ज्ञान-स्वरूप ही है परन्तु ब्रह्मसाक्षात्कार होने से पूर्व ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान आवश्यक है ।

एक बात और विचारणीय है और वह यह कि "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" के द्वारा हृदय की जिस ग्रन्थि का उल्लेख किया गया है वह चित् एवं अचित् अहङ्कार की ग्रन्थि है । जिस प्रकार सामान्य गांठ की दो रस्सियों अथवा वस्त्रों का संयोग होता है, उसी प्रकार अहङ्कार में भी चित् एवं अचित् का योग ही 'हृदयग्रन्थि' कही गई है । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि "भिद्यते हृदयग्रन्थिः"—इत्यादि श्रुति में "क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि" कह कर समस्त कर्मों का क्षय बतलाया गया है किन्तु इससे प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं

१ देखिए—विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० १३२

समझना चाहिए, क्योंकि प्रारब्ध कर्मों का भोग तो जीवन्मुक्त को भी भोगना ही पड़ता है। अतः 'कर्माणि' से संचित एवं सञ्चीयमान कर्मों के क्षय का आशय ग्रहण करना उपयुक्त होगा न कि प्रारब्ध कर्मों का भी। अब यहाँ जीवन्मुक्त की स्थिति का वर्णन किया जाता है—

जीवन्मुक्त की स्थिति

अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेणान्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजनेनेन्द्रियग्रामेणाशनायापिपासाशोकमोहादिभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यति। यथेन्द्रजालमिदमिति न पश्यति। "सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव" इत्यादिश्रुतेः।

उक्तं च—

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति
द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः
स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः॥"

इति॥ उ० सा० ५॥३५॥

यह (जीवन्मुक्त) (समाधि के पश्चात्) उठने पर मांस, रक्त, मूत्र एवं पुरीष आदि के भाजन शरीर से अन्धता, मन्दता एवं अपटुत्व (कुण्ठत्व) आदि के भाजन इन्द्रियसमूह से तथा भूख, प्यास, शोक एवं मोहादि के भाजन अन्तःकरण से पूर्व-पूर्व-वासना से किये जाने वाले कर्मों को और (इनके आधार पर) भोगे जाने वाले ज्ञानाविरोधी फलों को देखता हुआ भी (उनका) बाध होने के कारण, परमार्थ दृष्टि से नहीं देखता है। जिस प्रकार कि (यह) इन्द्रजाल (माया) है, इस प्रकार का ज्ञानवाला उस इन्द्रजाल को देखते हुए भी 'यह (इन्द्रजाल) परमार्थस्वरूप है' इस प्रकार नहीं देखता। नेत्रसहित नेत्ररहित के समान, कानसहित कानरहित के समान इत्यादि—श्रुति-प्रमाण हैं। और कहा है—जो सुषुप्ति अवस्था के समान जाग्रत में अद्वैतदृष्टि के कारण द्वैत को देखते हुए भी नहीं देखता है और जो कर्म करते हुए भी निष्क्रिय है,

वह आत्मतत्त्ववेत्ता है, अन्य नहीं, यही इस विषय में निश्चय सिद्धान्त है। (उपदेश साहस्री-५)

विवेक

यहाँ जीवन्मुक्त के स्वरूप को स्पष्ट किया जा रहा है। अखण्ड ब्रह्म-निष्ठता ही मुक्ति है। मुक्ति के स्वरूप की क्रिया को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार का यह अभिप्राय है कि अखण्ड ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होने पर, अखण्ड ब्रह्मविषयक अज्ञान का बाध होता है और तत्फलस्वरूप अखण्डब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

इस स्थल पर ग्रन्थकार ने जीवन्मुक्त के व्यवहार के सम्बन्ध में विचार किया है। जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में ये शङ्काएं स्वाभाविक हैं कि क्या जीवन्मुक्त के द्वारा कर्म सम्भव हैं? अथवा नहीं? तथा जीवन्मुक्त प्राणी क्या कर्मफलों का भोगकर्ता है? इन्हीं सम्भावित शङ्काओं का उत्तर ग्रन्थकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है। ग्रन्थकार का समाधान है कि जीवन्मुक्त प्राणी भी शरीर, इन्द्रिय-ग्राम एवं अन्तःकरण के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार से पूर्व वर्तमान वासनाओं के द्वारा कर्मों का सम्पादन करता है तथा प्रारब्ध कर्मों के फलों को भोगता हुआ भी ज्ञान की अविरुद्ध दृष्टि से ही भोगता है, विरोधी दृष्टि से नहीं। इसका यह आशय है कि परमार्थतत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त प्राणी के द्वारा भी प्रारब्ध कर्म के फल का भोग सम्भव है, किन्तु वह उस फल से लिप्त नहीं होता। इसीलिए सदानन्द ने 'पश्यन्नपि बाधित्वात् परमार्थतो न पश्यति' के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि जीवन्मुक्त प्रारब्ध के फलभोगों को देखते हुए भी ज्ञान दृष्टि से उनका बाध होने के कारण उन्हें परमार्थदृष्टि से नहीं देखता हैं। इसी सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने इन्द्रजाल (जादू) का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार कि जो व्यक्ति जादू को जादू समझता है वह उसे वास्तविक नहीं समझता, उसी प्रकार जो प्राणी जीवन्मुक्त तत्त्व-ज्ञानी अद्वैतब्रह्म की निष्ठा से सम्पन्न होता है वह कर्मभोग से लिप्त नहीं होता। यह तो निश्चित है कि उसे कर्म का भोग तो भोगना पड़ता है—

"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"

जीवन्मुक्त के व्यवहार के सम्बन्ध में 'सचक्षुरचक्षुरिव' श्रुति को उद्धृत करके ग्रन्थकार ने यह सिद्ध किया है कि यद्यपि जीवन्मुक्त नेत्रादि

इन्द्रियों से तत्तत् दर्शनादि कर्मों को अवश्य करता है, किन्तु दर्शनादि में उसकी भोगदृष्टि नहीं होती अर्थात् न वह किसी सुन्दर रमणी को देखकर उल्लसित होता है और न किसी कुरूपा को देखकर भौंहें सिकोड़ता है। न लोकदृष्टि से शुभ समाचार को सुनकर प्रसन्न होता है और न अशुभ समाचार को सुनकर अप्रसन्न। वह तो शुभाशुभपरित्यागी एवं समदर्शी होता है, इसी सिद्धान्त को ग्रन्थकार ने शङ्कराचार्य की उपदेशसाहस्री के श्लोक—सुषुप्तवज्जाग्रति० के द्वारा स्पष्ट किया है। उपदेश-साहस्री के उक्त श्लोक में शङ्कराचार्य ने जीवन्मुक्त के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में प्राणी की भेद-दृष्टि समाप्त होती है उसी प्रकार तत्त्व ज्ञानी जीवन्मुक्त जाग्रत् अवस्था में रहते हुए तथा द्वैत को देखते हुए भी नहीं देखता। इसका आशय यह है कि यद्यपि नेत्रों के द्वारा जीवन्मुक्त प्राणी जगत् की अनेकानेक वस्तुओं को देखता अवश्य है, किन्तु उन्हें वह द्वैतदृष्टि से न देखकर अद्वैतब्रह्मदृष्टि से ही देखता है अर्थात् समस्त जगत् को ब्रह्मस्वरूप ही समझता है। जीवन्मुक्त के कर्म करने पर भी निष्क्रिय रहने का यह अभिप्राय है कि वह 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (गीता ३।५) नियम के अनुसार कर्म तो अवश्य करता है किन्तु भोग दृष्टि से नहीं। यही गीता का निष्काम कर्म-योग है, जहाँ कर्मसम्पादन फलभोग की कामना से नहीं किया जाता—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" (गीता २।४७) अद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार यही आत्मतत्त्ववेत्ता या तत्त्वज्ञानी की स्थिति है।

अब यहाँ जीवन्मुक्त की कर्मदृष्टि के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

जीवन्मुक्त की कर्मदृष्टि

अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभ-वासनानामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा। तदुक्तम्—

"बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे" ॥ इति ॥
(नैष्कर्म्यसिद्धिः ४।६१)

"ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः।"
इति च ॥
(उपदेशसाहस्री ११५) ॥३६॥

इस (ज्ञानी) के ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) से पूर्व विद्यमान ही आहार-विहारादि की अनुवृत्ति के समान शुभ वासनाओं की ही अनुवृत्ति होती है जो शुभ एवं अशुभ की उदासीनता (होती है)। इसीलिए कहा है—"जिसने अद्वैत तत्त्व को जान लिया है यदि ऐसे व्यक्ति के द्वारा यथेष्ट (उच्छृखंल) आचरण होने लगेगा तब तो कुत्तों एवं तत्त्वज्ञानियों में अपवित्र वस्तु के भक्ष्य के विषय में क्या भेद रह जाएगा।" (नैष्कर्म्यसिद्धि—४।६२) "और जो ब्रह्मवेत्ता (मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ) इस प्रकार का अहङ्कारमूलक भाव छोड़ देता है, वही वस्तुतः आत्मतत्त्व का वेत्ता है, अन्य नहीं। (उपदेशसाहस्री, ११५)

विवेक

जीवन्मुक्त के द्वारा भी पूर्व वासनारूप से ही सही, कर्म-सम्पादन आवश्यक है, यह तो ठीक है, किन्तु उसके द्वारा शुभ कर्मों का सम्पादन होता है अथवा अशुभ कर्मों का यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। यदि कहा जाए कि अशुभ कर्मों का सम्पादन होता है तो यह नितान्त अनुचित है, क्योंकि ऐसा तत्त्वज्ञानी ही क्या जिसके द्वारा अशुभ कर्म का सम्पादन हो, अतः तत्त्वज्ञानी के द्वारा शुभ कर्मों के सम्पादन की ही बात सङ्गत हो सकती है। किन्तु ऐसा मानने पर भी यह विप्रतिपत्ति सम्भव है कि जब जीवन्मुक्त 'शुभाशुभ-परित्यागी' अर्थात् शुभ एवं अशुभ का परित्याग करने वाला होता है तो उससे शुभ कर्मों का सम्पादन ही क्यों होता है, इसी जिज्ञासा का समाधान ग्रन्थकार द्वारा प्रकृत स्थल पर किया गया है। ग्रन्थकार का आशय है कि तत्त्वज्ञानी यद्यपि शुभाशुभपरित्यागी होता है, किन्तु फिर भी तत्त्वज्ञान से पूर्व उसकी वासनायें शुभ कर्मों की होती हैं, अतः उसके द्वारा सहज रूप से शुभ कृत्यों का ही सम्पादन होता है, ऐसा वह किसी कामना से नहीं करता। इस सम्बन्ध में स्वामी रामकृष्ण का निम्न कथन उपयुक्त ही है—

"An expert dancer never makes a false step."
(Vedāntasāra, Edited by Nikhilananda, p. 127)

अर्थात् कुशल नृत्यकार के कदापि अनुचित कदम नहीं पड़ते। यह दृष्टान्त उचित ही है। जिस प्रकार कि कुशल नृत्यकार के पैर स्वभावतः ही ठीक पड़ते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी के कर्म भी सहजरूप से ही शुभ होते हैं। शुभ वासनाओं की अनुवृत्ति जीवन्मुक्ति की स्थिति में उसी प्रकार देखी जाती है, जिस प्रकार कि आहार-विहारादि की; यही शुभाशुभ की उदासीनता की स्थिति है।

ब्रह्मवेत्ता (मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ) की स्थिति को इसलिए अज्ञानपूर्ण कहा है, कि इस में द्वैत की स्थिति भासती है, जबकि तत्त्वज्ञानी पूर्णतया अद्वैतस्वरूप ही होता है।

अब जीवन्मुक्त के स्वाभाविक गुणों के सम्बन्ध में विचार किया जाएगा।

जीवन्मुक्त का स्वभाव

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चालङ्कारवदनुवर्तन्ते। तदुक्तम्—

"उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः॥ इति॥"

(नैष्कर्म्यसिद्धिः—४।६९) ॥३७॥

उस समय अमानित्व निरभिमानता आदि ज्ञानसाधन तथा अद्वेषता आदि सद्गुण अलङ्कारों के समान अनुवर्तन करते हैं, बने रहते हैं। इसीलिए कहा है—

जिसे आत्मज्ञान हो गया है, उसमें अद्वेषत्व आदि गुण स्वभावतः ही रहते हैं, न कि साधनरूप से।

(नैष्कर्म्यसिद्धिः—४।६९)

विवेक

ग्रन्थकार का कथन है कि जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी में अमानित्व, अद्वेषत्व आदि सद्गुणरूप ज्ञान के साधन अलङ्कारों के समान स्वभावतः देखे जाते हैं। अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा तथा आर्जव ग्राह्य हैं—'अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्'। (गीता-१३।७) अलङ्कारों के समान होने का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार स्वाभाविक अलङ्कार (आभूषण) किसी नागरिक सुन्दरी के सौन्दर्य की सहज रूप से वृद्धि करते हुए देखे जाते हैं, उसी प्रकार अमानित्व आदि गुणों की स्थिति भी जीवन्मुक्त में सहज रूप से ही देखी जाती है। यहाँ अलङ्कारों की उपमा से सहजता का ही आशय प्रधान है। या इस प्रकार कहना उचित होगा कि जिस प्रकार उत्तम काव्य में अलङ्कार स्वभावतः ही आते हैं, उसी प्रकार सद्गुण भी ज्ञानी में स्वाभाविक ही होते हैं। जिस प्रकार अलङ्कार रसात्मा काव्य-

सौन्दर्य के अनिवार्य साधन नहीं हैं उसी प्रकार ज्ञानी के लिए भी उक्त गुणों की साधनरूप अनिवार्यता नहीं है। इस प्रकार यह दृष्टान्त स्पष्टतया काव्य-शास्त्र का ही प्रतीत होता है। ज्ञानी में अद्वेषत्व का सहज रूप से होना उसी प्रकार अनिवार्य है जिस प्रकार कि काव्य में माधुर्यादि गुण रस के धर्म-रूप से अनिवार्यतया स्थित रहते हैं।[1] नैष्कर्म्यसिद्धि की 'उत्पन्नात्माव-बोधस्य' इत्यादि कारिका के द्वारा गुणों की साधनरूपता का खण्डन इस दृष्टि से किया गया है कि तत्त्वज्ञानरूप साध्य की प्राप्ति हो जाने पर साधन की अपेक्षा ही नहीं रहती। हाँ, ज्ञान होने से पूर्व इनकी साधनता अवश्य स्वीकार्य है।

अब यहाँ विदेहमुक्ति के सम्बन्ध में निरूपण किया जाएगा।

विदेहमुक्ति का स्वरूप

किं बहुनाऽयं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुखदुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभासादीनामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्य-संस्काराणामपि विनाशात् परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभास-रहितमखण्डब्रह्मावतिष्ठते। "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति", (बृ० उ० ४।४।६) "अत्रैव समवलीयन्ते," (बृ० उ० ३।२।११) "विमुक्तश्च विमुच्यते (कठ० उ० ५।१) इत्यादिश्रुतेः ॥३८॥

अधिक क्या, यह (जीवन्मुक्त) मात्र शरीर-यात्रा के लिए इच्छा, अनिच्छा एवं परेच्छा से प्राप्त कराए हुए सुखदुःखस्वरूप प्रारब्ध फलों का अनुभव करते हुए अन्तःकरण के आभास आदि का प्रकाशक होता हुआ उस (प्रारब्ध कर्म) का अन्त होने पर सर्वान्तिवर्ती एवं आनन्दस्वरूप परब्रह्म में प्राण के लीन होने पर अज्ञान एवं उसके कार्य-संस्कारों का भी विनाश होने के कारण परमकैवल्यस्वरूप आनन्दैकरस समस्त भेद-प्रपञ्च के आभास से रहित अखण्ड ब्रह्मरूप से स्थित है। 'उसके प्राण नहीं जाते' (बृ० उ० ४।४।६) 'यहीं पूर्ण लीन हो जाते हैं (बृ० उ० ३।२।११) मुक्त होकर फिर मुक्त होता है (कठ० उ० ५।१) इत्यादि श्रुतिप्रमाण हैं।

---

१. अलङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।
मम्मट : काव्यप्रकाश, ! थम उल्लास।

विवेक

यहाँ ग्रन्थकार ने विदेहमुक्ति के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है कि जीवन्मुक्त प्राणी केवल देहयात्रा के लिए—देह की स्थिति के लिए, न कि इन्द्रियों की प्रीति के कारण, इच्छा, अनिच्छा एवं परेच्छा द्वारा प्राप्त कराए गए त्रिविध प्रारब्ध फलों का असङ्ग रूप से अनुभव करता है। इनमें स्वेच्छा से प्राप्त प्रारब्ध फल के अन्तर्गत अकस्मात् काँटे का लगना आदि हैं। परेच्छा से प्राप्त प्रारब्ध फल भिक्षाटन आदि हैं। प्रापित फल के अन्तर्गत शिष्यों द्वारा बिना कहे प्रदत्त अन्नादि का प्राप्त करना है। इन त्रिविध प्रारब्ध फलों के भोगानुभव की स्थिति के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का विचार है कि इस स्थिति में तत्त्वज्ञानी विषयाकारवृत्तिरूप अन्तःकरण के आभासादि का साक्षिरूप से प्रकाशक होता है।[1] इस प्रकार जब प्रारब्ध-कर्मों के फलभोगरूप आश्रय के न रहने के कारण जीवन्मुक्त प्राणी के प्राणों की भी समाप्ति हो जाती है तो वे अन्तर्वर्ती परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। इस स्थिति में पूर्वसिद्ध ज्ञान के द्वारा प्रारब्ध कर्मों से आक्षिप्त अज्ञान एवं उसके कार्यरूप संस्कारों का भी विनाश होने के कारण[2] परम अद्वैत स्वरूप, मात्र ब्रह्मानन्दस्वरूप, समस्त द्वैतप्रपञ्च से रहित अखण्ड ब्रह्म मात्र के स्वरूप से जीवन्मुक्त प्राणी की स्थिति देखी जाती है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी के प्राणों का कहीं गमन न होकर वे परब्रह्म में उसी प्रकार लीन हो जाते हैं, जिस प्रकार तप्त लौह में डाली हुई जल की बूंद विलीन हो जाती है। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' एवं 'अत्रैव समवलीयन्ते' का यही आशय है। 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (मुक्त होकर भी फिर मुक्त होता है) इसका यह अभिप्राय है कि यद्यपि जीव तो वस्तुतः मुक्त ही है किन्तु अविद्या के कारण द्वैतरूप संसाराभास का ब्रह्मज्ञान होने पर लय अपेक्षित है। इसीलिए विमुक्त की भी विमुक्ति कही गई है। इस प्रकार बन्धन एवं मोक्ष पारमार्थिक न होकर व्यावहारिक ही हैं—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधक।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

(गौडपादकारिका, २।३२)

---

१. अन्तःकरणाभासादीनां विषयाकारवृत्तीनां साक्षितयावभासकः सन्निति यावत्। —विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० ४

२. पूर्वसिद्धज्ञानेनैव प्रारब्धकर्माक्षिप्ताज्ञानतत्कार्यतत्संस्काराणामपि विनाशात्। —विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ० १२५

बन्धमोक्ष इति व्याख्या गुणतो न तु तत्त्वतः ।

× × ×

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति

मूल रूप से मुक्ति के विषय में भेद का निरूपण शाङ्कर वेदान्त दर्शन के प्रतिकूल है । इसका कारण यह है कि जीव का अखण्ड ब्रह्मभाव को प्राप्त करना ही मुक्ति है ।[1] 'ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः (भ० गी० ५।२०) ।'

अतः जीव जब अपने स्वभाव अखण्ड ब्रह्मात्मता को प्राप्त कर लेता है तो उसमें भेद का प्रश्न नहीं उपस्थित होता, क्योंकि ब्रह्म अखण्ड है। इस प्रकार सदानन्द के द्वारा जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति का जो उपर्युक्त रीति से भेद प्रदर्शित किया गया है वह स्थितिगत भेद समझना चाहिए, वस्तुतः मुक्तिगत भेद नहीं । जीवन्मुक्ति सशरीर प्राणी की इसी संसार में मुक्ति का नाम है और विदेहमुक्ति मुक्त पुरुष के शरीरपात के पश्चात् की स्थिति को कहते हैं। जब प्राणी को ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होने पर अविद्यानिवृत्ति हो जाती है तथा परमात्मसाक्षात्कार हो जाता है तो प्राणी इसी संसार में रहते हुए जीवन्मुक्ति की स्थिति को प्राप्त करता है। किन्तु मुक्त होने पर भी प्राणी का तब तक शरीरपात नहीं होता, जब तक कि उसका प्रारब्ध कर्म का भोग समाप्त नहीं हो जाता । यह कर्म तो उसे भोगना ही पड़ता है । जिस प्रकार छोड़े हुए बाण की निवृत्ति, वेग का क्षय होने पर ही होती है, उसी प्रकार जिस कर्म का फल प्रवृत्त हो चुका है, उसकी निवृत्ति शरीरपात होने पर ही होती है । इस प्रकार जब तक प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता तब तक जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी को भी शरीर धारण करना ही पड़ता है । यही जीवन्मुक्ति की स्थिति है । जब प्राणी के प्रारब्ध कर्मों के भोग का क्षय होने पर उसके शरीर का पात हो तो इसी स्थिति को विदेह मुक्ति कहते हैं । यही जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का स्थितिगत भेद है ।

जीवन्मुक्त का व्यवहार

जैसा कि ऊपर सङ्केत किया गया है, जीवन्मुक्त प्राणी का समस्त

१. ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था—ब्र० सू० शा० भा० ३।३।३२

व्यवहार आसक्ति-रहित एवं अद्वैतदृष्टिमय होता है। वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार की भाषा में जीवन्मुक्त प्राणी लोक में जडवत् व्यवहार करता है—'जडवल्लोकमाचरेत्' (वे० सि० मु० १ परि०)। जीवन्मुक्त प्राणी की स्थिति 'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी' की स्थिति होती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जीवन्मुक्त प्राणी के द्वारा सहज रूप से शुभ कर्म ही किए जाते हैं, अशुभ कर्म नहीं। इस प्रकार जीवन्मुक्ति का विचार लोकदृष्टि से कितना ग्राह्य है, कहने की आवश्यकता नहीं।

मुक्तात्माओं द्वारा शरीरपात होने पर पुनः शरीर धारण करना

भारतीय वाङ्मय के अन्तर्गत मुक्त आत्माओं के शरीरपात के पश्चात् पुनः शरीर-धारण करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अपान्तरतमा नामक आचार्य ने विष्णु की आज्ञा से कलि और द्वापर की सन्धि में कृष्ण द्वैपायन रूप से जन्म ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा के मानस-पुत्र वसिष्ठ ने भी निमि के शाप से पूर्व देह का त्याग करके ब्रह्मा के आदेश से मित्रावरुण के रूप में जन्म ग्रहण किया था। इन दृष्टान्तों के अनुसर अपान्तरतमा आदि आचार्य लोकमर्यादा के अर्थ वेदप्रवर्तन आदि अधिकार में नियुक्त हुए थे। अतः उनकी स्थिति अधिकाराधीन है। जिस प्रकार 'अथ तत ऊर्ध्वम् उदेत्य नैवोदेता नास्तमैतैकल एव मध्ये स्थाता' (छा० उ० ३।१२।१) श्रुति-वाक्य के अनुसार सूर्य सहस्रों युगों तक जगत् का अधिकार चलाकर उसकी समाप्ति होने पर उदय और अस्त से रहित होने पर कैवल्य का अनुभव करता है और जैसे आज भी ब्रह्मवेत्ता आरम्भभूति कर्मों के योग के क्षीण होने पर कैवल्यानुभूति को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर द्वारा तत् तत् अधिकारों में नियुक्त अपान्तरतमा आदि कैवल्य के हेतु सम्यक् तत्त्वज्ञान के होने पर भी कर्मों के क्षीण न होने से अधिकारपर्यन्त शरीर धारण करते हैं और कर्मों के क्षीण होने पर विदेहकैवल्य की प्राप्ति करते हैं।[1] इस प्रकार अपान्तरतमा आदि तत्त्वज्ञानियों को भी जब तक उनके कर्म क्षीण नहीं हो जाते तब तक पुनः शरीर-धारण करना ही पड़ता है।

जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में कतिपय अन्य आचार्यों के विचार

शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने जीवन्मुक्ति एवं विदेह-मुक्ति की विस्तृत आलोचना की है[2]। इन आचार्यों में सर्वज्ञात्ममुनि तो जीवन्मुक्ति को ही

१. एवमपान्तरतमः प्रभृतयोऽपीश्वरा, परमेश्वरेण तेषु तेषु अधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग् दर्शने कैवल्यहेतौ अक्षीणकर्माणः यावदधिकारमवतिष्ठन्ते तदवसाने चापवृज्यन्ते। — ब्र० सू० शा० भा० ३।३।३२

अस्वीकार करते हैं। इनका तर्क है कि अविद्या के विरोधी तत्त्वसाक्षात्कार के उदय होने पर लेशरूप से भी अविद्या की अनुवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए जीवन्मुक्ति का प्रतिपादक शास्त्रश्रवण आदि विधि का केवल अर्थवाद-मात्र है, क्योंकि जीवन्मुक्ति के प्रतिपादन में शास्त्र का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार जिस पुरुष ने निदिध्यासन किया है उस पुरुष को ब्रह्मसाक्षात्कार की उत्पत्ति-मात्र से विलास और वासना के साथ अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।

विद्यारण्य ने देहेन्द्रियादिसंघात के उपादानकारण अविद्या की निवृत्ति होने पर जीवन्मुक्ति की असंगतता का निराकरण करते हुए कहा है कि तत्त्वसाक्षात्कार होने पर भी प्रारब्ध-कर्मों का नाश होने तक अविद्या लेश की अनुवृत्ति होने के कारण जीवन्मुक्ति की सिद्धि होगी।[1]

इस प्रकार विद्यारण्य के विचारानुसार प्रारब्ध-कर्म पूर्णतया अविद्या-निवृत्ति में बाधक हैं। तत्त्वसाक्षात्कार होने पर भी अविद्यालेश की अनुवृत्ति का विचार शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित मुक्तिसंबंधी विचार से भिन्न है। शंकराचार्य मुक्ति की स्थिति में अविद्या की पूर्ण निवृत्ति के पक्षपाती हैं।

मंडनमिश्र ने जीवन्मुक्ति के संबंध में दो विरोधी विचारों का उल्लेख किया है।[2] जीवन्मुक्ति का निराकरण करते हुए एक ओर उन्होंने सद्यो मुक्ति का समर्थन किया है तो दूसरी ओर प्रकारान्तर से जीवन्मुक्ति का समर्थन करते हुए मंडनमिश्र का कथन है कि ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर प्राणी के समस्त संचित, संचीयमान एवं प्रारब्ध-कर्मों का क्षय हो जाता है। ब्रह्मसिद्धिकार का कथन है कि समस्त कर्मों का क्षय होने पर प्राणी का देहपात हो जाता है और वह विदेहकैवल्य को प्राप्त करता है।

इस प्रकार मुक्ति की विचारधारा के संबंध में आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत उपलब्ध होते हैं।

—:o—

१. तर्हि तत्त्वसाक्षात्कारे जातेऽप्याप्रारब्धक्षयमविद्यालेशानुवृत्त्या जीवन्मुक्तिरस्तु। —विवरणप्रमेयसंग्रह १.१, पृ० २१

२. ब्रह्मसिद्धि, पृ० १३०

श्रीरामतीर्थयतिविरचिता

विद्वन्मनोरञ्जनी टीका

ॐसकलब्रह्मविद्यासम्प्रदायप्रवर्तकाचार्येभ्यो नमः ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं परिपूर्णानन्दविग्रहं रामम् ।
प्रत्यञ्चमनृतविश्वसृष्टिस्थित्यव्ययं वन्दे ॥१॥
वाणीकायमनोभिः श्रीगुरुविद्यागुरून्नमस्कृत्य ।
वेदान्तसारटीकां कुर्वे श्रद्धावशाद्यथाबुद्धि ॥२॥

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्याविघ्नपरिसमाप्तिप्रचयगमनशिष्टाचारपरिपालनफलविशिष्टशिष्टाचारानुमितस्मृतिपरिकल्पितश्रुतिबोधितकर्तव्यताकं स्वाभिमतदेवतातत्त्वानुसन्धानात्मकं मङ्गलमाचरत्यखण्डेत्यादिश्लोकेन । आत्मानमाश्रय इत्यन्वयः । यद्यपि ग्रन्थकरणादिकार्यारम्भे गणेशसरस्वत्यादिदेवताभेदं विघ्नविघातविद्यास्फूर्तिप्रदत्वेन प्रसिद्धमनुसन्धानं कुर्वन्ति शिष्टास्तथापि "एष[1] उ ह्येव सर्वे देवा" इति श्रुतेरात्मन एव सर्वदेवतात्मकत्वावगमादात्मानुसन्धाने सति सर्वदेवतानुसन्धानं सम्भवतीति मन्यते ग्रन्थकारः । आत्मानं विशुद्धचिद्रूपं त्वम्पदलक्ष्यं तुरीयमाश्रये शास्त्राचार्यप्रसादाभिव्यक्तमनुसन्दधे । अस्यात्मनस्तत्पदलक्ष्यपरमात्मानन्यत्वं वाक्यार्थं कथयितुं तत्पदार्थं शोधयति—अखण्डंसच्चिदानन्दमिति । "आनन्दादयः[2] प्रधानस्य" इतिन्यायेन "सत्यं[3] ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "विज्ञानमानन्दं[4] ब्रह्म" इति श्रुत्योः परस्परैकवाक्यतामभिप्रेत्याखण्डेत्यादिभिरानन्दपदस्य समासः । अखण्डशब्दोऽनन्तपदपर्यायः । स चाविद्याध्यस्तदेशकालवस्तुभ्यः परमात्मनः[5] परिच्छेदं व्यावर्तयत्येव नञ्पदयोगात् । तदुक्तम्[6]—

"तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम्" इति ।

इतराणि तु पदानि स्वार्थापरित्यागेनैव स्वविरोध्यर्थव्यावृत्तं ब्रह्म लक्षयन्ति । तदुक्तम्—

"स्वार्थार्पणप्रणाड्या च परिशिष्टौ विशेषणम्" इति ।

परिशिष्टौ सत्यज्ञानशब्दावित्यर्थः । अखण्डमपि तदनृतं शून्यं वा स्यादि-

---

१. Bṛih 1.4.6 २. Brahmasūtra 3.3.11. ३. Tait. 2.1.1. ४. Bṛih 3.9.28. ५. Sureśvara's *Taittirīyavārtika* ii. 78. ६. *Idem* ii. 79 (page 57).

त्यत आह—सदिति । सदनृतशून्यव्यावृत्तं बाधाभावोपलक्षितस्वरूपसत्तात्मकमिति यावत् । ब्रह्मणोऽप्यनृतत्वे निरधिष्ठानारोपप्रसङ्गात् । शून्यस्य ससाक्षिकत्वे तु सर्वशून्यवादानुपपत्तेरसाक्षिकत्वे तदसिद्धेः स्वप्रकाशत्वे च ब्रह्मण एव नामान्तरत्वापत्तेर्न ब्रह्मानृतं शून्यं वेत्यर्थः । अखण्डं सदपि तत्तमोवज्जडं किं न स्यादित्यत आह—चिदिति । चिज्ज्ञानं ज्ञप्तिरिति पर्यायः । श्रुतौ[1] ज्ञानं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्याद्गुणत्वे तस्य तदनुपपत्तेः । न च शुक्लो घट इतिवत्तत्स्यादिति वाच्यं निर्धर्मकत्वप्रतिपादका[2]स्थूलादिश्रुतिविरोधात् । किञ्च ज्ञानस्य नित्यत्वेऽग्न्युष्णवत्सवितृप्रकाशवच्च ब्रह्मस्वभावानतिरेकात् ।[3] अनागमापायिधर्मस्य धर्मिणः परमार्थतो भिन्नत्वे प्रमाणाभावात् अनित्यत्वे ज्ञानानवस्थाप्रसङ्गात् । कार्यस्य सतो ज्ञानस्यापि कार्यान्तरवत्स्योपादानगोचरापरोक्षज्ञानजन्यत्वात् । ज्ञानोपादानब्रह्मगोचरस्यापि ज्ञानस्य कार्यत्वे तस्यापि पूर्वसमानयोगक्षेमतया कथं नानवस्था । अजन्यत्वे प्रथमे कः प्रद्वेषः । तथा च सिद्धा ब्रह्मणो ज्ञानस्वभावता । एतेन जीवात्मनोऽपि ज्ञानस्वभावता व्याख्याता वेदितव्या । स्वप्रकाशं चैतद्ब्रह्म दृग्व्यमप्रकाशजडविलक्षणत्वनिर्देशसामर्थ्यात् । "तदेव ज्योतिषां[4] ज्योतिः", "तस्य[5] भासा सर्वमिदं विभाति" इत्यादिश्रुतेः । नन्वेवमखण्डसच्चिद्रूपमपि ब्रह्म न प्रेक्षा[6]वत्प्रेप्सागोचरं सुखदुःखाभावतत्साधनानामन्यतमत्वाभावात् । न तावत्स्वसुखदुःखाभावसाधनं ब्रह्म स्वस्मिन्सुखदुःखयोर्नित्यनिवृत्तत्वात् "अशरीरं[7] वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत" इति श्रुतेः । नाप्यन्य[8]गतसुखादिसाधनं ब्रह्म । अन्येषां दृष्टादृष्टसुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोर्लौकिकवैदिकसाधनेभ्य एव सिद्धेः । तस्मान्न सुखादिसाधनं ब्रह्म । नापि दुःखाभावरूपं भावात्मस्वभावताविरोधात् । नापि सुखात्मकं तथात्वे प्रमाणाभावादित्यत आह—आनन्दमिति । आनन्दं सुखरूपम् । न च ब्रह्मण आनन्दात्मत्वे[9] प्रमाणाभावः "विज्ञान[10]मानन्दं ब्रह्म", "आनन्दो[11] ब्रह्मेति व्यजानात्", "आनन्द[12]रूपममृतं यद्विभाति", "को ह्येवान्यात्कः[13] प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इत्यादिश्रुतेः प्रमाणत्वात् । न चानन्दब्रह्मणोर्धर्मधर्मिताशङ्काप्यवकाशं लभते श्रुतिस्वारस्यभङ्गप्रसङ्गात् । न च ब्रह्मण ईश्वरस्य सुखित्वं परैरपीष्य[14]तेऽत

१. *Tait.* 2.1.1. २. *Brih.* 3.8.8 ३. See (Jacob's) Notes. ४. *Bṛih.* 4.4.16. ५. *Kaṭha* 5.15. ६. MNR. omit प्रेक्षावृत्. ७. *Chha.* 8.12.1. ८. P. wrongly reads and translates अनागत° ९. आनन्दत्वे MP. १०. *Bṛih.* 3.9.28 ११. *Tait.* 3.6.1. १२. *Muṇd.* 2.2.7. १३. *Tait* 2.7.1. १४. त्वदन्यतान्त्रिकैरित्यर्थः । सुखित्वाङ्गीकारे तत्साधककर्माङ्गीकारोऽप्यस्तु । इष्टापत्तौ तु कर्मसाध्यदुःखापादानं दुर्वारमेवेति भावः ॥ M (margin).

आनन्दो विद्यतेऽस्मिन्नित्यानन्दं ब्रह्मेति परेषां श्रुतिव्याख्यानमुपहासास्पदमेव। न च ब्रह्मण्यानन्दशब्दो दुःखाभावपरः "आनन्दो[१] ब्रह्मेति व्यजानात्" इति भावरूपब्रह्मसामानाधिकरण्यनिर्देशविरोधात्। न च प्रियास्पर्शित्व[२]श्रुतिविरोधस्तस्याः श्रुतेर्वैषयिकप्रीतिनिषेधपरत्वादिति भावः। यद्यप्यात्मपदमेवेह शेषिपद तथापि श्रुत्युपरोधात्पदार्थशोधनार्थतया च ब्रह्मपदमध्याहृत्य विशेष्यं बोधव्यम्। एवं सत्यखण्डं सच्चिदानन्दं ब्रह्मात्मानमाश्रय इति ब्रह्मात्मपदयोः सामानाधिकरण्येन तत्त्वम्पदार्थयोरैक्यवाक्यार्थोऽब्रह्मत्वपारोक्ष्यनिवृत्त्या परिपूर्णतया निरूपितः स्यान्नान्यथा। एतेषां च पदानां ब्रह्मपदेन प्रत्येक प्रथममन्वितानां पश्चात्सामानाधिकरण्येन परस्परमपि सम्बन्धसिद्धिः। "अरुणया[३] पिङ्गाक्ष्या गवैकहायन्या सोमं क्रीणाति" इत्यत्र क्रयवाचिपदान्विनानामरुणादिपदानामिव परस्परान्वयः। न चैकार्थत्वे सत्यादिपदानां पर्यायितापत्तिरयौगपद्यं चेति वाच्यं प्रवृत्तिनिमित्तभेदाद्व्यावर्त्यभेदाच्चोक्तदोषानवतारात्[3]। एवमन्योऽपि वाक्यविचारोपयोगी न्याय ऊहनीयो विस्तरभयान्नेह लिख्यते। एवं विधिमुखेन परिच्छिन्नानृतजडदुःखरूपानात्मतद्धर्मविलक्षण ब्रह्मेति निरूप्येदानीं "नेति[४] नेति", "अस्थूलं[५]", "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह[६]" इत्यादिश्रुतिमाश्रित्य निषेधमुखेन सकलनिषेधावधिभूत सत्यस्य सत्यं ब्रह्मेतिदर्शयति—अवाङ्मनसगोचरमिति। वाक्च मनश्च वाङ्मनसे तयोर्गोचरो वाङ्मनसगोचरो न वाङ्मनसगोचरोऽवाङ्मनसगोचरस्तदिति विग्रहः। "नैव[७] वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा", "अस्तीत्येवोपलब्धव्य" इति च काठकश्रुतेः। एवं विधिनिषेधाभ्यां ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणमभिधाय लक्षितं स्वरूपं तटस्थलक्षणेन सम्भावयति—अखिलाधारमिति। अखिलस्याकाशादिप्रपञ्चस्याधार आश्रयस्तदिति विग्रहः। आश्रयशब्दः सृष्टिप्रलययोरप्युपलक्षणार्थः। तथाच श्रुतिः[८]—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति"[९] इति। ततश्च जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं ब्रह्मेत्युक्तं भवति। अत इदं फलितम्। सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसं ब्रह्म तत्पदलक्ष्यमिति। आत्मपदादेव त्वम्पदार्थशुद्धिः। "आत्मे[१०]त्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एक भवन्ति" इतिश्रुतावात्मशब्दस्य निर्विशेषप्रत्यक्चैतन्यमात्रनिष्ठताया निर्धारितत्वात्। तथा च ब्रह्मात्मपदयोः सामानाधिकरण्यादैक्यवाक्यार्थसिद्धि-

---

१. *Tait*. 3.6.1 २. *Chha*. 8.12.1 ३. *Tait-Samhita* 6.1.6.7;7,1.6.2. See (Jacob's) Notes. ४. *Brih* 2,3.6. ५. *Idem* 3.8.8 ६. *Tait*. 2.4.1. ७. *Katha*. 6.12 ८. *Idem* 6.13. ९. *Tait* 3.1.1. १०. *Brih*. 1.4.7.

रित्युक्तं तदेव वाक्यार्थभूतमात्मानमाश्रये । किमर्थम् । अभीष्टसिद्धये । अभीष्टं शास्त्रार्थाप्रतिपत्त्यन्यथाप्रतिपत्तिविप्रतिपत्तिनिरासलक्षणं यथाशास्त्रमर्थसङ्ग्रहसामर्थ्यलक्षणं च । तस्य सिद्धिः सम्प्राप्तिस्तस्यै तदर्थमित्यर्थः ॥१॥

एवं शास्त्रप्रतिपाद्यपरदेवतातत्त्वानुस्मरणलक्षणं मङ्गलं विधायेदानीं "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ" इत्यादिशास्त्राद्देवताभक्तिवद्गुरुभक्तेरपि विद्याङ्गत्वप्रतीतेः "देवमिवाचार्यमुपासीत" इत्यादिस्मृतेश्च[3] गुर्वाराधनोक्तिपूर्वकं स्वचिकीर्षितं प्रतिजानीते—अर्थत इति श्लोकेन । वेदान्तो वक्ष्यमाणलक्षणस्तस्य सारो मथितार्थस्तं वक्ष्ये । तच्च यथामति स्वमत्यनुसारेण । अनन्तशाखाप्रविततस्यातिगम्भीरार्थस्य वेदान्तस्यार्वाग्बुद्धिभिरपरिच्छेद्यात् । तदुक्तमभियुक्तैः[4]—

"गुरुचरणसरोजसन्निधाना-
दपि वयमस्य गुणैकलेशभाजः ।
अपि महति जलार्णवे निमग्नाः
सलिलमुपाददते मितं हि मीनाः ॥" इति ।

एतच्च गर्वपरिहारोक्तिवचनं न पुनर्वादिभयनिमित्तं यथाशास्त्रमर्थसङ्ग्रहादित्यर्थः । किं कृत्वा । गुरूनाराध्य । भक्तिश्रद्धातिशयस्तुतिनमस्कारादिना देवमिव पूजयित्वा । गुरूनित्येकस्मिन्बहुवचनं पूजार्थम् । किंनामानो गुरव इत्यपेक्षायां स्वस्य साम्प्रदायिकत्वज्ञापनाय तान्नामतो निर्दिशति—अद्वयानन्दानिति । नाम्नो डित्थादिवत्संज्ञामात्रत्वं व्यावर्तयति—अर्थत इति । अपिशब्दः शब्दार्थयोः समुच्चयार्थः । न केवलं शब्दतः किन्त्वर्थतोऽपीति । तत्र हेतुः—अतीतद्वैतभानत इति । अतीतं द्वैतं यस्मात्तदतीतद्वैतं प्रत्यगात्मतत्त्वं तस्य भानं साक्षात्कारस्तस्मादतीतद्वैतभानतः । 'अतीतद्वैतभावत' इति पाठे तत्त्वज्ञानविध्वस्तनिखिलभेदब्रह्मात्मत्वादित्यर्थः ॥२॥

ब्रह्मात्मप्रतिपत्तिपरेषु श्रुतिसूत्रेषु विद्वन्निर्मितनिबन्धेषु चाविशेषेण वेदान्तशब्दस्य लोके प्रयोगदर्शनात्सर्वत्र मुख्यवृत्तितः प्रतीतिं वारयन्मुख्यगौणभेदेन वेदान्तशब्दं व्युत्पादयति—वेदान्तो नाम इत्यादिना । उपनिषच्छब्दो ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारविषयः । उपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य षद्लृविशरणगत्यवसादनेष्वित्यस्य धातोरुपनिषदिति रूपम् । तत्रोपशब्दः सामीप्यमाचष्टे तच्च सङ्कोचकाभावात्सर्वान्तरे प्रत्यगात्मनि पर्यवस्यति निशब्दो निश्चयवचनः । सोऽपि तत्तत्त्वमेव निश्चिनोति तन्नैकट्यवाच्युपशब्दसामाना-

१. P. wrongly, शास्त्रार्थप्र°. २. *Śvet*. 6.23. ३. *Āpastamba-Sūtra* 1.6.13. ४. *Saṅkṣepaśārīraka* i. 9.

धिकरण्यात् । तस्माद्ब्रह्मविद्यास्वसंशीलिनां संसारसारतामतिं सादयति विषादयति शिथिलयतीति वा परमश्रेयोरूपं प्रत्यगात्मानं सादयति गमयतीति वा दुःखजन्मप्रवृत्त्यादिमूलाज्ञानं सादयत्युन्मूलयतीति वोपनिषत्पदवाच्या । सैव प्रमाणम् । तस्याः प्रमारूपायाः करणभूतः सर्वशाखासूत्तरभागेषु पठ्यमानो ग्रन्थराशिरप्युपचारात्प्रमाणमित्युच्यते । तथा चोपनिषदः प्रमाणं प्रमाकरणमुपनिषत्प्रमाणं वेदान्त इत्यर्थः । तदुपकारीणि वेदान्तार्थविचारानुकूलानीति यावत् । तदनुकूलत्वं वेदान्तवाक्यप्रमेयासम्भावनापोहद्वारा न तु प्रमित्युत्पत्तौ तत्फले वा साक्षाद्विचारशास्त्रस्याङ्गभावस्तथा सति वेदान्तवाक्यानां सापेक्षताप्रसङ्गात् । तदुक्तमभियुक्तैः[१]—

"स्वाध्यायवन्न करणं घटते विचारो
नाप्यङ्गमस्य परमात्मधियः प्रसूतौ ।
सापेक्षतापतति वेदगिरस्तथात्वे
ब्रह्मात्मनः प्रमितिजन्मनि तन्न युक्तम्" इति ॥

शरीरमेव शरीरकं तत्र भवो जीवः शारीरकः स सूत्र्यते याथातथ्येन निरूप्यते यैस्तानि शारीरकसूत्राणि "अथातो[२] ब्रह्मजिज्ञासा" इत्यादीनि । यद्वा शारीरकस्य सूत्राणि तद्याथात्म्यवादिवेदान्तार्थसङ्ग्रहवाक्यानि । आदिशब्दो भाष्यादिसङ्ग्रहार्थः । चशब्दो वेदान्तशब्दानुषङ्गार्थः । तथाच वेदानामन्तोऽवसानभागो वेदान्त इति व्युत्पत्तियोगान्मुख्यो वेदान्तशब्दो वेदभागभेदेषु शारीरकादौ तूपचरित इति व्युत्पादितः । ननु किं पुनरस्य ग्रन्थस्यारम्भे निमित्तम् । न खलु निर्निमित्ता प्रेक्षाव[३]त्प्रवृत्तिरिति चेत्को भावः । निमित्तमात्राक्षेप इति चेन्न । अशनायाद्यनेकोर्मिमालाकुलसमुद्धतक्षोभहतविवेकविज्ञानपाथसि दृढतरकामक्रोधाद्युत्तुङ्गशैलजालविषमे सुतदुहितृकलत्रबान्धवाद्यनेकमकरनक्रचक्राकुले नरमृगपशुपक्षिदेवादिस्थानभोगफेनबुद्बुदे संसारसागरेऽनवरतमध ऊर्ध्वं तिर्यग्वा मज्जनोन्मज्जनादिविवशानतिविततगम्भीरार्थानेकशाखवेदान्तविचारमहाद्रुमावलम्बनासमर्थान्दुःखिनो लोकानालोक्य सञ्जातकरुणाया निमित्तत्वोपपत्तेः । अथ निमित्तविशेषाक्षेपश्चेत्तत्राह—अस्येति ।

"शास्त्रै[४]कदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः" ॥

---

१. *Sankṣepaśārīraka* i. 18. २. *Brahmasūtra* 1.1.1. ३. See प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते in (Jacob's) *Maxims* iii. ४. *Parāśara-upapurāṇa* xviii. 21, 22 (or, *Kaivalyaratna p.* 45. This was reprinted from *The Pandit in* 1901).

इति हि प्रकरणलक्षणं वदन्ति । तथा च यच्छास्त्रैकदेशसम्बद्धं यत्प्रकरणं तत्तच्छास्त्रीयैरेवानुबन्धैरनुबन्धवद्युक्तम् । अन्यथा शास्त्रप्रकरणयोर्भिन्नविषयादिमत्त्वेन शास्त्रासम्बद्धत्वप्रसङ्गादसम्बद्धप्रलपितमिदमापद्येत । अतोऽस्य ग्रन्थस्य वेदान्तशास्त्रीयप्रकरणत्वाद्वेदान्तशास्त्रसिद्धैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न तेऽनुबन्धाः पृथगालोचनीया इत्यर्थः ।

ननु महाविषयादेरिह शास्त्रीयत्वेऽप्यवान्तरविषयादेः पृथगालोचनमुचितमितरथा शास्त्रं परित्यज्य प्रेक्षावतोऽत्र प्रवृत्त्ययोगादिति चेद्वाढं प्रकरणत्वेनैवावान्तरसङ्गतेः सुलभालोचनत्वात्पृथगिह निर्देशानपेक्षणात् । तथाहि सारग्रहणेच्छुरवान्तराधिकारी । सगुणनिर्गुणरूपविषयभेदं परित्यज्य निर्गुणसारमात्रमिह विषयः । तन्मात्रावधारणमवान्तरप्रयोजनम् । सम्बन्धोऽपि विषयानुरूप इति भावः । ननु शास्त्रीयोऽनुबन्धः शास्त्रविद्भिरेव विज्ञायते न व्युत्पित्सुभिस्तत्कथमिह तेषां शास्त्रीयविषयाद्यनभिज्ञानां प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य शास्त्रीयमेवानुबन्धं संक्षेपतो व्युत्पादयितुमुपक्रमते—तत्रानुबन्धो नाम इत्यादिना । तत्र वेदान्तशास्त्रे । स्वार्थप्रतिपत्तारमनाश्रित्य शास्त्रप्रवृत्त्योगादादावधिकार्यनुबन्धापेक्षा । तस्य च विषयबोधमन्तरेणाप्रवृत्तेर्विषयस्य तदानन्तर्यम् । विषयस्य च शक्यप्रतिपाद्यत्वसिद्धये सम्बन्धस्य विषयानन्तर्यम् । प्रयोजनस्य चरमत्वं प्रसिद्धमित्युद्देशपाठक्रमो विवक्षितः तथा-च शारीरकसूत्रं "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति ॥३॥

तत्र यथोद्देशक्रममधिकारिणं निरूपयति—अधिकारी त्विति । धर्मजिज्ञासाधिकारिणोऽस्य वैलक्षण्यसूचनार्थस्तुशब्दः । प्रमाताधिकारीत्यन्वयः । लौकिकवैदिकव्यवहारेष्वभ्रान्तो जीवः प्रमातेह विवक्षितः । जीवमात्रस्य पक्षे भ्रमसम्भवेन शास्त्रार्थप्रतिपत्तृत्वायोगात् । तस्य तुशब्दसूचितं विशेषमाह—साधनचतुष्टयसम्पन्न इति । वक्ष्यमाणसाधनचतुष्टयविशिष्ट इत्यर्थः । अयं भावः । न तावद्वेदाध्ययनं ब्रह्मजिज्ञासाधिकारहेतुस्तस्य धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः साधारणत्वात्तन्मात्रेणेह नियमेन प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नापि धर्मविचारः । प्रागपि धर्मविचारादधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः । नापि धर्मानुष्ठानमिह जिज्ञासाहेतुर्विनापि धर्मानुष्ठानं ब्रह्मचर्यादेव विरक्तस्य ब्रह्मजिज्ञासादर्शनात् । श्रुतिश्च भवति विविदिषोः सन्न्यासविधायिनी "यदि[1] वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्" इत्यादिका ॥

ननु "जायमानो[2] वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वास्ति" इति श्रुतेः ।

१. *Jabala* 4. २. *Tait-samhita* 6.3.10.5.

"ऋणानि[1] त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानः पतत्यधः ॥"

इति स्मृतेश्चरणत्रयापाकरणमन्तरेण मोक्षशास्त्रविचारप्रवृत्त्ययुक्तताया गम्यमानत्वात्कथं धर्ममननुष्ठाय सन्न्यासपूर्वकब्रह्मविचारे प्रवृत्तिरिति चेत् । उच्यते। श्रुतिस्तावत् "हृदयस्या[2]ग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षस"—इति पश्ववदानत्रयविधिमुपक्रम्य "तदव[3]दानैरेवावद्यते तदवदानानामवदानत्वम्" इत्यवदाननिर्वचनेनोपसंहारादवदानत्रयविध्यर्थवादत्वान्न स्वार्थपरा। अतः सा "ब्रह्मचर्यादेव" इति श्रुत्यानन्यपरया बाध्यते । यदि ब्रह्मचर्यादिभिरपाकरणीयमृणत्रयमपि "अवदानैरेवावादय" इत्यवदानश्रुतौ ब्रह्मचर्यादि ऋणत्रयापाकरणहेतुत्ववचनं स्वार्थपरमेवेति मतं तथापि जातमात्रस्यर्णत्रयसम्बन्धे प्रमाणाभावादधिकारी जायमानो गृहस्थो वा जायमान इति वा व्याख्यानमुचितम्। स्मृतिस्त्वविरक्तविषयतया व्याख्येया । एतेन "यज्ञायुधी[4] यजमानः", जरया वास्मान्मुच्येरन्", "वीरहा[5] वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयत" इत्यादिश्रुतयः "ऐकाश्रम्यं[6] त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्य" इत्यादिस्मृतयश्च व्याख्याता अवितव्याः । "ब्रह्मचर्यादेव[7] प्रव्रजेत्", "यदहरेव[8] विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्", "अथ[9] पुनरव्रती वा व्रती वा", "किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे", "किं प्रजया[10] करिष्यामो येषां नोऽयमात्मेति", "याज्ञवल्क्यः[11] प्रवव्राज", "ये प्रजा[12]मीषिरे ते श्मशानानि भेजिरे । प्रजां नेषिरे तेऽमृतत्वं हि भेजिर" इत्यादिश्रुतिस्मृत्यविरोधात् । तस्मान्न धर्मानुष्ठानं ब्रह्मजिज्ञासाहेतुः । अतो ब्रह्मजिज्ञासा जायमाना यस्मिन्सत्येव[13] नियमेन जायते यस्मिन्नसति नैव जायते तदेव तस्याः साधनमेषितव्यम् । तच्च वक्ष्यमाणं साधनचतुष्टयमेवेति । कस्मात्पुनः साधनसम्पन्नस्तत्राह—नितान्त° इति । नितान्तमत्यन्तं निर्मलं शुद्धं स्वान्तमन्तःकरणं यस्य स तथा । कुतः स्वान्तस्य नैर्मल्यं प्रतिबन्धकरागादिवासनानिवृत्त्येत्याह—नित्यं° इति । रागादिवासनारूपकल्मषनिवृत्तिरपि कुतस्तत्राह—नित्य° इति । काम्यकर्मभिरतस्यानुष्ठीयमानमपि नित्यादि न साक्षात्कल्मषनिवृत्तिहेतुः कामवासनया शुद्धिप्रतिबन्धसम्भवात्तथा निषिद्धावर्जने पापेन प्रतिबन्धादित्यभिप्रेत्य नित्यानुष्ठानं विशिनष्टि—

---

१. *Manu*. 6.35. २. *Tait-Saṁhitā* 6.3.10.4. ३. *Idem* 6.3.10.5. ४. *Śatapatha*. 12.5.2.8. For the next quotation, see (Jacob's) Notes. ५. *Tait-Saṁhitā* 1.5.2.1. ६. *Gautama-saṁhitā* 3.36. ७. *Jābāla*. 4. ८. *Idem*. ९. *Idem*. १०. *Bṛih* 4.4.22.? not in Mn. ११. *Bṛih*. 4.5.25. (Mādhyandina). १२. See (Jacob's) Notes. १३. साधने.

काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरमिति । एवं नित्याद्यनुष्ठानस्य शुद्धेश्चैकभविकत्व-नियमं व्यावर्तयति—अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वेति ।

"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।"[1]
"न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥"[2]

इत्यादिस्मृतेर्जन्मान्तरानुष्ठितस्यापि जन्मान्तरोपकारकत्वसम्भवादिति भावः। एवं काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरमिह जन्मनि जन्मान्तरे वानुष्ठितनित्यादिक्षपितकल्मषस्य विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पत्तौ कारणमाह—आपातत इति। आपाततो विचारेणेदमित्थमेवेति पर्यवधारणमन्तरेणाधिगतोऽखिलो वेदार्थो येन स तथा । वेदशब्दो वेदान्तविषयः । वेदार्थज्ञाने हेतुमाह—विधिवदिति। "ब्राह्मणेन[3] षडङ्गो वेदो निष्कारणोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इतिवचनान्नित्याध्ययनविध्युपस्थापितवेदान्तवचोभिर्निरुक्तव्याकरणाद्यङ्गोपकरणैरनवबुद्धतात्पर्यलिङ्गैरधिगताखिलवेदान्तार्थ इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति। वस्तुतश्चित्सदानन्दब्रह्मस्वभावोऽप्यात्माऽनाद्यनिर्वाच्याविद्यासम्बन्धलब्धजीवभावोऽविद्याकामकर्णवशंगतः काम्यनिषिद्धाद्यनवरतमाचरंस्तत्फलभूतस्वर्गनरकौ भुञ्जानस्तद्भोगवासनावासितस्तदनुरूपं पुनः कर्म पुनः फलमित्येवं[4] घटीयन्त्रवत्कुलालचक्रवद्वोर्ध्वाधस्तिर्यग्भ्रमणविश्रममनुभवन् हृष्टः कृतार्थो मूढो दुःखी वेत्यात्मानं मृषैव मन्यते। स पुनः

"एकः काम्योऽपरो नित्यस्तथा नैमित्तिकः परः ।
प्राधान्येन फलं शुद्धिरार्थिकी काम्यकर्मणः ॥
प्राधान्येन मनः शुद्धिर्नित्यस्य फलमार्थिकम् ।
केवलं प्रत्यवायस्य निवृत्तिरितरस्य तु ॥"[5]

इत्यादिपुराणवचनादतीतानेकजन्मसुकृतयादृच्छिकपुण्यपुञ्जपरिपाकोदयवशात्काम्यफलेषु जातदोषबुद्धिराध्यात्मिकादिदुःखत्रयं[6] च निषिद्धाचरणफलमाकलयन् काम्यनिषिद्धे परित्यजन्नीश्वरार्पणबुद्ध्यानुष्ठितनित्यादिक्षपितकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तोऽधीतसाङ्गवेदार्थापातालोचनया लब्धविवेकादिसाधनसम्पन्नः स्वात्मयाथात्म्यजिज्ञासुर्वेदान्ताधिकारीति ॥

काम्यादिपदार्थान् कथयति—काम्यानीत्यादिना । फलोद्देशेन विधीय-

१. *Gita*. vi. 45. २. *Idem* vi. 40. ३. See (Jacob's) Notes.
४. For these two simile's, see (Jacob's) *Maxims* ii (2nd. edn.).
५. *Suta-Samhita*, p. 345. In P. each word in this line is neuter
एकं etc. ६. See (Jacob's) Notes.

मानानि कर्माणि काम्यानि । न च "विश्वजिता यजेत" इत्यादावव्याप्तिस्तत्रापि "स[1] स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्" इतिन्यायेन स्वर्गफलोद्देशेन विधेः साधितत्वात् । ज्योतिष्टोमऐकाशब्दाह्निकविषयः । आदिशब्दोऽहीनसत्रसङ्ग्रहार्थः । अमावगतेष्टसाधनतानिषेधकनञ्पदयोगिवाक्यगम्यानि निषिद्धानि । लिङ्गाद्यनुषक्तनञ्योगिवाक्यगम्यानि वा । नरकादीत्यादिपदादैहिकदुःखग्रहः ।[2] ब्राह्मणहननादित्यादिपदात्सुरापानादिग्रहः । प्रत्यवायशब्देनागामिदुःखमुच्यते । येषामकरणे विज्ञायमाने तत्साध्यते ज्ञाप्यते तानि नित्यानि इत्यर्थः । अकरणे प्रत्यवायलक्षणानि नित्यानीति यावत् । निर्नि-[3]मित्तमुपात्तदुरितक्षयार्थानि नित्यानीति नित्यकर्मलक्षणं न त्वकरणे प्रत्यवायोत्पादकानि नित्यानीति । ननु "अकुर्वन्विहितं[4] कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति" ॥ इति स्मृतौ शतृ[5]-प्रत्ययादकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्वमवगम्यते तत्कथमकरणस्य प्रत्यवायानुत्पादकत्वमिति चेन्न । "लक्षण[6]हेत्वोः क्रियाया" इति पाणिनिना शतुर्लक्षणार्थेऽपि विधानात् । अत एव नित्याद्यनुष्ठानकाले निद्रालस्यादिपरवशं नरमालोक्य शिष्टैर्लक्ष्यते यद्यस्य यथावन्नित्यनैमित्तिकानुष्ठानमभविष्यत्तदा सञ्चितदुरितक्षयोऽभविष्यन्न चायं विहितमकार्षीदतः प्रत्यवायी भविष्यतीति । तथा च "विचिकित्सञ्छ्रोत्रिय" इतिवच्छतृप्रत्ययस्यान्यथाप्युपपत्तेर्न तद्बलादभावस्य हेतुत्वाशङ्का युक्ता । तदुक्तम्[7]—

"नित्यानामक्रिया यस्माल्लक्षयित्वैव सत्वरा ।
प्रत्यवायक्रियां तस्माल्लक्षणार्थे शता भवेत् इति ॥"

ननु हेत्वर्थेऽपि शतुर्विधानस्य तुल्यत्वे कथं लक्षणार्थावगम इति चेदभावाद्भावोत्पत्तेरनुपपत्तेरिति वदामः । भावरूपस्य हि कार्यस्य भावरूपं कारणमिति प्रत्यक्षादिभिरवधारितं तेन शतृप्रत्ययादभावस्य भावहेतुताभ्युपगमो विरुध्यते । नन्वेवं सति कथं तवाप्यकरणस्य प्रत्यवायलक्षकत्वसिद्धिरिति चेन्नैष दोषः । नास्माभिरकरणस्य स्वरूपेण प्रत्यवायलक्षकत्वमिष्यते किन्तु तज्ज्ञानस्य । न च तस्यैव प्रत्यवायजनकत्वमपीति वाच्यं नित्याकरणज्ञाने प्रत्यवाया-

---

१. *Mimāṁsa* 4.3.15. See विश्वजिन्न्याय in (Jacob's) *Maxims* iii. २. ब्रह्म° MNR; ब्रह्महत्या° P. ३. This sentence comes below, after विधानात् and reads निर्निमित्तानि etc. ४. *Manu* xi. 44. There the second half of last line reads प्रायश्चित्तीयेत नरः । and the editions and commentaries vary between प्रसक्त., प्रसजन् and प्रसज्जन्. See Notes. ५. The presesnt participle (activ੍e). ६. *Pāṇ*. 3.2.126. ७. *Taittirīya-bhāṣya vārtika*. i. 21. See (Jacob's) Notes.

भावप्रसङ्गात् । ननु कथं तर्हि भाट्टैरनुपलम्भस्याभावप्रमितिहेतुत्वमिष्यते तार्किकैश्च प्रतिबन्धाभावस्य तत्तत्प्रागभावस्य च कारणत्वमिष्यत इति चेद्भ्रान्त्येति ब्रूमः । तथाहि न तावद्योग्यानुपलब्धेः स्वरूपसत्तामात्रेणाभावप्रमितिहेतुता युक्ता । तथा सत्य[1]ज्ञानकरणत्वेनाभावज्ञानस्य प्रत्यक्षान्तर्भावप्रसङ्गाज्ज्ञाताया एवानुपलब्धेरभावप्रमाहेतुत्वे तज्ज्ञानस्यैव भावरूपस्याभावज्ञानकारणता बलादायास्यतीति । प्रतिबन्धकाभावः कारणमिति पक्षे स किं दृष्टकारणकलापकुक्षौ निक्षिप्तः किं वा दृष्टकारणकलापकुक्षौ । आद्ये दाहादिकार्यार्थिनः काष्ठादिसमवधानाधिगम इव प्रतिबन्धकाभावसमवधानाधिगमे सत्येव वह्निप्रज्वलनादौ प्रवृत्तिः स्यान्न च तथा प्रवर्तमानो दृश्यते। अन्यथा सत्यपि प्रतिबन्धकसमवधाने तदभावनिश्चयेन प्रवर्तमानस्य कदाचित्कार्यानुदयो न भवेत् । ननु सति प्रतियोगिनि तदभावनिश्चयो भ्रम इति चेत्तर्हि प्रतिबन्धकस्यायोग्यत्वेन तदभावोऽप्ययोग्य एवेति न तस्य दृष्टकारणकलापकुक्षिनिक्षेपः । नापि द्वितीयः । अस्मदाद्यप्रत्यक्षाणामीश्वरतज्ज्ञानेच्छाप्रयत्नप्राण्यदृष्टानां देशकालयोश्च सूर्यादिग्रहचारक्रियायाश्च भावरूपतया प्रतिबन्धकाभावत्वायोगात्तदतिरिक्तस्य कस्यचित्सर्वकार्यसाधारणकारणस्य कल्पकाभावात् । किञ्च सत्यपि प्रतिबन्धक उत्तेजकसमवधाने कार्यदर्शनान्न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता । उत्तेजकाभावविशिष्टप्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वे तादृक्प्रतिबन्धकाज्ञाने तदभावाग्रहान्न तस्य कारणतासिद्धिः । न चानन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वमपि प्रतिबन्धकाभावस्य तदन्वयव्यतिरेकयोर्विरोधिसंसर्गाभावविषयतयान्यथासिद्धत्वात् । तर्हि विरोधिसंसर्गाभावत्वेनैव कारणतेति चेन्न । सत्येवोत्पत्तिहेतुकलापसमवधाने स्थितिहेतुसमवधाने वोत्पत्तेः स्थितेर्वा विघटकभावस्य विरोधित्वप्रसिद्धेर्न तदभावस्य सामग्र्यन्तर्भावो विरोधिसंसर्गाभावस्य तत्प्रवेशे तत्प्रतियोगियो विरोधित्वासिद्धिः । तस्मिंश्च सति तत्संसर्गाभावस्य सामग्रीप्रवेश इत्यन्योयाश्रयस्य दुरुद्धारत्वादित्यलमतिकर्दमेन । प्रागभावस्यापि नियतप्राक्कालवर्तित्वेन कारणत्वेऽभावविशेषणस्य कालस्यात्माश्रयताप्रसङ्गो न च प्रागभावत्वेनैव कारणत्वं तावन्मात्रे कारणलक्षणाभावात् । किञ्च कारणत्वं नाम धर्मो भावात्मक उताभावात्मकः । उभयथापि नाभावनिष्ठत्वं तस्य सम्भवतिविरोधिनोर्भावाभावयोराधाराधेयभावानुपपत्तेः । अभावस्य निर्विशेषत्वान्निरतिशयत्वाद्वा । तस्मान्नाभावो भावोत्पत्तौ दृष्टान्तः । तन्तुनाशात्पटना

---

1. सत्यज्ञात° QR.

इत्यपि स्वप्रक्रियामात्रमित्यास्तां विस्तरः। अस्तु वा क्वचिदभावस्यापि कारणत्वं तथापि न प्रत्यवायस्याकरणहेतुत्वं प्रत्यवायशब्दवाच्यस्य पापादृष्टस्य तज्जन्यागामिदुःखस्य वा निषिद्धक्रियाजन्यत्वात् "पापकारी[१] पापो भवति", "अथ[२] यइह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्" इति च श्रुतेः। तस्मादकरणे प्रत्यवायसाधनानि प्रत्यवायज्ञापकानि नित्यानीति व्याख्यान सुव्याख्यानमिति ॥

सन्ध्यावन्दनादीनि इत्यादिपदात्पञ्चमहायज्ञादिग्रहः। निमित्तमात्रमासाद्यावश्यकर्तव्यतया विहितानि नैमित्तिकानि। एतदाह—पुत्रेति। जातेष्टिर्नाम "वैश्वानरं[३] द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जाते" इति विहिता। आदिपदात् "यस्या[४] हिताग्नेर्गृहान्दहत्यग्निरग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्" इत्यादिनोक्तानां क्षामवत्यादीनां ग्रहः। उपरागस्नानादि च स्मार्तमुदाहरणीयम्। यद्यपि जातेष्टिवाक्यशेषे "यस्मिन्[५] जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान्भवति" इति पुत्रगाम्यवान्तरफलश्रवणान्न वक्ष्यमाणकर्तृगामिद्विविधफलानुकूलं जातेष्ट्युदाहरणं तथापि नैमित्तिकस्वरूपमात्रव्युत्पादनायोदाहरणं न दुष्यतीति द्रष्टव्यम्। विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवारूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चित्तानि। पापक्षयमात्रोद्देशेन विहितानीति वा। आदिपदात्कृच्छ्रादिग्रहः[६]। शास्त्रबोधिते सगुणे ब्रह्मणि दीर्घकालादरनैरन्तर्यार्पितमनोवृत्तिस्थिरीकरणलक्षणानि उपासनानि। निदिध्यासनाद्भेदमाह—सगुणेति। उपासनानां ज्ञानाद्भेदं दर्शयति—मानसव्यापाररूपाणीति। शाण्डिल्यविद्या नाम "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्युपक्रम्य "स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूप" इत्यादिना छान्दोग्ये[७] विहिता। वाजिनामग्निरहस्याख्येऽपि[८] काण्डे "स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरम्" इत्यादावुक्ता। बृहदारण्यके[९] च "मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्य" इत्यादौ प्रत्यभिज्ञाता विद्या। आदिशब्दाद्दहर[१०]वैश्वानरादिविद्यान्तरग्रहः।

इदानीमुक्तलक्षणानां नित्यादीनामीश्वरदर्पणतयानुष्ठीयमानानां परमफलं दर्शयति—एतेषामिति। आदिपदान्नैमित्तिकप्रायश्चित्तयोर्ग्रहः। नित्यादीना-

---

१. *Bṛh*. 4.4.5. २. *Chha*. 5.10.7. ३. *Tait. Saṁhitā* 2.2.5.3. ४. *Idem* 2.2.2.5. The two words आहिताग्नेः and अग्निः, however, are not in TS. ५. *Idem*. 2.2.5.4. ६. *Manu*. xi. 209-216. ७. *Chha*. 3.14.1, 2. ८. *Śatapatha*. 10.6.3.2. ९. *Bṛih*. 5.6.1. १०. *Chha* 8.1; 5. 11-18.

मुपात्तदुरितक्षयद्वारा बुद्धिशुद्धिहेतुत्वमिति द्रष्टव्यं निर्गतनिखिलकल्मषतये-त्युक्तत्वात् ।

"नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् ।"

इत्यादिस्मृतेः "धर्मेण पापमपनुदति" इति श्रुतेश्च [1]चित्तशुद्धेः परमप्रयोजनत्वं परम्परया मोक्षसाधनत्वात् । तथा च स्मृतिः[2]—

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥"

इत्युपक्रम्य

"असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति ॥" इति ।

तदुक्तं नैष्क[3]र्म्यसिद्धावपि—"नित्यकर्मानुष्ठानाद्धर्मोत्पत्तिर्धर्मोत्पत्तेः पापहानिस्ततश्चित्तशुद्धिस्ततः संसारयाथात्म्यावबोधस्ततो वैराग्यं ततो मुमुक्षुत्वं ततस्तदुपायपर्येषणं ततः सर्वकर्मसन्न्यासस्ततो योगाभ्यासस्ततश्चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता ततस्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थपरिज्ञानं ततोऽविद्योच्छेदस्ततः स्वात्मन्यवस्थानं" इति । उपासनानां त्विति । तुशब्दः कर्मभ्यः उपासनाया वैशिष्ट्यद्योतनार्थः । तस्य नित्याद्यनुष्ठानक्षपितकल्मषतया विशुद्धस्य चित्तस्य शास्त्रप्रकाशिते ध्येये ज्ञेये वा विषय ऐकाग्र्यं निश्चलत्वमित्यर्थः । सूक्ष्मार्थावधारणसमर्थत्वमिति यावत् । पूर्वोक्तप्रकारेणानुष्ठीयमानानां नित्यादीनामुपात्तदुरितक्षयद्वारा शुद्ध्यादिपरम्परया ज्ञानहेतुत्वे प्रमाणमाह—विविदिषन्तीति । आदिपदात् "तपसा[4]ऽनाशकेन" इति वाक्यशेषग्रहः । विविदिषन्तीति विविदिषासम्बन्धे विधिप्रत्ययोऽनुसन्धेयोऽपूर्वत्वात् । नहि यज्ञादीनां विविदिषासंयोगः पूर्वं प्राप्तो येनानुवादत्वं वाक्यस्य कल्पेत । ननु यज्ञादीनां [5]यावज्जीववाक्येनावश्यकर्तव्यतया प्राप्तानां विविदिषार्थत्वे नित्यानित्यसंयोगः प्रसज्येत यदि च विविदिषार्थं यज्ञाद्यनुष्ठानमपरमिष्येत ततः संसारव्यावृत्सूनां द्विरनुष्ठानं स्यादिति चेन्न खादिरादिवत्संयोगपृथक्त्वोपपत्तेः । न च तर्हि तेनैव न्यायेन कर्मणां मोक्षार्थत्वमपीति शङ्कनीयं ज्ञानकर्मसमुच्चयनिराकरणात् । तथाच न्यायः[6]—"अत एवाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा" इति कर्मणां ज्ञानं प्रत्यारादुपकारकत्वं तु स्यात् "सर्वापेक्षा च यज्ञादि-

१. *Mahānāra*. 22.1. २. *Gita* xviii (Bombay Sanskrit Series) i. 52. ४. *Brih* 4.4.22. ५. As, for example, "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" and "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत." *Mimāṁsābhāṣya* 2.4.1. ६. *Brahmasūtra* 3.4.25.

श्रुतेरश्ववत्" इति न्यायात्[1]। उक्तं च भाष्यकृद्भिः[2]—"विविदिषासंयोगात्तु बाह्यतराणि यज्ञादीनि" इति तत्रैव स्मृतिं संवादयति—तपसेति। आदि-पदात् "कषायपक्तिः[3] कर्माणि" इत्यादिस्मृत्यन्तरग्रहः ॥

ननु नित्यादेः सत्त्वशुद्धितदैकाग्र्यफलकत्वे "कर्मणा[4] पितृलोको विद्यया देवलोकः", "सर्वे[5] एते पुण्यलोका भवन्ति" इति श्रुतिर्नित्यादीनां पितृलो-कादिफलपरा पीड्येतेत्यत आह—नित्यनैमित्तिकयोरिति। अत्र प्रायश्चित्ताग्रहणं तस्यावान्तरफलाभावात्। न ह्युपात्तदुरितक्षयमन्तरेण तस्य किञ्चित्फलं श्रुत-मस्ति। अन्ययोस्तु तच्छ्रूयत इति विशेषः। नित्यनैमित्तिकयोः पितृलोकप्राप्ति-रवान्तरफलमुपासनानां सत्यलोकप्राप्तिरिति विवेकः "तद्यथा आम्रे[6] फलार्थे निमित्ते छायागन्धावित्यनूत्पद्येते" इति स्मृत्युक्तछायागन्धवत्पितृलोकादिफलस्या-वान्तरत्वमानुषङ्गिकत्वम्। तदुद्देशेन नित्यादेरविधानाद्विविदिषासंयोगस्य च विधानाच्छुद्धेरेव महाफलत्वमिति भावः। ननु पितृलोकस्य कथं नित्यादिसाध्यत्वं श्राद्धादिकर्मसाध्यत्वात्। देवलोकस्य च

"अष्टा[7]शीतिसहस्राणां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थाः... ... ... ॥"

इत्यादिस्मृतेर्नैष्ठिकाद्यूर्ध्वरेतआश्रमकर्ममात्रसाध्यत्वावगमात्कुतो विद्याफल-त्वमिति चेदत्र पृच्छामः। किं श्राद्धादि नित्यनैमित्तिकरूपं कर्म काम्यं वेति। आद्ये कथं न नित्यादेः पितृलोकः फलम्। द्वितीये त्वस्य विध्युद्देशफलेनैव निरा-काङ्क्षत्वात्पितृलोकफलसम्बन्धाभावान्नापि विना विद्यामूर्ध्वरेतआश्रमधर्ममात्रे-णोत्तरमार्गगमनं सम्भवति।

"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥"

इति श्रुतौ[8] विद्याविरहिणामुत्तरमार्गनिषेधात्। निर्णीतं चैतदाचार्यैर्गुणोप-

---

१. *Idem* 26 २. *Śarīrakabhāṣya* on 3.4.27, last sentence. ३. The whole verse stands thus in *Bhāṣya* on 3.4.26 :—"कषाय-पक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥" I cannot trace it to its source. ४. *Bṛih* 1.5 16. ५. *Chha*. 2 23.2. ६. *Āpastambadharmasūtra* 1.7.20.3. It is quoted by Śankara on *Brahmasūtra* 4.3.14, and referred to by Sureśvara, in his *Bṛihadāraṇyakavārtika* (p. 34). He says "फलान्तरश्रुतेः साक्षात्तद्यथाम्रस्मृतेस्तथा। आम्रे निमित्त इत्यादि ह्यापस्तम्बस्मृतेर्वचः" ॥ ७. *Vishṇu P*. 2.8.93, slightly modified. ८. *Śata*. 10.5.4.16.

संहारपादे "अनियमः[1] सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्" इत्यत्राधिकरणे स्मृतिर्ना[2]पुनरावृत्तिमूर्ध्वरेतसामाचष्टे किन्तु गमनमात्रम् । श्रुतौ तु देवलोकशब्दितब्रह्मलोकगतानां पुनरावृत्त्यभावोऽवगम्यते । "एतेन[3] प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्त" इति, "तेषामिह[4] न पुनरावृत्तिः" इति च । यत्पुनरत्रेममिहेति च विशेषणात्कल्पान्तर आवृत्तिरवगम्यते तद्विद्यारहितानामनावृत्तिस्तु विद्यावतां क्रममुक्त्याम्नानादिति रहस्यम् । नन्वेवं सति छान्दोग्यभाष्यविरोधस्तत्र हि महता संरम्भेण "ये चेमेऽरण्ये[5] श्रद्धातप इत्युपासत" इति पञ्चाग्निविद्यागतवाक्यव्याख्यानावसरे गृहस्थानां विद्यारहितानामनृतपैशुन्यमायादम्भाब्रह्मचर्यादिभिरपूतत्वान्न स्वधर्मनिष्ठामात्रेणोत्तरमार्गगतिरस्ति । इतरेषां नैष्ठिकवानप्रस्थमुख्यसन्न्यासिनां तु तद्विपरीतत्वात्पूततया स्वाश्रमधर्मनिष्ठामात्रेणोत्तरमार्गगतिरपुनरावृत्तिलक्षणा भवेदित्याचार्यैरेव निरूपितम् । "न तत्र दक्षिणा" इत्यादिश्रुतिः परममुक्त्यपेक्षेति च व्याख्यातम् । तत्कुत एवं विभागवचनमिति चेत्सत्यम् । ऊर्ध्वरेतसामुत्तरमार्गेण ब्रह्मलोकगमनं विद्यां विनापीत्येतावन्मात्रं तत्रोक्तं न पुनरात्यन्तिक्यपुनरावृत्तिस्तत्र विवक्षिता ।

"आभूतसम्प्लवं[6] स्थानममृतत्वं हि भाष्यते ।"

इत्यापेक्षिकामृतत्ववचनोदाहरणात् । गुणो[7]पसंहारे च "तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणं वाजसनेयिनस्तु पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते 'ते य[8] एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धासत्यमुपासत' इत्युदाहृत्य तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासत इति व्याख्येय सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्प्रयुक्तत्वात्" इति तैरेव व्याख्यातत्वात् । याज्ञवल्क्यश्चाह[9]—

"सप्तर्षिनागवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः ।
तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः ॥
तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया ।
तत्र गत्वावतिष्ठन्ते यावदाभूतसम्प्लवम् ॥" इति ।

तस्मादात्यन्तिक्यपुनरावृत्तिर्विद्यावतामेवेति युक्तं क्रममुक्तिहेतुत्वाद्विद्यायाः । न च तर्हि मुक्तेरेव विद्यायाः परमनयोजतत्वाच्चित्तैकाग्र्यस्य तदयुक्तमिति

---

१. *Brahmasūtrā*. 3.3.31, As to गुणोपसंहार see *Bhāṣyā* on 3.3.5, and अधिकरणमाला. २. NP. wrongly स्मृतिर्न पुन. ३. *Chha*. 4.15.6. ४. *Bṛih*. 6.1.18) (Mādhyandina). ५. *Ghha* 5.10.1. ६. *Vishṇu P.* 2.8.96. ७. *Śarirakabhāṣya* on 3.3.31. ८. *Bṛih* 6.2.15. ९. *Yājñ. Smṛiti*. 3.117, 188.

वाच्यं सगुणब्रह्मविदस्तथात्वेऽपि निर्गुणब्रह्मविद्याधिकारिणः चित्तैकाग्रताया एव परमप्रयोजनत्वात् तस्यापि साक्षात्कारोदयात्प्रागेव प्रमीतस्य ब्रह्मलोकगमनोपपत्तेः ।

"प्राप्य[1] पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।"

इत्यादिस्मृतेश्च । सगुणब्रह्मविदोऽपि ब्रह्मलोकगतस्य तत्रत्यं भोगं विद्यान्तरफलं भुक्तवतस्तत्रोत्पन्नचित्तैकाग्र्यद्वारा स्वयम्भातवेदान्तवाक्यार्थज्ञानादेव मुक्तिरिति नियमात् । भवत्येव चित्तैकाग्रतोपासनायाः परमप्रयोजनमिति न किञ्चिद्दुष्यति । तस्मात् "सर्वे[2] एते पुण्यलोका भवन्ति" इति श्रुतेर्नित्यनैमित्तिकयोः फलवत्त्वस्य वाचनिकत्वात्तथात्वेऽप्युक्तलक्षणभेदेन काम्यवैषम्यात्फलविशेषस्य चाश्रुतत्वात्पितृलोकस्य च फलात्मनः कर्मविशेषाकाङ्क्षितत्वान्नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन "कर्मणा पितृलोक" इति[3] श्रुतिरुपपद्यते । काम्यप्रायश्चित्तयोः फलविशेषोद्देशेन पापक्षयमात्रार्थत्वेन च विधानात्फलान्तराकाङ्क्षाभावात्तथाङ्गावबद्धानामुपासनानां कर्मसमृद्धयर्थत्वादनङ्गावबद्धानामपि प्रतीकोपासनानामब्रह्मोपासनानां चाभ्युदयफलत्वात्कार्यकारणब्रह्मोपासनानामवान्तरफलं देवलोकशब्दवाच्यब्रह्मलोक इति परिशेषात्सिद्धेर्युक्तं 'विद्यया[4] देवलोक' इति वचनमित्यलं प्रपञ्चेन ॥

साधनसम्पन्नः प्रमाताधिकारीत्युक्तं तत्र कानि साधनानि कियन्ति वेत्यपेक्षायां तानि विभजते—साधनानीति । विवेकमन्तरेण वैराग्यायोगाद्विवेकस्य प्राथम्यं न हीदं हेयमिदमुपादेयमिति विवेचनमन्तरेण हेयाद्रागनिवृत्तिः सम्भवति । अनिवृत्तरागस्य शमाद्यभावाच्छमाद्यपेक्षया विरागस्य पूर्वमुद्देशः । शान्त्यादिहीनस्य मुमुक्षायोगात्ततः प्रागेव शमाद्युद्देशः । एतैस्त्रिभिः साधनैः सम्पन्नस्य मुमुक्षाया अवश्यम्भावात्तस्यां च सत्यां ब्रह्मजिज्ञासायां नियमेन प्रवृत्तेर्मुमुक्षान्तान्येव साधनानीत्यभिप्रायः ॥

विवेकादीन्युद्देशक्रमेण लक्षयति—नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावदित्यादिना । नित्यत्वं नाम कालानवच्छिन्नत्वमनित्यत्वं नाम तद्विपरीतत्वम् । न स्थास्यतीति लोकागमयोर्व्यवहारायोग्यं नित्यं तद्विपरीतमनित्यमिति वा । तथाच नित्यानित्यवस्तुनी तयोर्विवेक इति विग्रहः । केचित्तु नित्यानित्ययोर्वसितुं शीलं ययोस्ते नित्यानित्यवस्तुनी नित्यत्वमनित्यत्वं च तयोः साश्रययोर्विवेको नित्यानित्यवस्तुविवेक इत्याहुः । स चापाततोऽधिगतवेदार्थस्यानुमानाकुशलस्य ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमचेतनमनित्यमिति विवेको भवति । तथाहि ।

---

१. *Gua.* vi. 41. २. *Chha.* 2:23.2 ३. *Brih.* 1.5.16. ४. *Idem.*

"यस्मादर्वाक्[1] संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते तदेव ज्योतिषां ज्योतिः", "नित्यं[2] विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्", "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः", "अजो[3] नित्यः शाश्वतः", "सत्यं[4] ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "ब्रह्म[5] रातेर्दातुः परायणम्", "यत्र[6] नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा", "यो वै भूमा[7] तदमृतम्" इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मणि नित्यत्वं विशुद्धसत्त्वस्य पुंसः प्रतिभाति। तथा "नैवेह किञ्चनाग्र[8] आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्", "आत्मा[9] वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्", "सदेव[10] सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्", "नेति नेति",[11] "नेह[12] नानास्ति किञ्चन", "यत्रान्य[13]त्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्", "अथ[14] यदल्पं तन्मर्त्यम्" इत्यादिश्रुतिवचनेभ्यो ब्रह्मणोऽन्यत्र भेदप्रपञ्चेऽनित्यत्वं च तस्यैव पुंसः प्रतिभाति। तथानुमानमपि-विमतोऽचेतनवर्गोऽनित्योऽविभक्तत्वाद्घटपटस्तम्भादिवत् इति। अनेन हि विभक्तस्यानित्यत्वेऽवगते तस्मिन्ननुगतप्रकाशात्मकस्य ब्रह्मणोऽविभक्तस्य नित्यत्वमप्यर्थादवगच्छति। आकाशादेश्चोत्पत्तिमत्त्वसाधनेनानित्यत्वमुत्तरत्र वर्णयिष्यामः। न चैवं श्रुत्यनुमानाभ्यां विवेके सति ब्रह्मणो विज्ञातत्वादलं विचारेणेति वाच्यमापाततो नित्यं वस्तु ब्रह्मेत्यवगमेऽपि तस्याद्वितीयत्वप्रत्यगभिन्नत्वादेरनिर्धारणाज्जिज्ञासाया अनिवृत्तेः। इत्यास्तां विस्तरः॥

ऐहिकानामिति। इहलोके भवा ऐहिकाः प्रतिपन्नशरीरसम्बन्धिनः स्रक्चन्दनवनितागृहक्षेत्रपशुभृत्यादिविषयजन्यसुखरूपा भोगाः कृषिसेवाप्रतिग्रहादिकर्मजन्या अनित्या यथा दृष्टा एवमामुष्मिका अप्यमृतादिविषयसेवाजन्यानन्दा यागादिकर्मजन्यत्वादनित्या भवितुमर्हन्तीति निश्चित्य तेभ्यो नितरां छर्दितान्नवज्जुगुप्सेहामुत्रार्थफलभोगविराग इत्यर्थः। अयं भावः। सुखं मे निरतिशयं भूयाद्दुःखं मे माभूदणुमात्रमपीत्यखिलप्राणिनामस्त्यभिनिवेशः। ते चैवमभिनिविष्टाः पुरुषकारावलम्बनेन सर्वोत्साहं यतन्तोऽपि न लभन्ते सुखमात्यन्तिकं दुःखाभावं च। कथम्। केचित्समुद्रयानराजप्रीणनाद्यतिकष्टमनुभूय फलकाले स्वयं नश्यन्ति। केचित्प्राप्तफला अपि व्याध्याद्युपद्रुताः सन्तो भोगं न लभन्ते। केचित्तु प्राप्तेषद्भोगा अपि भोग्यभार्यापुत्रादिविनाशाद्वा तद्विसंवादा-

---

१. *Bṛih.* 4.4.16 The Upaniṣad reads तद्देवाः (with which N. agrees), not तदेव. २. *Mnnḍ.* 1.1.6. ३. *Kaṭha*, 2.18. ४. *Tait*, 2.1. ५. *Bṛih.* 3.9.28. ६. *Chha.* 7.24.1. ७. *Idem.* ८. *Bṛih.* 1.2.1. ९. *Ait.* 1.1. १०. *Chha.* 6.2.1. ११. *Bṛih* .2.3.6. १२. *Idem.* 4.4.19. १३. *Chhā.* 7.24.1. १४. *Idem.*

द्वान्यैर्वा सह स्पर्धासूयादिभिः सञ्चितभोग्यजातस्य क्षयभयेनानावृष्ट्यादिचिन्तासन्तापादिभिश्च क्षणमपि सुखमलभमानाः कष्टा दरिद्राः काणकुब्जक्लीबबधिरादयो बुभुक्षापिपासार्दिता बहुलमुपलभ्यन्ते। एवं दुःखबहुले संसारे सुखलवमात्रमनुभवन्नपि कृपणवद्विशुद्धचित्तो न सज्जते किन्तु विरज्यत एवेति। नन्वस्त्वेवमैहिकं सुखमनित्यत्वादिदोषदुष्टत्वाद्विरागास्पदं तथापि न पारलौकिकादपि विरक्तिरुपपद्यते क्षयिष्णुत्वानुमानस्य "अक्षय्यं[1] ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" इति श्रुतिबाधितविषयस्यानुत्थानादिति चेन्मैवम्। "तद्यथेह[2] कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयत" इति श्रुत्या वस्तुबलावलम्बनेन प्रवृत्तयानन्यपरया सापेक्षाक्षय्यफलविषयकायाः प्राश[3]स्त्यलक्षणाया विध्येकवाक्यत्वेनान्यपरायास्तस्या एव बाधितत्वात्। न हि जन्यं नित्यं भावरूप दृष्टमत ऐहिकभोगवदेवाब्रह्मस्तम्बपर्यन्तेषु भोगेषु वैराग्यमुपपद्यत इति। तदुक्तं[4] भगवता व्यासेन—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥" इति।

शमादीन्विभजते—शमादय इति। मनसो बहिः प्रवृत्तौ बाह्येन्द्रियाणां द्वारत्वात्तन्निरोधमन्तरेण मनोनिग्रहाशक्तेर्दमानन्तरं शमो द्रष्टव्यः पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वादग्निहोत्रयवागूपाकवत्[5]। मनसोऽन्तःकरणस्य निग्रहो विषयेभ्यो बलादाकर्षणं शम इत्येतावत्युक्ते श्रवणादिविषयेभ्योऽपि निग्रहे प्राप्ते ततो निग्रहस्य ज्ञानानुकूलत्वाभावादानर्थक्यमित्याशङ्क्य निग्रहं विशिनष्टि—श्रवणादीति। मननादिसङ्ग्रहार्थमादिपदम्। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। तद्व्यतिरिक्तेत्यत्र श्रवणादिस्तच्छब्दार्थः। निवर्तितानां तेषां बाह्यान्तरिन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यः श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणं पुनर्विषयप्रवृत्त्यनुत्साहकरणेन स्थिरीकरणमुपरतिरित्यर्थः। ननु शमदमयोर्लक्षणाभ्यामिदमुपरतिलक्षणं सङ्कीर्णं प्रतिभाति बहिः प्रवृत्तेन्द्रियव्यापारनिरोधात्मकस्य लक्षणार्थस्य तुल्यत्वादित्यपरितोषात्प्रकारान्तरेणोपरतिं लक्षयति—अथवेति। विहितानामवश्यकर्तव्यतया चोदितानां सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादीनां कर्मणां विधिना

१. *Śatapatha* 2.6.3.1. *Chha.* 8.1.6. ३. प्रशस्तलक्षणायाः P. ४. *Mahābhārata* xii. 6636 (Chap. 177), and 9919 (Chap. 277).
५. "The Agnihotra being enjoined before the preparation of the gruel (*yavāgū*) which is a prerequisite."

"तद्धैके [1]प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति",

"प्राजापत्यां[2] निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।

आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ॥"

इत्यादिश्रुतिस्मृत्युक्तमार्गेण परित्यागः परिव्रजनं सन्न्यास उपरतिरित्यर्थः । शमादिवत्सन्न्यासोऽप्यात्मज्ञानान्तरङ्गत्वादवश्यं मुमुक्षुणानुष्ठेयः । तथाच श्रुतयः—

"न [3]कर्मणा न प्रजया धनेन

त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ॥"

"वेदान्त[4]विज्ञानसुनिश्चितार्थाः

सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ॥"

"एतमेव[5] प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति", "पुत्रैषणायाश्च[6] वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थानाय भिक्षाचर्यं चरन्ति", "तानि[7] वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्" इत्याद्याः ।

स्मृतयश्च—

"नैष्कर्म्यसिद्धिं[8] परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति ॥"

"त्वम्पदार्थविचाराय[9] सन्न्यासः सर्वकर्मणाम् ॥"

"अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च

कामस्य रूपं च वपुर्वयश्च ।

धर्मस्य यागादि दया दमश्च

मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्यः"[10] ॥

"प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं सन्न्यासलक्षणम् ।

तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य सन्न्यसेदिह बुद्धिमान् ॥"[11] इत्यादयः ।

न्यायश्च पुरुषस्योद्देश्यसिद्धये यदुपयुक्तमविरोधि च तदुपादेयं विपरीतं तु हेयमिति । तदिह ब्रह्मात्मजिज्ञासूनां वेदान्तविचारे क्रियमाणे न कर्मणामुपयोगो विनापि कर्म तदनुष्ठानसिद्धेः । नाप्यविरोधः । कर्मविक्षिप्तचित्तस्य वेदान्तार्थनिर्णयाशक्तेः कर्मणां विचारविरोधित्वात् । न ह्यपेतब्रह्मक्षत्राद्यकर्त्रभोक्तृ ब्रह्माहमस्मीत्यात्मनि विचार्यमाणे ब्राह्मणाद्यध्यासविशिष्टात्मप्रतिपत्त्यधीनेषु कर्मस्वधिकारो न विरुध्यते येनात्मजिज्ञासुना कर्माणि न त्यक्तव्यानि स्युः ।

---

१. *Jabala* 4. २. *Manu.* 6.38. ३. *Mahanara.* 10.5. ४. *Mund.* 3.2.6. ५. *Brih.* 4.4.25. (*Madhyandina*). ६. *Idem.* 26. ७. *Mahanara.* 21.2. ८. *Gita* xviii. 49. ९. *Upadesasahasri* xviii. 222 (विवेकाय). १०. *Sanksepasariraka.* 3.366. ११. *Mahabharata* xiv. 1195 (Chap. 43).

तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायैरात्मज्ञानाङ्गतया यः सन्न्यासकर्तव्यतया प्राप्तः सोपरतिरिति भावः । शीतोष्णादीत्यादिपदान्मानापमानलाभालाभशोकहर्षादिग्रहः । श्रवणादावित्यत्रादिशब्दो मननादिसङ्ग्रहार्थः । तदनुगुणेत्यत्र गुरुशुश्रूषापुस्तकसम्पादनतद्रक्षणादिः श्रवणाद्यनुगुणो विषयो निर्दिश्यते । न पुनः सुखवासद्रव्यान्नादिसङ्ग्रहादेरपि श्रवणाद्यनुकूलत्वात्तदर्थं मठारम्भप्रतिग्रहादावपि चित्तसमाधिः कर्तव्य इहोपदिश्यते "दण्डमाच्छादनं[1] कौपीनं परिग्रहेच्छेषं विसृजेत्" इति सन्न्यासकाले त्याजितस्य दण्डकौपीनाद्यतिरिक्तस्य प्रतिप्रसवशास्त्रं सङ्ग्रहानुपपत्तेरित्यर्थः । समाधिरैकाग्र्यं तत्परत्वमिति यावत् । गुरुवेदान्तादीत्यादिपदात्स्मृतीतिहासपुराणानां ग्रहः विश्वास इदमित्थमेव नान्यथेति गुर्वादिवाक्येषु नियता[2] बुद्धिः सा श्रद्धेत्यर्थः ॥

चरमं साधनं लक्षयति—मुमुक्षुत्वमिति । मोक्षो नाम विद्यानिरस्ताविद्यातत्कार्यब्रह्मात्मनावस्थानम् । तद्विषयेच्छा मोक्षेच्छा तद्वत्त्वं मुमुक्षुत्वमित्यर्थः । ननु—

"यदा[3] सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति......................॥"

इति श्रुतेः सर्वकामविमुक्तस्य मोक्षाधिकारात्कथमिच्छाधिकारिविशेषणमिति चेन्नायं दोषोऽनात्मविषयेच्छाया एव कामत्वात्तदभिप्राया श्रुतिः । मोक्षेच्छायास्तु आत्मविषयतयाकामत्वात् "अथा[4]कामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकाम इति श्रुतेरात्मकामस्याप्तकामत्वेनाकामत्वावगमादिति । विद्याधिकारिणः शमादिसाधनवत्त्वे श्रुतिं प्रमाणयति— शान्तो दान्त इति । "शान्तो[5] दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति" इति काण्वाः पठन्ति । समाहित इत्यस्य स्थाने "श्रद्धावित्तो भूत्वे"ति माध्यन्दिनाः । तदुभयपाठानुरोधेन गुणोपसंहारन्यायमाश्रित्येह शमादयः षण्निर्दिष्टा इति द्रष्टव्यम् । शमादेर्विद्याहेतुत्वं श्रीभगवानप्याह—

"योगा[6]रूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥"
"..............[7]अशान्तस्य कुतः सुखम्" ॥ तथा ।
"यदा[8] संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥" इति ।

---

१. *Aruṇeya Up.* 1. २. निहिता M. निश्चयात्मिका P. ३. *Bṛih.* 4.4.7. ४. *Idem.* 4.4.6 ५. *Idem.* 4.4.23. ६. *Gita* vi. 3. ७. *Idem* 2.66 ८. *Idem.* 2.58.

"सर्वं[1]धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥" इति ।
"मात्रास्पर्शास्तु[2] कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥" इति ।
"स[3]माधावचला बुद्धिः.................. ॥"
"मय्येव[4] मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ॥" इति ।
"श्रद्धा[5]वाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ॥"
"अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ॥" इति ।

मुमुक्षुत्वेऽपि—

"मुमुक्षुर्वै[7] शरणमहं प्रपद्ये ॥"
"ततः[8] पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥"

इति श्रुतिस्मृती द्रष्टव्ये । एवं विशेषणविशिष्टो वेदान्ताधिकारीति निरूपितेर्थेऽभियुक्तवचनमुदाहरति—उक्तं च—प्रशान्त इति । प्रशान्तचित्ताय शान्ताय । जितेन्द्रियाय दान्ताय । प्रहीणदोषाय नितान्तनिर्मलस्वान्ताय । यथोक्तकारिणे काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्याद्यनुष्ठानलब्धेश्वरप्रीतये । गुणान्विताय विवेकवैराग्योपरतितितिक्षासमाधानयुक्ताय । सर्वदा गुरुमनुगताय श्रद्धालवे । एवं भूतायमुमुक्षव एतदात्मज्ञानं सततं गुरुणा देयमिति श्लोकार्थः ॥

तदेवमधिकार्यनुबन्धो निरूपितः । इदानीं विषयानुबन्धं व्यपदिशति—विषय इति । क्षीर[9]नीरवत्परस्परविभिन्नयोः समानाभिहारस्यैक्यशब्दार्थत्वाज्जीवब्रह्मणोरपि भिन्नयोरैक्यं मिश्रीभाव इति शङ्का स्यात्सा माभूदिति व्याचष्टे—शुद्धचैतन्यमिति । चैतन्यस्य शुद्धत्वं सर्वधर्मातीतत्वमेकरसत्वम् । ननु कथं शुद्धचैतन्यस्य विचारविषयत्वं यावता प्रागपि विचारात्तत्स्वप्रकाशं स्वयमेवावभासत इत्याशङ्क्य स्वरूपेणावभासमानत्वेऽपि परिपूर्णसच्चिदानन्दप्रत्यक्स्वरूपतयाज्ञायमानत्वाद्विषयत्वोपपत्तिरित्यभिप्रेत्याह—प्रमेयमिति । प्रमेयत्वमज्ञातत्वम् । अयं भावः । ब्रह्मात्मवस्तुनो विषयस्यात्यन्ताप्रसिद्धौ न विचारप्रवृत्तिः सम्भवत्युद्देश्यविषयाप्रसिद्धेः । तथा

---

१. *Gita*. xviii. 66. २. *Idem*. ii. 14. ३. *Idem*. ii. 53. ४. *Idem*. xii. 8. ५. *Idem*. iv. 39. ६. *Idem*. iv. 40. ७. *Śvet*. 6. 18. ८. *Gita* xv. 4. ९. *Maxims* ii (2nd. edn).

यथावत्प्रसिद्धौ च न विचारप्रवृत्तिरनुपयोगात् । तथाच केनचिद्रूपेण प्रसिद्ध ब्रह्मात्मवस्तूद्दिश्य विचारेण तद्याथात्म्यं निर्णेयम् । तदिह ब्रह्मपदस्य निरतिशय-महत्त्ववति सामान्येन प्रसिद्धत्वादात्मपदस्य च प्रतीचि सामान्येन प्रसिद्धेः "अयमात्मा[1] ब्रह्म" इत्यादौ समभिव्याहारादैक्यस्याप्यापाततः प्रसिद्धेस्तद्विशेष-स्य च पारोक्ष्यसद्वयत्वाद्यनधिकरणत्वस्य देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहंकृतिविलक्ष-णतत्साक्षिप्रत्यगभिन्नसच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मरूपत्वस्य चाप्रसिद्धेः सामान्यतः प्रसिद्धवस्तूद्देशेन तद्विशेषनिर्धारणाय विचारप्रवृत्त्युपपत्तिरिति । यद्वा । परोक्षतः प्रसिद्धं ब्रह्मात्मवस्तूद्दिश्य तत्स्वरूपसाक्षात्काराय विचारप्रवृत्त्युपपत्तिरिति । तथाच श्रुतिः—"आत्मा[2] वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इत्यात्मसाक्षात्कारमनूद्य तादर्थ्येन मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां सह श्रवणमनुष्ठेयं विधत्ते । स्मृतिरपि[3]—

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥" इति ।

ननु प्रधानादीनामपि कपिलकणादादिस्मृतिसिद्धानां वेदान्तवाक्यविष-यत्वात्कथं जीवब्रह्मैक्यस्य विषयत्वसंकीर्तनमिति तत्राह—तत्रैवेति । उपक्रमो-पसंहारादिभिर्लिङ्गैर्वेदान्ततात्पर्ये निरूप्यमाणे प्रत्यक्स्वरूपे ब्रह्मण्येव पर्यव-सानदर्शनात्प्रधानादिषु चादर्शनाद्ब्रह्मैव वेदान्तविषयो न प्रधानादिरित्यर्थः । तथा च श्रुतिस्मृती भवतः । "सर्वे वेदा यत्पदमाम[4]नन्ति", "वेदैश्च[5] सर्वैरह-मव वेद्य" इति च ॥

तृतीयमनुबन्धमाह—सम्बन्धस्त्विति । तदैक्यं प्रत्यग्ब्रह्मणोरैक्यं तच्च तत्प्रमेयं चेति तथा तस्येति विग्रहः । ननु कथं यथोक्तप्रमेयस्योपनिषत्प्रमा-णबोध्यत्वं निर्धर्मके तस्मिञ्छब्दशक्तिगोचरत्वायोगादि चेत्को भावः । शब्दा-दिहीनस्य वाच्यत्वानुपपत्तिरिति चेन्न । अनुक्तोपालम्भात् । असङ्गस्य लक्ष्य-त्वानुपपत्तिरिति चेद्यथा लक्षणावृत्त्याश्रयणेन ब्रह्मात्मैक्यप्रतिबोधस्तथोत्तरत्र वक्ष्यामः ॥

चरममनुबन्धमाह—प्रयोजनं त्विति । तदैक्यप्रमेयशब्दः पूर्ववत् । अज्ञानं वक्ष्यमाणलक्षणम् । तस्य निवृत्तिः प्रयोजनमित्येतावत्युक्ते समूलदुःखोन्मूलन-

---

१. *Bṛih.* 2.5.19. २. *Idem.* 2.4.5. ३. Quoted in *Bṛihadāraṇyakavārtika* 2.4.304.—"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य इत्यत्राशङ्क्यते यतः ।" but can trace it no further back. ४. *Katha* 2. 15. ५. *Gītā* xv. 15.

लक्षणं वैशेषिकाभिमतं प्रयोजनमभ्युपगतं प्रतिभायात् । तन्माभूदिति विशेषणान्तरोपादानम् । अज्ञाननिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च प्रयोजनमित्युक्ते नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्निःशेषदुःखोच्छित्तिश्च प्रयोजनमिति भाट्टाभिमतं प्रयोजनं प्रतिभायात् । तन्माभूदिति तत्स्वरूपेत्युक्तम् । ब्रह्मात्मचैतन्यस्य चानन्दरूपत्वं प्रतिपादितमधस्तात् । विचारजन्यज्ञानस्योक्तोभयविधं प्रयोजनमित्यत्र क्रमेण श्रुती प्रमाणयति—तरतीत्यादिना । आत्मविद्भूमाख्यब्रह्मात्मसाक्षात्कारवाञ्छोकोपलक्षितसंसारमूलाज्ञानं तरत्यतिक्रामति । यः कश्चिद्ब्रह्म परमात्मानं प्रत्यग्रूपं वेद साक्षात्करोति स ब्रह्मैव भवति तद्रूप एव भवतीत्यर्थः ॥

नन्वविद्यानिवृत्तेर्विद्यासाध्यत्वेन प्रयोजनत्वेऽपि कथं स्वरूपानन्दस्य तथात्वं तस्य नित्यप्राप्तत्वेन विद्यासाध्यत्वाभावादिति चेत्सत्यं नित्यप्राप्तमप्यानन्दात्मब्रह्मस्वरूपमविद्यावस्थायां विस्मृतकण्ठ[1]गतचामीकरवदनवाप्तमिव भवति । विद्यया त्वविद्यानिवृत्तौ विज्ञातचामीकरवदभिव्यक्तिमापद्यमानमवाप्तमिव व्यपदिश्यत इति न काचिदनुपपत्तिरिति भावः ॥४॥

एवं साधनचतुष्टयसम्पन्नस्याधिकारिणो विज्ञातविषयादिमत आत्मयाथात्म्यजिज्ञासया गुरूपसपत्तिं दर्शयति—अयमधिकारीति । जननमरणादीत्यादिपदाद्रागद्वेषादिग्रहः । संसारानलसन्तप्तो गुरुमुपसृत्य तमनुसरतीत्यन्वयः । उपसरणं समीपगमनमनुवृत्तिरिति भेदः । अत्युद्विग्नस्याविलम्बेन तच्छान्तिकरस्थानप्रवेशे दृष्टान्तमाह—प्रदीप्तेति । निदाघमध्याह्नार्कमरीचिसंव्याप्तखल्वाटः प्रदीप्तशिराः । शिशिरतरमधुरजलपरिपूर्णो महाह्रदो जलराशिः ।

"रिक्त[2]पाणिर्न सेवेत राजानं देवतां गुरुम् ।"

इति वचनमाश्रित्याह—उपहारपाणिरिति उपहार उपायनं पाणौ यस्य सः । श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति गुरोर्विशेषणे । श्रोत्रियत्वं वेदवेदाङ्गपारगत्वं वेदान्तार्थपारगत्वं वा प्रकृतोपयोगात् । श्रोत्रियग्रहणमकामहतत्वावृजिनत्वयोरप्युपलक्षणार्थम् "यश्च[3] श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहत" इति श्रुतेः । अकामहतत्वं ब्रह्मलोकानन्दादर्वाचीनेष्वानन्देषु वितृष्णत्वम् । अवृजिनत्वं यथोक्तकारितया निष्पापत्वम् ब्रह्मनिष्ठत्वमौपनिषदब्रह्मात्मविज्ञानपरिपूर्णत्वमित्यर्थः । उक्त-

---

१. *Maxims* ii. 17 (2nd. edn). २. Quoted (with पश्येत however) in *Indische Sprüche*, as from *Vikramacharita*. 115. Compare, too, रिक्तपाणिर्न पश्येत राजानं ब्राह्मणं स्त्रियम् of *Mahābhārata* vii. 7886. ३. *Brih.* 4.3.33.

विधिना यथोक्तगुरूपसर्पणं विद्यार्थिनावश्यं कर्तव्यमित्यत्र प्रमाणमाह— समिदिति । समिच्छब्दो गुरोरनुरूपोपायनमात्रोपलक्षणपरः । आदिशब्दात् आचार्यवान्पुरुषो[1] वेद", "आचार्याद्[2]ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्" इत्यादिश्रुत्यन्तरसङ्ग्रहः । शिष्योपसृत्यनन्तरं गुरोरुपदेशक्रमं दर्शयति—स परमेति । स गुरुः परमकृपया प्रपन्नजनक्लेशदर्शनजातकरुणया[3] तन्मतिप्रकाशनप्रवृत्त्या[4] वा । तदुक्त[5]मभियुक्तैः—

"एतदेव हि दयालुलक्षणं
यद्विनेयजनबुद्धिवर्धनम् ॥" इति ।

उक्तार्थज्ञापिकां श्रुतिं पठति तस्मा इति । "तस्मा एतत्प्रोवाच । यद्वेत्थ[6] तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि" इत्यादिश्रुत्यन्तरमादिशब्दार्थः ॥५॥

अध्यारोपं सदृष्टान्तं लक्षयति असर्प इति । ननु कथमवस्तुनो निरात्मकस्यारोपो यावता क्वचिद्दृष्टपूर्वस्य सत एव क्वचिदारोपो दृष्टः । उक्तं च भट्टाचार्यैः[7]

"अध्यस्यते खपुष्पत्वमसत्कथमवस्तुनि ।
प्रज्ञातगुणसत्ताकमध्यारोप्येत वा न वा ॥" इति ।

उच्यते । संस्कारजन्यो हि भ्रमस्तत्सिद्धये पूर्वप्रतीतिमात्रमपेक्षते न पुनः पूर्वप्रतीतस्य परमार्थसत्त्वमपि व्यतिरेकाभावात्संशयविपर्ययदृष्टेष्वपि संस्कारकार्यस्मृतिदर्शनात् । तथा हि लोकेऽनुभवोऽस्मिन्वल्मीककूटे मम पुरा स्थाणुः पुरुषो वेति सन्देह आसीदस्मिञ्छुक्तिशकले रजतमिदमिति भ्रम आसीदित्यादिः । न च संशयविपर्ययोरेवेयं स्मृतिर्न तदर्थयोरिति वाच्यमर्थशून्ययोस्तयोः स्मृतिविषयत्वानुपपत्तेः । तस्मा[8]न्निरुपाख्यविलक्षणस्य पूर्वपूर्वभ्रमदृष्टस्याप्युत्तरोत्तरारोपोपपत्तेर्भ्रमप्रवाहस्य चानादित्वेनान्योन्याश्रयानवस्थादिप्रसङ्गानवकाशाद्युक्तं वस्तुनि परमार्थे सत्यवस्तुनोऽनिर्वचनीयस्यारोप इत्यर्थः । वस्त्ववस्तुनी क्रमेण लक्षयति—वस्त्विति । ननु ब्रह्मण एव वस्तुत्वे जीवस्य शुक्त्यादेश्चावस्तुत्वात्कर्तृत्वाद्यध्यारोपे रजताद्यध्यारोपे चाव्याप्तिः स्यादिति चेन्न । ब्रह्मण्येव जीवत्वस्यापि कल्पितत्वात्कर्तृत्वादेश्च सोपाधिकभ्रमतयोपाध्यनुरक्ते ब्रह्मण्येवाध्यारोपाच्छुक्त्यादेरपि रजताद्यधिष्ठानचैतन्यावच्छेदकत्वेनाधिष्ठानत्वमुपचर्यते । न पुनस्तस्यैवाधिष्ठानत्वमज्ञातं हि वस्त्वारोपाधिष्ठानम् । न

१. *Chha*. 6.14.2. २. *Idem*. 4.9.3 ३. करुणः P. ४. प्रवृत्तिः N. P. Q. R. ५. *Sankṣepaśāriraka* iv. 3. ६. *Chha*. 7.1.1. ७. *Tantravārtika* 1.4.22 (p. 222), ८. तस्मान्निद्राद्य.वि P.

च शुक्त्यादेरज्ञातत्वमस्ति जडत्वाच्चिन्मात्रनिष्ठत्वाच्चिन्मात्रविषयत्वाच्चाज्ञानस्य । तदुक्तम्[1]—

"यस्याज्ञानं भ्रमस्तस्य भ्रान्तः सम्यक् च वेत्ति सः ।
जडं न विद्यावेद्यत्वान्नातोऽज्ञानं जडाश्रयम् ॥"

ततश्च सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसम्भेदावभासोऽध्यारोप इत्युक्तं भवति। एतेन चिज्जडयोः परस्परतादात्म्याध्यासे शून्यमेव जगतस्तत्त्वं स्यादध्यस्तस्य मिथ्यात्वादिति केषाञ्चिच्चोद्यं निरस्तम् । भ्रमकाले परिस्फुरदंशस्य मिथ्यात्वेऽप्यपरिस्फुरतोंऽशान्तरस्य विद्यमानत्वात् । तदुक्तमभियुक्तैः—

"अध्यस्तमेव[2] हि परिस्फुरति भ्रमेषु
नान्यत्कथञ्चन परिस्फुरति भ्रमेषु ।
रज्जुत्वशुक्तिशकलत्वमरुक्षितित्व-
चन्द्रैकताप्रभृतिकानुपलम्भनेन ॥" इति ।
"किञ्चा[3]नृतद्वयमिहाध्यसितव्यमिष्टं
स्याच्चेत्तदा भवति चोद्यमिदं त्वदीयम् ।
सत्यानृतात्मकमिदं मिथुनं मिथश्चे-
दध्यस्यते किमिति शून्यकथाप्रसङ्गः ॥" इति च ।

तस्माद्युक्तमुक्तं वस्तु सच्चिदानन्दाद्वयं ब्रह्म तस्मिन्नज्ञानतत्कार्याखिलजडसमूहस्यावस्तुनोऽध्यारोप इति ॥

अज्ञानं व्युत्पादयति—अज्ञानं त्विति । तुशब्दो मतान्तरेभ्यो वैशिष्ट्यद्योतनार्थः । तमेव विशेषं दर्शयति—सदसद्भ्यामित्यादिना । ज्ञानविरोध्यज्ञानमित्युक्ते ज्ञानप्रागभावे प्रसङ्गं व्युदस्यति—भावरूपमिति । उत्तरज्ञानविरोधिपूर्वज्ञानव्युदासाय सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमिति । मिथ्याज्ञानव्युदासाय त्रिगुणात्मकमिति । यद्वा ज्ञानविरोधित्वं ज्ञानापनोद्यत्वं तदेवाज्ञानत्वमित्यज्ञानलक्षणम् । न च ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यप्रपञ्चेऽतिव्याप्तिः । तस्याज्ञानोपादानकत्वेनाज्ञानानतिरेकात् । नाप्यज्ञानात्मसम्बन्धेऽतिव्याप्तिः । असङ्गस्वभावस्य चिदात्मनोऽज्ञानसम्बन्धस्याज्ञानाधीनत्वात्तस्याप्यज्ञानात्मत्वोपपत्तेः । अतो नानयोर्लक्ष्य-

१. Cannot trace this verse; but the first line is quoted as a nyāya in *Tattvadīpana* (a Com. on the *Vivaraṇa*) p. 179. and in the *Laukikanyāyasaṅgraha*. २. *Saṅkṣepa śārīraka* i, 36. ३. *Idem.* i, 33.

बहिर्भाव इति न लक्षणस्यातिव्याप्तिः। अव्याप्त्यसम्भवयोस्तु शङ्कैव नास्ति ज्ञानेनाज्ञानबाधस्य प्रसिद्धत्वात्। न च पूर्वज्ञाने ज्ञानप्रागभावे चातिव्याप्तिः। पूर्वज्ञानस्य ज्ञानापनोद्यत्वनियमाभावादिच्छादिवृत्त्यन्तरोत्पत्त्यापि तदपनोददर्शनात्। इह च नियमेन ज्ञानापनोद्यस्याज्ञानत्वाभ्युपगमात्। प्रागभावस्य च प्रतियोग्युत्पत्तिमात्रविरोधिनस्तदपनोद्यत्वाभावात्। न ह्यनुत्पन्नः प्रतियोगी कस्यचिदपनोदकः सम्भवति। अतो न तयोरतिव्याप्तिः॥

नन्वज्ञानस्यापि ज्ञानोत्पत्तिनान्तरीयकतया विनाशाश्रयणात्कथं ज्ञानापनोद्यत्वमिति चेन्न। ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं विलम्बाभावाभिप्रायेणाज्ञाननाशस्य ज्ञानोत्पत्तिनान्तरीयकतावाचोयुक्तेराश्रयणात् भावाभावयोस्तु क्षणमात्रमपि सहभावानुपपत्तेरित्यस्ति प्रागभावाद्वैषम्यमज्ञानस्येति। सदसद्भ्यामनिर्वाच्यमित्यपरं लक्षणम्। अत्रापि पूर्ववदेवातिव्याप्त्यादिपरिहारो द्रष्टव्यः। नेदमसम्भवि। अज्ञानस्य सत्त्वे चिदात्मवद्बाधाभावप्रसङ्गात्। असत्त्वे च वन्ध्यासुतादिवदपरोक्षप्रतिभासानुपपत्तेः। बाधप्रतीत्योश्चाज्ञाने प्रसिद्धत्वाद्युक्तं तस्यानिर्वचनीयत्वम्। सदसत्त्वपक्षयोरुक्तदूषणमुपजीव्य मिथ्याज्ञानसंस्कारोऽज्ञानमसत्प्रकाशनशक्तित्वेनासद्वेति मतद्वयं निरसनीयम्। मिथ्याज्ञानमात्मगुणोऽज्ञानमिति पक्षं निरस्यति—त्रिगुणात्मकमिति। गुणा लोहितशुक्लकृष्णा अज्ञानकार्येषु तेजोऽबन्नेष्ववान्तरप्रकृतिषु प्रसिद्धाः "यदग्ने[1] रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य" इति श्रुतेः। तथा च कार्यगतत्रिरूपेण कारणमप्यज्ञानमव्याकृतात्मकं त्रिरूपेण त्रिगुणात्मकमिति यावत्। तथा च न्यायः[2]—"ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके" इति। यद्वा रजःसत्त्वतमोलक्षणास्त्रयो गुणास्तद्युक्तमज्ञानं त्रिगुणात्मकमिति। गुणगुणिनोरभेदविवक्षया त्रिगुणात्मकमित्युक्तम्। तथा च गुणस्य गुणवत्त्वानुपपत्तेर्न मिथ्याज्ञानमज्ञानमित्यर्थः। ज्ञानाभावोऽज्ञानमिति मतं निरस्यति—भावरूपमिति। अयमर्थः। अभावप्रतियोगि यज्ज्ञानं तत्किं साक्षिचैतन्यं स्यात् "साक्षी[3] चेता" इत्यादिश्रुतेस्तस्यापि ज्ञानत्वप्रसिद्धेः। किंवान्तःकरणवृत्तिः "विज्ञानेन[4] वा ऋग्वेदं विजानाति" इति विज्ञानशब्देन बुद्धेः श्रवणात्। अथवात्मगुणस्तथात्वेन च ज्ञानस्य वैशेषिकतन्त्रे प्रसिद्धत्वात्। तत्राद्यो नाभावप्रतियोगी तस्य नित्यत्वात्। द्वितीये ज्ञानशब्दस्त्वौपचारिकत्वेन तदभावस्य मुख्यतोऽज्ञानत्वायोगात्। "येन वा पश्यति" इत्यारभ्य "प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोक"

१. *Chha*. 6.4.1. २. *Brahmasūtra* 1.4.9. ३. *Svet*. 6.11. ४. *Chha*. 7.7.1.

इत्यन्तेन[1] प्रज्ञाशब्दवाच्यप्रत्यक्चैतन्यव्याप्तस्येव चक्षुरादिद्वारकबुद्धिपरिणामस्य सङ्कीर्तनात्। साङ्ख्यपक्षमाश्रित्यानौपचारिकत्वे स्वीक्रियमाणेऽपि न वृत्त्यभावोऽज्ञानं वृत्त्यभावशब्देन वृत्त्युपादानबुद्धिस्वरूपावस्थानमात्रस्यैवाभिलाषात्। अतः पक्षान्तरं परिशिष्यते। तत्रेदं वक्तव्यम्। ज्ञानविशेषाभाव एवाज्ञानं ज्ञानसामान्याभावोऽपि वेति। नाद्यो मूढोऽहं न किञ्चिज्जानामीत्यनुल्लिखितविषयविशेषस्याप्यज्ञानस्यानुभवात्। न च तत्रापि विषयविशेषपर्यवसायित्वं कल्प्यत इति वाच्यं विनानुपपत्तिं सामान्यबुद्धेर्विशेषालम्बनत्वे सामान्यबुद्धिविलोपसङ्ग्रहात्। तथा च घटवत्यपि भूतले घटसामान्यनिषेधप्रसङ्गः सुषुप्त्यभावप्रसङ्गश्च स्यात्। तस्माज्ज्ञानसामान्याभावोऽहमज्ञ इत्युल्लिख्यत इति वाच्यम्। तत्र चाभावज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानसापेक्षस्यात्मनि धर्मिणि ज्ञाने च प्रतियोगिनि विज्ञायमाने तस्मिन्नेवात्मनि कथं ज्ञानाभावग्रहोऽभावप्रतियोगिनो ज्ञानस्य तत्र वर्तमानत्वात् तयोरविज्ञायमानयोरपि कथं तत्राभावग्रहः कारणाभावात्। षष्ठ[2]प्रमाणपक्षेऽप्ययं न्याय ऊहनीयः। नन्वनुपपत्तौ सत्यां सामान्यबुद्धेरपि विशेषालम्बनत्वं कल्प्यते। यथा घटवत्यपि भूतले नास्तीति बुद्धेर्विवक्षितघटाभावविषयत्वं तद्वदिहापि सामान्याभावस्य यत्किञ्चित्प्रतियोगिसत्त्वविरोधादात्मनि विज्ञायमाने तस्मिन्ननुपपत्तेर्न किञ्चिज्जानामीति बुद्धेर्ज्ञानविशेषाभावविषयत्वं कल्प्यत इति चेन्न। अनयैवानुपपत्त्या भावान्तरविषयत्वस्यैव कल्पनीयत्वात्। न हि मूढोऽहं सामान्य किञ्चिदपि न जानामीत्यनुभवे किञ्चिद्विषयान्तरमवशिष्यते यज्ज्ञानाभावविषयत्वमस्य कल्प्येत। यथास्मिन् भूतले न कोऽपि घटोऽस्तीति प्रत्यये घटविशेषस्यानवशेषस्तद्वत्। नन्वप्रसिद्धभावान्तरकल्पनाद्वरं प्रसिद्धस्याभावस्येव यथाकथञ्चिदप्यज्ञानबुद्धेर्विषयत्वकल्पनमिति चेन्न। अत्यन्तमप्रसिद्धयभावात्। "देवा[3]त्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां", "मायां[4] तु प्रकृतिं विद्यात्" इति च श्रुतिवाक्ययोर्गुणवत्त्वेनोत्पद्यमानजगदुपादानत्वेन च प्रसिद्धत्वात् ज्ञानं किन्तु भावान्तरमेवेति ॥

ननु भावत्वमप्यज्ञानस्यानुपपन्नमनादेस्तस्य भावरूपत्वे चिदात्मवदनिवृत्तिप्रसङ्गादनिर्मोक्षापत्तेरित्यत्र आह—यत्किञ्चिदिति। अयमर्थः। नास्माभिरज्ञानस्य भावत्वं परमार्थसत्त्वाभिप्रायेणोच्यते किन्त्वभावव-

---

१. *Aitareya* 5. 1—3. २. *Namely anupalabdhi.* ३ *Sveta.* i, 3. ४. *Idem.* iv. 10

लक्षण्याभिप्रायेण। न च भावाभावयोः परस्पर[1]प्रतिषेधेऽन्यतरविधिनान्तरीयकत्वात्प्रकारान्तरानुपपत्तिरिति वाच्यम्। स्त्रीपुंप्रकृत्योः परस्परप्रतिस्पर्धिनोर्निषेधे तदन्यस्य नपुंसकस्येव भावाभावान्यस्याज्ञानस्योपपत्तेः। अथ तत्र प्रमाणान्तरेण तृतीया प्रकृतिरुपलभ्यत इति मतं तर्हीहाप्यस्ति प्रमाणं प्रतीतिबाधान्यथानुपपत्तिरिति सन्तोष्टव्यम्। वस्तुतस्तु नात्रास्माकमत्यन्तमाग्रहोऽज्ञाने सर्वानुपपत्तेरलङ्कारत्वात्। तदुक्तम्—

"अविद्याया[2] अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम्।
यत्प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्॥" इति।
"सेयं भ्रान्ति[3]र्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी।
सहते न विचारं सा तमो यद्वद्दिवाकरम्॥" इति च।

इष्टसिद्धावपि[4]—

"दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम्।
कथञ्चिद्घटमानत्वेऽविद्यात्वं दुर्घटं भवेत्॥" इति।

तस्मात्सत्त्वेनासत्त्वेन सदसत्त्वेन वा सावयवनिरवयवोभयात्मकत्वेन वा भिन्नाभिन्नोभयरूपत्वेन वा निर्वक्तुमशक्यत्वेनानिर्वचनीयमज्ञानं सवितरि दिवान्धपरिकल्पितान्धकारवद्यत्किञ्चिदिति वदन्ति वृद्धा इति सिद्धम्॥

इदानीं यथानिरूपितमज्ञानमेव नास्तीति विवदमानं प्रतिबोधयितुं तत्रानुभवश्रुती प्रमाणयति—अहमज्ञ इत्यादिना। अनुभवस्यास्य ज्ञानाभावविषयत्वं प्रतिक्षिप्तम्। निर्विकल्पकघटितप्रतियोगिकस्य ज्ञानसामान्याभावस्य स्वात्मनि प्रत्यक्षायोग्यत्वाच्च। नच भावरूपमप्यज्ञानमात्मनि ज्ञायमाने न ग्रहीतुं शक्यते तस्य ज्ञानविरोधित्वादिति वाच्यं स्वप्रकाशसाक्षिचैतन्येन तस्य विरोधाभावात्। अन्तःकरणवृत्त्यैव तु विरोधादहमज्ञ इत्यहङ्कारगर्भस्य चोल्लेखस्य साक्षिप्रकाशिताज्ञानविषये स्फुटतरव्यवहारमात्रत्वाच्च न काचिदनुपपत्तिरिति भावः। देवस्य स्वयम्प्रकाशस्यात्मनः शक्तिं शक्तिवत्परतन्त्रां स्वगुणैः शुक्लादिभिः सत्त्वादिभिर्वा निगूढामालिङ्गितां ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्निति सम्बन्धः।

---

१. See परस्परविरोधे हि etc. in *Maxims* iii. २. *Bṛihadāraṇyakavārtika* (page 57) verse 181, modified in second line. See Notes. ३. *Naiṣkarmyasiddhi* iii. 66. ४. For other references to this work, see *Vedāntakalpataru* p. 51, and *Vivaraṇaprameya*, p. 225. The first line of the verse is found in *Saura Saṁhitā* iv. (Kaivalya-ratna, p. 110).

"अज्ञानेनावृतं[1] ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥"

"नाहं[2] प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ॥"

इत्यादिस्मृतिः । प्रत्यगात्मचैतन्यस्य ब्रह्मणो नित्यप्राप्तत्वेन स्वप्रकाशत्वेन चास्ति प्रकाशत इति व्यवहारपुष्कलकारणे सति नास्ति न प्रकाशत इति तद्विपरीतव्यवहारस्यात्मन्यावरणमन्तरेणानुपपत्तिः "श्रोतव्य"[3] इत्यादिविधिनात्मयाथात्म्यज्ञानाय श्रवणादिविधानानुपपत्तिश्चेत्यर्थापत्तिद्वयं चकारेण समुच्चीयते ॥६॥

ननु "अजामेकां",[4] "इन्द्रो[5] मायाभिः" इति श्रुतिभ्य एकत्वानेकत्वयोरज्ञाने विप्रतिपत्तौ कः समाधिरिति विवक्षायामाह—इदमिति । व्यष्टिर्विशेषः समष्टिः सामान्यम् । व्यवह्रियते श्रुत्यादिष्विति शेषः । अयं भावः । यो यदनुरक्तबुद्धिविषयो नियतः स तदात्मको यथा मृदनुरक्तबुद्धिविषयो घटो मृदात्मको दृष्टः । तथा सामान्यानुरक्तबुद्धिविषया विशेषाः सामान्यात्मका इति युक्तम् । सामान्यविशेषयोरत्यन्तभेदे गवाश्ववत्सामान्यविशेषभावानुपपत्तेः । भेदाभेदौ त्वेकस्मिन्नप्रामाणिकौ वस्तुनो द्वैरूप्यानुपपत्तेः । अभेदपक्षे तु कयाचिद्भेदकल्पनया सामान्यविशेषव्यवहारोपपत्तेः समुद्रतरङ्गादिवज्जलतरङ्गचन्द्रादिवद्वा । तथा चाज्ञानस्यैकस्यैव सतः सामान्यविशेषभावेनैकानेकत्वव्यवहारः श्रौतो न विरुध्यत इति । एतदेव दृष्टान्तैरुपपादयितुमुपक्रमते—तथाहीत्यादिना । "पुरश्चक्रे[6] द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्", 'रूपं[7] रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय" इति मन्त्रद्वयानुसारेणाज्ञानतत्कार्यावच्छिन्नोऽज्ञ।नतत्कार्यप्रतिबिम्बितो वा चिदात्मा जीवेश्वरभावं भजत इति मतद्वयमुपरुध्य दृष्टान्तद्वयोपादानमिति सर्वत्र वनवृक्षजलाशयजलकीर्तनाभिप्रायो बोद्धव्यः ॥

नानात्वेन इत्यादेरयमर्थः । अज्ञानं किं ब्रह्मनिष्ठमुत जीवनिष्ठम् । नाद्यो नित्यशुद्धत्वादिस्वभावविरोधात् । न द्वितीयोऽन्योन्याश्रयात् । तथाहि । अज्ञानमित्युक्ते कस्य किं विषयमित्याश्रयविषयसापेक्षताप्रतीतेर्न निराश्रयमज्ञानमस्तीति प्रतिपत्तुं शक्यम् । तस्य च जीवाश्रयत्वे जीवभावस्याप्यज्ञानाधीनत्वात्तिसद्धे जीवभावेऽज्ञानस्य साश्रयत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च जीवत्वसिद्धिरिति कथं नान्योन्याश्रयः । नन्वनादित्वादज्ञानजीवभावप्रवाहस्य बीजाङ्कुरवन्ना-

---

१. *Gītā.* v. 15. २. *Idem* vii 25. ३. *Bṛih* 2.4.5. ४. *Śvet.* vi. 5. ५. *Rigveda* 6. 47. 18. ६. *Bṛih.* 2.5.18. ७. *Rigveda* 6.47.18, and *Bṛih* 2.5.19.

न्योन्याश्रय इति चेन्मैवं क्रमभाव्यनेकबीजाङ्कुरव्यक्तिवदनेकाज्ञानजीवव्यक्तीनां सत्त्वे प्रमाणाभावात् । ननु "सता[1] सोम्य तदा सम्पन्नो भवति", "तद्धेदं तर्ह्य[2]व्याकृतमासीत्" इत्यादिश्रुतिभ्यः सुषुप्तिप्रलययोर्जीवस्य परमात्मैकभावापत्तिश्रवणात्पुनः प्रबोधसर्गयोर्जीवभावापत्तेरवगम्यमानत्वाच्च तदा तद्विभागहेतोः संस्काररूपस्याज्ञानस्यापि कल्प्यमानत्वात्कथं न बीजाङ्कुरन्यायः प्रामाणिक इति चेत्तत्किमिदानीं सुषुप्त्यादिकाले जीवस्य जीवत्वं नास्तीति विवक्षितम् । हन्त तर्हि कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गो मुक्तानामपि संसारित्वप्रसङ्गश्च दुर्वारः स्यादविशेषात् । किञ्च सुषुप्त्यादावज्ञानसद्भावे तस्य ब्रह्माश्रितत्वप्रसङ्गोऽसद्भावे सुप्तानां पुनरनुत्थानप्रसङ्गः । "स[3] इह व्याघ्रो वा सिंहो वा" इत्यादिसत्सम्पत्तिवाक्यशेषासङ्गतिप्रसङ्गश्चेत्यसमञ्जसमेतत् । अथाज्ञानजीवयोः स्वरूपेणैवानादितयाश्रयाश्रयिभावस्य नित्यसिद्धत्वान्नान्योन्याश्रय इति मतं तदपि न ब्रह्मण्यज्ञानाभावप्रसङ्गात् । नायमिष्टप्रसङ्गः "सोऽकामयत",[4] "तदात्मानं[5] स्वयमकुरुत" इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणि जगत्कारणे कामयितृत्वादेरज्ञानकार्यस्य श्रूयमाणत्वात् । न च दृष्टिगतपीतिम्नः शङ्खे समारोपवज्जीवगताज्ञानविक्षेपस्य कामयितृत्वादेस्तद्विषये ब्रह्मणि समारोपः श्रुत्या कीर्त्यत इति वाच्यम् । तथा सति जीवानामेव जगत्सर्गस्थितिलयोपादानत्वात् "सर्वं[6] खल्विदं ब्रह्म" इत्यादिब्रह्मसामानाधिकरण्यं जगतः श्रूयमाणमेकविज्ञानेनसर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं च पीडयेत । जीवस्य ब्रह्माभेदात्सर्वमेवोपपद्यत इति न कश्चिद्दोष इति चेत्तर्हि जीवपक्षपातं परित्यज्य ब्रह्मण एव जगत्स्रष्टृत्वादि यथाश्रुतं स्वीकर्तव्यम् । विना तस्याज्ञानाश्रयत्वं कूटस्थस्य न कामयितृत्वादीत्युक्तं तस्य च जीवाद्विभक्तस्यात्राज्ञानाश्रयत्वे तत्रापि स्यादन्योन्याश्रयः । ननु ब्रह्मणि जगत्कारणत्वादिनिर्वाहकमज्ञानं मायाशब्दवाच्यमन्यदेव जीवगतकर्तृत्वाद्यवभासहेतुभ्योऽज्ञानेभ्योऽविद्याशब्दवाच्येभ्य इति चेन्न । मायाविद्ययोः श्रुतिस्मृतिसूत्राभियुक्तवचनैरेकत्वस्य वृद्धैर्निरूपितत्वात् । अनिर्वचनीयत्वे सति तत्त्वावभासप्रतिबन्धविपर्ययावभासहेतुत्वस्य लक्षणस्य तुल्यत्वादविद्याभेदे च कल्पनागौरवदोषात् । एकाविद्यापक्षेऽप्यनन्तविक्षेपशक्तिकल्पनया जाग्रत्स्वप्नबन्धमोक्षरशनाभुजङ्गादिव्यवहारव्यवस्थोपपत्तेः । न चात्रापि कल्पनागौरवं समानं धर्मि[7]भेदकल्पनातो धर्मभेदकल्पने लाघवात् । इत्यास्तां विस्तरः ॥

---

१. *Chhā.* 6.8.1. २. *Bṛih.* 1.4.7. ३. *Chhā.* 6.9.2. ४. *Tait.* 2.6.1. ५. *Idem.* 2. 7. 1. ६. *Chhā.* 3. 14. 1. ७. Cf. "धर्मिभेदाद्धर्मभेदो लघीयानिति न्यायेन" in Ānandagiri on *Śāṅkar. bhāṣya* 2.4.6.

अतश्चिन्मात्रनिष्ठमज्ञानं तच्च जीवब्रह्मविभागहेतुर्ब्रह्मणो जगत्स्रष्टृत्वादेर्जीवस्य कर्तृत्वादेश्च हेतुरित्यङ्गीकर्तव्यम्। न च चिन्मात्रस्य स्वप्रकाशत्वादज्ञानाश्रयत्वविरोधः। जीवपक्षेऽपि तुल्यत्वादन्तःकरणपरिणामोपहितस्यैव चैतन्यस्याज्ञानविरोधित्वात्। न च ज्ञानवदज्ञानस्याप्येकाश्रयविषयत्वानुपपत्तिरावरकत्वेनापवरकस्थतमोवत्तदुपपत्तेः। तदुक्त[1]मभियुक्तैः—

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनी
निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो
नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥" इति।

तस्मादेकमज्ञानं चिन्मात्राश्रयविषयमिति स्थिते जीवावस्थायामेवाहमज्ञ इति स्फुटतरव्यवहारात्तदपेक्षया जीवगताज्ञानानामित्युक्तमिति। अनयैव दिशा

जीवाश्रया[2] ब्रह्मपदा ह्यविद्या तत्त्वविन्मता।

इति प्राचां वचनं योजनीयम्॥

ननु नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवानामेकाज्ञानोपाधिकत्व एकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गः इति चेन्नायं दोष एकस्यैव जीवत्वादितरेषां तद्दृष्टिविजृम्भितत्वेन ततोऽनतिरेकात्। तर्हि कोऽसौ जीवो यद्दृष्टिविजृम्भितं जीवान्तरमिति चेद्यः पश्यति स एव। अहं तु संसारिणमात्मानमन्यांश्च मद्विधान् जीवान्पश्यामीति चेत्तर्हि त्वमेव जीवास्त्वविद्यया वयमन्ये च जीवा बद्धा मुक्ताः सुखिनो दुःखिन इत्येवं विचित्राः कल्पितास्तवाब्रह्मसाक्षात्कारमविसंवादिताः प्रतिभासन्ते स्वप्न इवाप्रबोधम्[3]। जाते तु ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे सर्वमेव त्वद्दृष्टिविजृम्भितं त्वया सह मोक्षिष्यते त्वत्सुषुप्ताविवेति। इयांस्तु पुनर्विशेषः। सुषुप्तावस्त्यज्ञानं सर्वकार्यसंस्कारोपरञ्जितं पुनर्व्यवहारप्रवर्तकं मुक्तौ तु तस्य ज्ञानेन बाधितत्वात्पुनर्व्यवहाराभावः। इत्यलं प्रसङ्गागतप्रपञ्चेन॥ वनवृक्षयोर्जलाशयजलयोर्वा सामान्यविशेषभावो नास्तीति यद्यपि दार्ष्टान्तिकेन वैषम्यं तथापि समुदायसमुदायिनोरेकत्वे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यात्सर्वांशेन च साम्यस्याविवक्षितत्वान्न कश्चिद्दोष इति गमयितव्यम्। अज्ञानैकत्वव्यपदेशिनीं श्रुतिं पठति—अजामेकामिति। आदिपदात् "मायां[4] तु प्रकृतिं विद्यात्", "तर[5]त्यविद्यां विततां", "अक्षरात्परतः[6] परः"

१. *Saṅkṣepaśārīraka* 1.316. २. *Ved. Siddh. Muktāvalī.* ३. इव प्रबोधे। MQ. ४. *Śvet.* iv. 10. ५. See Notes. ६. *Muṇḍ* 2.1.2.

"तद्धेदं तर्ह्य[1]व्याकृतं", "तम[2] आसीत्तमसा गूढम्" इत्याद्येकवचनान्तश्रुत्यन्तरग्रहः ॥

एकमेवाज्ञानं समष्टिव्यष्टिभेदभिन्नं परिकल्प्य समष्ट्यज्ञानोपधाननिबन्धनं चैतन्यव्यवहारं वक्तुं समष्टिं विशिनष्टि—इयमिति। उत्कृष्टस्योपाध्यन्तराननुरक्ततयाप्रतिहतज्ञानात्मकस्य चैतन्यस्योपाधितया विशुद्धं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा तथाविधेयं समष्टिरित्यर्थः। समष्ट्यज्ञानोपहितचैतन्यस्य व्यपदेशभेदं दर्शयति—एतदिति। परमार्थतोऽसङ्गस्यापि चैतन्यस्याध्यासिकसम्बन्धसम्बद्धाज्ञानद्वारा सर्वावभासकत्वेन सर्वमर्यादाधारकसत्तारूपत्वेन सर्वजीवप्रवर्तकत्वेन च लब्धसर्वज्ञत्वादिगुणकस्य सदव्यक्तमन्तर्यामीश्वर इत्यादिव्यपदेशो भवतीत्यर्थः। उक्तेऽर्थे हेतुमाह—सकलेति। सकलाज्ञानं समष्टज्ञानम्। अवभासकत्वशब्दो विधारकत्वादेरप्युपलक्षणार्थः। सर्वविक्षेपसंस्कारवत्त्वादज्ञानस्य सत्कार्यवादाश्रयणाच्चाव्याकृताद्यवस्थास्वपि समष्ट्यज्ञानस्य सर्वज्ञत्वमिति द्रष्टव्यम्। उक्तव्यपदेशिकां श्रुतिमाह—यः सर्वज्ञ इति। सर्वज्ञः सामान्यतः सर्वविद्विशेषत इति भेदः। आदिशब्दात् "सदेव[3] सोम्येदम्", "एष[4] सेतुर्विधरणः", एष[5] त आत्मान्तर्यामृतः", 'महतः[6] परमव्यक्तं", "यतो[7] वा इमानि", "[8]यः परः स महेश्वरः" इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः। उपहितस्य व्यपदेशमुक्त्वोपाधेरपि तं सहेतुकमाह—अस्येयमिति। अज्ञानमिदंशब्दार्थः। आनन्दप्रचुरत्वमुपहितधर्मं आच्छादकत्वमज्ञानधर्मः। तदुभयाविवेकात्कारणमज्ञानमानन्दमयकोश इत्यर्थः। सर्वं आकाशादय उपरमन्तेऽस्मिन्निति सर्वोपरमोऽज्ञानम्। तादृग्भावात्सुषुप्तिर्महासुषुप्तिः प्रलय इति यावत्। यतः सर्वोपरमत्वमत एवेति योजना। स्थूलप्रपञ्चो विराट् सूक्ष्मप्रपञ्चो हिरण्यगर्भः ॥

एवं समष्ट्यज्ञानं साभासं सव्यपदेशं निरूप्य व्यष्ट्यज्ञानमपि सदृष्टान्तं तथा निरूपयति—यथा वनस्येत्यादिना। क्वैवमनेकत्वव्यपदेशोऽज्ञानस्येति तदाह—इन्द्र इति। इन्द्रः परमेश्वरः प्रकरणात्। स मायाभिर्मायाविक्षेपशक्तिभिर्विक्षिप्तेषु देहेन्द्रियान्तःकरणेषु प्रतिबिम्बितः पुरुरूपो बहुरूपः सन्नीयते प्रकाशत इति श्रुत्यर्थः। आदिशब्दात् "य[9]एको जालवानीशत ईशिनीभिः" इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः। एकस्मिन्नज्ञाने व्यष्टिसमष्टिशब्दप्रयोगे

---

१. *Bṛih.* 1.4.7. २. *Ṛik-Saṁhitā* 10.129.3. ३. *Chha.* 6. 2 1. ४. *Bṛih.* 4. 4. 22. MPQ. read विधारणः. ५. *Idem.* 3. 7. 3. ६. *Katha.* iii. 11. ७. *Tait.* iii. 1. ८. *Mahānāra.* x. 8. ९. *Śvet.* iii. 1.

निमित्तमाह—अत्रेति । अज्ञानं सप्तम्यर्थः । व्यस्तव्यापित्वेन कार्योपाधि-जीवव्यापित्वावभासेन व्यष्टिताव्यपदेशः । समस्तव्यापित्वेन कारणोपाधि-सर्वज्ञाविभक्तसर्वव्यापित्वेन समष्टिताव्यपदेश इत्यर्थः निकृष्टोपाधित-येति । ज्ञानप्रतिबन्धकावरणवान् जीवो निकृष्टस्तस्योपाधितयेत्यर्थः । मलिनं रजस्तमोभ्यामभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा तथा । रजस्तमसोः स्वातन्त्र्येण प्रतिबिम्बोद्ग्राहकत्वायोगादिति भावः । एतदुपहितं व्यष्ट्यज्ञानोपहितम् । एकाज्ञानावभासकत्वात् । अज्ञानैकदेशावभासकत्वादिति यावत् । व्यष्ट्य-ज्ञानोपहितस्य प्राज्ञशब्दवाच्यत्वे कारणमाह—अस्येति । अस्य जीवस्या-स्पष्टोपाधितया रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्वप्रधानव्यष्टचज्ञानोपाधिकत्वेन हेतु-नातिप्रकाशकत्वाभावात्प्राज्ञशब्दवाच्यत्वमित्यर्थः । प्रायेणाज्ञः प्राज्ञ इत्युक्तं भवति । पूर्ववदुपहितस्य व्यपदेशमुक्त्वोपाधेरप्याह—अस्यापीति । अपिशब्द ईश्वरोपाधिदृष्टान्तार्थः । अहङ्कारादेः सुषुप्त्याद्यवस्थायां संस्कारावशेषेण स्थितस्य कारणत्वादित्यर्थः । आनन्दप्रचुरत्वादेवेत्येवकारः कोशवदाच्छाद-कत्वादिति हेत्वन्तरसमुच्चयार्थः । यद्वा आनन्दप्रचुरत्वाद्धेतोरेवेति भिन्नक्रमः । तस्मिन्पक्षे कोशवदाच्छादकत्वादित्यनुषञ्जनीयम् । सर्वशब्दो जाग्रत्स्वप्नविषयः । शेषमतिरोहितार्थम् ॥७॥

"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति"[1] इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्राज्ञस्येश्वर-सम्पत्त्यवगमात्प्राज्ञेश्वरयोरेकत्वं तदवस्थयोरप्यव्याकृतसुषुप्त्योरेकत्वं सिद्ध-वत्कृत्यानयोस्तदवस्थापन्नं भोगं दर्शयति—तदानीमिति । तयोरप्यवस्थयो-र्जीवावच्छेदकस्य व्यष्टचज्ञानस्य केनापि रूपेण स्थितत्वादेतावित्यादिद्वि-वचनोपादानं सर्वात्मनैक्ये पुनरुत्थानानुपपत्तेः । आनन्दं स्वरूपानन्द-मनुभवतः । आनन्दशब्दोऽज्ञानतत्साक्षिणोरप्युपलक्षणपरः । तदानीमख-ण्डात्मस्वरूपचैतन्येनैवानन्दाद्यनुभवेऽभ्युपगम्यमाने स्वरूपस्य नित्यत्वात्त-ज्जन्यसंस्काराभावेनावस्थान्तरे स्मरणरूपपरामर्शानुपपत्तेस्तदनुकूलमुपाधि-विशेषं कल्पयति—अज्ञानवृत्तिभिरिति । अन्तःकरणादेरप्यज्ञानकार्यत्वेन तदात्मकत्वात्तदभिप्रायोऽज्ञानशब्दो माभूदिति विशिनष्टि—अतिसूक्ष्मा-भिरिति । दुर्लक्ष्यत्वमतिसूक्ष्मत्वम् । तासां वृत्तीनां जडत्वात्कथं ताभि-रानन्दाद्यनुभव इत्यत आह—चैतन्येति । चैतन्यव्याप्ताभिरित्यर्थः । तथा च वृत्तिविनाशात्तद्विशिष्टचैतन्यस्यापि विनाशात्संस्कारजन्यं स्मरणमवस्था-न्तरे सम्भवतीति भावः । तत्र प्रमाणमाह—आनन्दभुगिति । चेतोमुखश्चैतन्य-दीप्ताज्ञानवृत्तिप्रधानः । आदिशब्दात्—

---

1. *Chha.* 6.8.1.

"सुषुप्तिकाले[1] सकले विलीने
तमोभिभूतः सुखरूपमेति ॥"

इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः । तत्रैवानुभवमपि प्रमाणयति—सुखमिति । न चायं सुखपरामर्शो दुःखाभावविषयस्तस्य तत्राननुभूतत्वात्तदनुभवसामग्र्याश्च निरूपयितुमशक्यत्वात् । विस्तृतं चैतद्वृद्धैरित्युपरम्यते सङ्ग्रहाधिकारात् । उक्तोपाध्योस्तदुपहितयोश्च प्राक्सिद्धवत्कृतमभेदं विशदयति—अनयोरिति । प्राज्ञेश्वरयोरभेदे श्रुतिं प्रमाणयति—एष सर्वेश्वर इति । आदिपदात् "अथ[2] य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः ॥८॥

प्राज्ञेश्वरात्मकस्य चैतन्यस्योपहितत्वेऽनुपहितं चैतन्यमन्यदेवेत्यर्थादुक्तेः किं तदित्यपेक्षायां तत्स्वरूपसंज्ञे दर्शयति—वन° इति । आधारश्चासावनुपहितश्चासावाकाशश्च स तथा तद्वदिति यावत् । यद्यप्याकाशस्य वनाश्रयत्वं जलाशयाश्रयत्वं वा नास्ति तदनारम्भकत्वात्तथाप्यवकाशमन्तरेण तयोः स्थित्यनुपपत्तेस्तदाधारत्ववचनमिति द्रष्टव्यम् । अस्य चैतन्यस्य तुरीयत्वं वक्ष्यमाणविश्वाद्यपेक्षयेति द्रष्टव्यम् । तत्र प्रमाणमाह—शिवमिति । आदिपदात्—

"त्रिषु[3] धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥"

इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः । अध्यारोपेण व्यासक्तचित्ततया प्रकरणार्थविस्मरणं माभूदिति प्रसङ्गात्तमाह—इदमेवेति ॥९॥

एवमवस्थाभिमानिसहितमज्ञानं सविभागं सप्रपञ्चं निरूप्येदानीं तत्कार्याध्यारोपं क्रमेण निरूपयिष्यंस्तदुपयोगित्वेनाज्ञानगतं सामर्थ्यं तावन्निरूपयति—अस्याज्ञानस्येति । तत्रावरणशक्तिं सदृष्टान्तामुपपादयति—आवरणेति । यद्यप्यज्ञानस्य मूर्तत्वामूर्तत्वाभ्यामनिर्वाच्यत्वान्न परिच्छिन्नत्वं तथापि परिच्छेद्यापेक्षयाल्पत्वमात्रं विवक्षितमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम् । बुद्धिपिधायकतयेत्यत्र बुद्धिशब्देन तदनुरक्तं चैतन्यं लक्ष्यते बुद्धेरज्ञानकार्यत्वेन तदावृतत्वानुपपत्तेः । निरूपितेऽर्थे हस्तामलकाचार्यसम्मतिमाह—तदुक्तमित्यादिना । उक्तामावरणशक्तिं तत्कार्यद्वारा बुद्धिमारोहयति—अनयेति । अधिष्ठानस्वरूपविशेषावरणवशेन विपरीतार्थसम्भावना भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथा स्वाज्ञेनेति । विक्षेपशक्तिं सदृष्टान्तामाह—विक्षेपेति । अत्राप्याचार्यान्तरसम्मतिमाह—तदुक्तं—विक्षेपेति । आवरणविक्षेपशक्तिद्वयविशिष्ट-

---

१. *Kaivalya* 13. २. *Chha*. 8. ३. 4. ३. *Kaivalya*. 18.

मज्ञानं कूटस्थासङ्गाद्वयचैतन्यात्मनो जगत्कारणत्वोपाधिरिति भावः। तदुक्त[१]-मभियुक्तैः—

"आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं
जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगा-
दात्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन॥" इति।

नन्वेवंविधाज्ञानोपाधिकस्येश्वरचैतन्यस्य यज्जगत्कारणत्वं तन्निमित्तत्वं स्यादुपादानत्वं वोभयं वेति जिज्ञासायामाह—शक्तिद्वयवदिति। स्वप्रधानतया कूटस्थचैतन्यस्वरूपावभासितया स्वोपाधिप्रधानतया उपाध्युपरक्तसत्तास्फूर्ति-रूपतयेति भेदः। एकस्योभयविधकारणात्मकत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति। लूतो-र्णनाभिः। तन्तुरेव कार्यं तन्तुकार्यम्। यथा लूता तन्तुनिर्माणे प्रसिद्धकार्पा-सतूलकाष्ठयन्त्रादिसहायमनपेक्ष्यैव तन्तूनातानवितानात्मकं च तत्कार्यं जालरूपं सृजत्येवमीश्वरः प्राक्सृष्टेरेक एवाद्वितीयोऽसहाय एव स्वमायाशक्त्यावेशमात्रेण लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदिति भावः। तथा च श्रुतिः—"[२]यत्तदद्रेश्यम-ग्राह्यम्" इत्युपक्रम्य—

"यथोर्णनाभिः[३] सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥" इति।

न्यायोऽपि[४]—"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" इति॥१०॥

तदेवं चैतन्यस्य जगत्कारणत्वं प्रपञ्च्य ततः कार्योत्पत्तिक्रमं दर्शयति—तमः प्रधान° इति। तमसः प्राधान्यनिर्देशाद्रजःसत्त्वयोरपि तत्र मात्रया वृत्तिर्द्रष्टव्या। उक्तभूतसृष्टिक्रमे प्रमाणमाह—तस्मादिति। नन्वाकाशं नोत्पद्यते निरवयवद्रव्यत्वादात्मवदिति चेन्न। उदाहृतश्रुतिबाधितविषयत्वे-नानुमानानुत्थानात्प्रत्यनुमानविरोधाच्च। तथाहि। आकाशमुत्पद्यते महत्त्वे सति भूतत्वान्महापृथिव्यादिवत्। न चाश्रयासिद्धो हेतुराश्रयस्याकाशस्यो-भयवादिसिद्धत्वात्। न च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधनिबन्धनात्याश्रयासिद्धता हेतोः। धर्मिग्राहकप्रमाणेन शब्दाश्रयत्वेनाकाशाख्यधर्मिमात्रसिद्धावपि तद्गतनित्यत्वादेस्तेनासिद्धेः। न च स्वरूपासिद्धा भूतत्वमहत्त्वयोः पक्षे सम्प्रतिपत्तेः। नापि व्याप्यत्वासिद्धो निरुपाधिकत्वात्। न च° मूर्तत्वसा-

१. *Saṅkṣapaśārīraka* i 20. २. *Muṇḍ.* 1.1.6. ३. *Idem.* 1.1.7. ४. *Brahmasūtra* 1.4.23.

वयवत्वरूपवत्त्वादेरुपाधित्वं शक्यं गुणकर्मणोः साध्याव्याप्तेः। भूतत्वद्रव्यत्व-सामान्यवत्त्वादेश्च साधनव्यापकत्वात्। अत्र द्रव्यत्वव्यतिरिक्तावान्तरजाति-मत्त्वमुपाधिरिति चेन्न, प्रध्वंसेन साध्याव्याप्तेः। तस्योत्पत्तिमत्त्वेऽपि जात्या-श्रयत्वाभावात्। न साध्यस्योत्पत्तिमत्त्वस्य भावधर्मिकत्वान्न प्रध्वंसे प्रसक्तिरिति वाच्यमुत्पत्तिमात्रस्यैवाकाशे साध्यत्वात्। अन्यथा विप्रतिपत्त्य-विषयाणां द्रव्यत्वादीनां धर्मिगतानां साध्यताप्रसङ्ग इत्यनुमानाकौशल-मापद्येत। न चान्यः कश्चिदुपाधिरुत्प्रेक्ष्यते। अविभुत्वं त्वाकाशेऽपि वेदान्तिनः समानं "ज्यायानन्तरिक्षात्"[१], "येनावृतं[२] खं च दिवम्" इत्या-दावात्मापेक्षयाकाशस्य न्यूनपरिमाणत्वश्रवणात्। अतो न तं प्रति तस्यो-पाधित्वम्। नापि विरुद्धः साध्यविपर्ययाव्याप्तेः। नापि साधारणानैकान्तिको विपक्षाप्रवेशात्। नाप्यसाधारणः सपक्षगामित्वात्। नापि कालातीतो बाधकप्रमाणानिरूपणात्। न चोक्तानुमानं बाधकमिति वाच्यं तस्य नर-शिरःकपालशुद्धतानुमानवदागमबाधितविषयत्वस्योक्तत्वात्। न च श्रुतेरा-काशाभिव्यक्तिमात्रार्थत्वान्नोत्पत्त्यर्थतेति वाच्यम्। सिद्धे चानुमानस्याबा-धितविषयत्वेन प्रामाण्ये श्रुतेरन्यार्थत्वसिद्धिस्तत्सिद्धावितरसिद्धिरितीतरेत-राश्रयात्। किञ्च "[३]तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इति सकृच्छ्रुतः सम्भूतशब्द आकाशे साक्षात्सम्बध्यमानो गौणः स एव वाय्वा-दावनुषज्यमानो मुख्य इति महदिदं व्याख्यानकौशलं तार्किकपशोः। नापि सन्दिग्धानैकान्तिकता विपक्षव्यावृत्तेः स्फुटत्वात्। नापि प्रकरण-समता त्वदनुमानस्य दुर्बलत्वेनोभयोः समानबलत्वाभावात्। निरवयवद्र-व्यत्वस्य विनश्यदवस्थापन्ने पटे व्यभिचारात्। अवयवत्वात्यन्ताभावाधि-करणत्वं निरवयवशब्देन विवक्षितमिति चेन्न। अवयवशब्देन प्रदेशवि-वक्षायां सर्वस्याप्यवयविप्रदेशस्यावयवत्वेनोपक्षीणत्वादवयव्यभावप्रसङ्गात्। आश्रयविवक्षायामन्यतरासिद्धो हेतुः स्यादाकाशाश्रयस्य ब्रह्मणो ममेष्टत्वात्। तस्मात्त्वदनुमानं न प्रतिपक्षः। नापि प्रतिपक्षान्तरमुत्प्रेक्ष्यते। तस्मा-दनुमानेनाप्याकाशोत्पत्तेः सम्भावितत्वाच्छुष्कतर्कश्रद्धामनादृत्य श्रुत्युक्तमे-वाकाशजन्मेतरजन्मवच्छ्रद्धेयम्। अभ्युपगम्य चेदं परमाणूनामनुवृत्ति-मस्वं महत्त्वे[४] सतीति हेतुर्विशेषितः। तदनभ्युपगमे तु भूतत्वादित्येव हेतुः। तथा हि चतुर्विधाः परमाणव उत्पद्यन्ते मूर्तत्वाद्भूतत्वाद्वा पटादिवत् प न च मनसि मूर्तत्वहेतोरनैकान्तिकता तस्यापि पक्षतुल्यत्वात्। न च

---

१. *Chha*. 3. 14. 3. २. *Mahanara*. 1.3. ३. *Tait*. 2.1. ४. See page 96, line 22.

धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः सिद्धेऽपि तेन धर्मिस्वरूपे तद्गतनित्यत्वादेरसिद्धेः। न च परमाणूनामपि कार्यत्वे कारणानवस्थानान्न किमपि मूलकारणं जगतः स्यादिति वाच्यम्। ब्रह्मण एव जगन्मूलकारणस्य श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रसिद्धत्वात्। तथा दिक्कालावुत्पत्तिमन्तावचेतनभावत्वात्पटवत्। न चास्माकमविद्यायां व्यभिचारस्तस्याभावाभावविलक्षणत्वाभ्युपगमात्। अन्येऽपि हेत्वाभासाः पूर्ववदुद्धरणीयाः। न च सामान्यविशेषसमवायेषु व्यभिचारस्तत्र सामान्यस्य विचार्यमाणे ब्रह्मस्वरूपानतिरेकादचेतनत्वहेतोस्तत्राप्रवृत्तेः। तथाहि विशेषास्तावत्सामान्ये कल्पिता इति त्वविद्यावादे निरूपितम्। तथा च द्रव्यत्वादीनां सामान्यविशेषाणां सामान्यमात्ररूपतायां सत्तायामन्तर्भावः। सत्ताया अपि स्फुरणविरहितायाः क्वाप्यनुपलम्भात्स्फुरणमात्रत्वं युक्तम्। स्फुरणं च ब्रह्मैव "सदेव[1] सोम्येदं", "सत्यं[2] ज्ञानं" इत्यादिश्रुतेः। "ब्रह्म[3] तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद" इत्यादौ परब्रह्मस्वरूपातिरिक्तत्वेन ब्राह्मण्यादिजातिं विजानतो निन्दाश्रवणाच्च। तस्मान्न सामान्ये व्यभिचारः। विशेषसमवायौ तु खपुष्पकल्पौ। अनयोर्यथा खपुष्पकल्पत्वं तथा चिदानन्द[4]लहरीटीकायां प्रपञ्चितमस्माभिरितीहोपरम्यते। श्रुतयश्च भवन्ति प्रत्य[5]नुमानबाधिकाः। "[6]अणोरणीयान्" इति हि परमाणोरणीयः परमकारणं ब्रह्म दर्शयित्वा "[7]यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्" इति तैत्तिरीयश्रुतिस्तद्व्यतिरिक्तमणुमहच्चाविशेषेण प्रतिषेधति। "अस[8]तोऽधि मनोऽसृज्यत" "एत[9]स्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इति च तैत्तिरीयाथर्वणश्रुती मनस उत्पत्तिं स्पष्टमाचक्षेते। तथा "ज्ञः[10] कालकालो गुणी सर्वविद्यः", "सर्वे[11] निमेषा जज्ञिरे" इति श्वेताश्वतरतैत्तिरीयश्रुती कालस्यापि कार्यतामावेदयतः। "पुरुष[12] एवेदं सर्वं" इत्युपक्रम्य "दिशः[13] श्रोत्रात्" इति पुरुषसूक्तात्मिका श्रुतिर्दिशां पुरुषविकारत्वं सूचयति। वस्तुतस्तु प्राच्यादिव्यपदेशस्यादित्यगत्युपाधिना नभस्येव कल्पितत्वान्नाकाशातिरिक्ता दिगस्तीति गमयितव्यम्। न च ब्रह्माप्युत्पद्यते कारणत्वादाकाशवदिति वाच्यं

---

१. *Chhā.* 6. 2. 1. २. *Tait* 2. 1. 1. ३. *Bṛih.* 2. 4. 6. ४. Not mentioned in any of our Catalogues. ५. So MNR.—but P. and margin of Q. प्रत्यक्षानुमान°. See Notes. ६. *Tait. Ar.* 10 10. 1. ७. *Idem.* 10. 10. 3. ८. *Tait Bṛih.* 2. 2. 9. 10. ९. *Muṇḍ.* 2. 1. 3. १०. *Śvet.* 6. 2. ११. *Tait. Ar.* 10. 1. 2. १२. *Ṛik-Saṁhitā* 10 90. 2. १३. *Idem.* 14.

"अजो[1] नित्य" इत्यादिश्रुतिविरोधात् "असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः" इति न्याय[2]विरोधाच्च। एतेन जगदुत्पत्तिप्राक्काले ब्रह्मातिरिक्तं वस्तु नास्तीति दर्शितम्। अविद्यायाश्चात्मशक्तित्वेन ततः पार्थगर्थ्यायोगाज्जीवानां च तदा परमात्मनि सम्पन्नत्वात्तद्दृष्टानां च तदुपाध्यन्तःकरणनिष्ठानां तत्संस्काराविशेषाविद्यामात्रत्वेन पृथक्सत्त्वाभावात्। विस्तृतं चैतदाचार्यैर्वियदधिकरणादाविति विश्रम्यते। "आकाशा[3]द्वायुर्वायोरग्निः" इत्यादावाकाशादिभावमापन्नादविद्यासहायाद्ब्रह्मण एव वाय्वादीनामुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम्। "[4]तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत" इत्यादिश्रुत्यन्तरे तेजःप्रभृतेरपीक्षणपूर्वकमवादिस्रष्टृत्वश्रवणात्। अचेतनस्य चेक्षणानुपपत्तेः। न्यायोऽपि—"तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः" इतीममेवार्थं निर्णयति। एतेन प्रधाना[6]ण्वादिवादा निरस्ता वेदितव्यास्तेषां श्रुतिविरुद्धत्वान्न्यायविरुद्धत्वाच्च। न ह्यचेतनं चेतनानधिष्ठितं किञ्चित्कुर्वदुपपद्यते रथशकटादावदर्शनात्। अतो न प्रधानवाद आश्रयणीयः। तथा परमाणु[7]वादोऽपि। अण्वोर्द्वयोः संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वे तयोः सावयवतापत्तेरनित्यत्वप्रसङ्गः। तत्संयोगस्य व्याप्यवृत्तित्वे निरवयवयोरण्वोरेकस्मिन्नितरस्य सम्मितत्वात्प्रथिमानुपपत्तिस्तथा च तत्कार्यस्य द्व्यणुकस्यापि परिमण्डलत्वप्रसङ्गः। किञ्च द्व्यणुकारम्भसमये परमाणू कथञ्चिद्विक्रियेते न वा। आद्येऽनित्यत्वादिदोषापत्तिर्मृत्पिण्डादिवत्। द्वितीये परमाणुसमूह एव द्व्यणुकादिकार्यं स्यात्तृणतूलवत्। इत्यलं प्रपञ्चेन। प्रकृतमनुसरामः॥

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितं चैतन्यमाकाशादिकारणमित्युक्तं तत्कथमवगम्यते भूतकारणाज्ञाने तमःप्राधान्यमिति तत्राह—तेषु चेति। जाड्याधिक्यदर्शनादित्यत्राधिक्यशब्दं प्रयुञ्जानः सत्तास्फूर्तिपदत्वेन कार्येषु चैतन्यस्यापीषदनुवृत्तिं सूचयति। तथा चाहुस्तत्त्वदर्शिनः—

"अस्ति[8] भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥" इति।

वसिष्ठोऽप्याह[9]

"यदस्ति यद्भाति तदात्मरूपं
नान्यत्ततो भाति न चान्यदस्ति।
स्वभावसंवित्प्रतिभाति केवला
ग्राह्यं गृहीतेति मृषा विकल्पः॥" इति।

---

१. *Katha.* 2.18 २. *Brahmasutra* 2.3.9 ३. *Tait* 2.1.1 ४. *Chha.* 6.2.3. ५. *Brahmasutra* 2. 3.13. ६. See Notes. ७. *Idem.* 2.1.29 ८. *Vakyasudha* 20. ९. See Notes.

उत्पद्यमानेष्वाकाशादिषु वक्ष्यमाणकार्यानुरूपं गुणत्रयमुपलम्भयति—तदानीमिति। कारणस्याव्याकृतस्य ये गुणाः सत्त्वादयस्तेषां प्रक्रमेण तान् गुणानारभ्य यथाकार्यंक्रमं सत्त्वादिगुणाः सहैव कार्यैस्तेषूत्पद्यन्त इत्यर्थः। नन्वव्याकृतात्पञ्चतन्मात्राणि क्रमेण जायन्त इति स्मृतीतिहासपुराणेषु प्रसिद्धिस्तत्कथमाकाशादेरिहोत्पत्तिराम्नायत इति तत्राह—एतान्येवेति। एतान्येवाकाशादीनि सूक्ष्मभूतानि व्यवहाराक्षमाणि तन्मात्राणि शब्दादितावन्मात्रैकस्वभावान्यपञ्चीकृतानि परस्परमसंसृष्टानि चेति स्मृत्यादिषूच्यन्ते महर्षिभिरित्यर्थः। तदेवं भूताध्यारोपं श्रौतमनुक्रम्येदानीं भौतिकाध्यारोपं प्रतिजानीते—एतेभ्य इति ॥१२॥

प्रतिज्ञातैकदेशं विवृणोति—सूक्ष्मशरीराणीति। लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिङ्गानि तानि च तानि शरीराणि च शरीरप्रतिष्ठत्वाच्छरीरसाधनत्वाद्वा धर्मादिद्वारेणेति लिङ्गशरीराणीत्यर्थः। तथा च प्रयोगः। विमतानीन्द्रियाणि प्राणश्च स्वातिरिक्तस्वानुगतचैतन्याधिष्ठानपूर्वकप्रवृत्तयोऽचेतनत्वाद्रथादिवत् इति। श्रुतिश्च भवति—"प्राणस्य[१] प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः" इति, "[२]यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्" इत्यादिका च। के पुनः सप्तदशावयवा इति तानाह—अवयवास्त्विति। ननु कथं लिङ्गशरीरं सप्तदशावयवमिति निर्धार्यते। यावता पुर्यष्टकं[३] लिङ्गमाचक्षते सुरेश्वराचार्याः पञ्ची[४]करणवार्त्तिके-

"ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।
मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ॥
प्राणोऽपानस्तथा व्यान उदानाख्यस्तथैव च।
समानश्चेति पञ्चैताः कीर्तिताः प्राणवृत्तयः ॥
खं वाय्वग्न्यब्धरित्र्यश्च भूतसूक्ष्माणि पञ्च च।
अविद्याकामकर्माणि लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः ॥" इति।

अन्यत्र पुनरन्यादृशं वर्णितम्। भूतसूक्ष्मपञ्चकं कर्मज्ञानेन्द्रियपञ्चकद्वयं चतुर्वृत्तिकमेकमन्तःकरणं पञ्चवृत्तिक एकः प्राणश्चेति सप्तदशावयवा इति। अतः अयं निर्णय इति। उच्यते। न[५] चैतेषां पक्षाणां विकल्पोऽ-

१. *Brih.* 4.4.18. २. *Chha.* 8.12.4. ३. See Notes. ४. According to MS. 243 of 1882-83 in Deccan College Librdry, this consists of second line of verse 31, the first of verse 33, and verses 35 and 36. See Notes. ५. See Notes.

भ्युपेयते वस्तुनि तदयोगान्नापि समुच्चयस्तत्र प्रमाणाभावात्किन्त्विहोक्तस्य सप्तदशकस्यैव संक्षेपविस्तरभेदेन तथा तथा तत्र तत्र कथनम् । तथाहि । इहोक्तानां हि सप्तदशानामवयवानां भूतसूक्ष्माण्युपादानानि तदुपादानं चाविद्या । अतश्चोपादानोपादेययोरभेदान्नाविद्या भूतसूक्ष्मेभ्यः पृथग्विवक्ष्यते । भूतसूक्ष्माणि च लिङ्गशरीरेभ्यो न पृथगभिप्रेयन्ते । कामकर्मणोरप्यन्तःकरणवृत्तित्वेन तदाश्रितत्वेन च तदभेदान्न पार्थगय्यंविवक्षा । अतः पुर्यष्टकवार्त्तिकेन न विरोधः । तथा पक्षान्तरेऽपि भूतसूक्ष्माणि तत्कार्येभ्यः पृथक्कृत्यान्तःकरणप्राणयोश्च वृत्तिवृत्तिमतोरभेदं गृहीत्वा सप्तदशत्वं निरूपितम् । तथा च "सप्तदशः प्रजापतिः"[1] इति श्रुतेः प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य सप्तदशत्वावगमात्सप्तदशावयवमेव लिङ्गशरीरं मुख्यं ज्ञेयमिति । तदु-[2]क्तमभियुक्तैः—

"मुख्यं तु सप्तदशकं प्रथितं हि लिङ्गम् ॥" इति ।

ज्ञानसाधनानीन्द्रियाणि—ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि । तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकेन्द्रियत्वानि प्रत्येकं यथाक्रमं लक्षणानि । इन्द्रियाण्याहङ्कारिकाणीति[3] सांख्यास्तान्निकुर्वंस्तेषां भौतिकत्वं कथयति—एतानीति । कारणगुणेनोत्पन्नत्रिगुणानां भूतानां सत्त्वगुणावच्छिन्नेभ्योंऽशेभ्यो गुणोद्रेककृतभागेभ्यः श्रोत्रादीति जातानीत्यर्थः । बुद्धिमनसी लक्षयति—बुद्धिर्नामेति । निश्चयोऽध्यवसायः । इदमित्थमेवेति विषयपरिच्छेदः । सङ्कल्प इदं नीलमिदं पीतमिति विषयविवेचनम् । विकल्पस्तद्विपर्यय इति भेदः । नन्वन्तःकरणस्य चतुष्टयत्वप्रसिद्धेः कथमिह द्वयमेव गृहीतमित्यत आह—अनयोरेवेति । अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिश्चित्तम् । अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिरहङ्कारः । चित्तस्य बुद्धावन्तर्भावो विषयपरिच्छित्तिरूपत्वाविशेषात् । अहङ्कारस्य मनस्यन्तर्भावस्तस्यापि सङ्कल्पात्मकत्वाविशेषात् । एवं स्वरूपाभेदेऽपि विषयभेदात्क्वचित्क्वचिच्चित्ताहङ्कारयोर्बुद्धिमनोभ्यां पृथङ्निर्देशः । बुद्धेर्ह्य पूर्वो विषयश्चित्तस्य पूर्वानुभूतः । तथा मनसो बाह्य आभ्यन्तरश्च सर्वो विषयो यथायोगमहङ्कारस्य त्वनात्मोपरक्त आत्मैवेति । अतो विषयभेदेऽपि स्वरूपाभेदाद्युक्तोऽन्तर्भावः ॥

पूर्ववदेषां चतुर्णामप्यन्तःकरणभेदानां भौतिकत्वमाह—एते पुनरिति । उक्तानां ज्ञानेन्द्रियाणामन्तःकरणानां च भूतगतसात्त्विकांशकार्यत्वे हेतुमाह—एतेषां प्रकाशात्मकत्वादिति ।

"तत्र[4] सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।"

१. *Śatapatha* 6.2.2.3. २. *Saṅkṣepaśārīraka* iii, 19. ३. See Notes, ४. *Gītā*, xiv. 6.

इति स्मृतेः । सत्त्वकार्यभूतः प्रकाश इन्द्रियान्तःकरणेषूपलभ्यमानस्तेषां सत्त्वकार्यतां गमयतीत्यर्थः। निरूप्यमाणे लिङ्गशरीर उक्तैरवयवैः सिद्धमवान्तरभेदं कथयति—इयं बुद्धिरिति । बुद्धिग्रहणेनार्थान्मनोव्यावृत्तिरभिप्रेता । तदुपहितचैतन्यस्य च व्यपदेशभेदमाह—अयमिति । अयं विज्ञानमयकोशावच्छिन्नश्चिदात्मा जीव इत्युच्यत इत्यन्वयः । तस्य प्राज्ञात्मनो विशेषमाह—व्यावहारिक इति । व्यवहारमेव विशेषणान्तरेण व्यनक्ति—इहलोकेति । तत्र हेतुमाह—कर्तृत्वेति । तथा च श्रुतिः—

"विज्ञानं[1] यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च ॥" इति ।

कर्तृत्वादिकं चैतन्यात्मनो न वास्तवं किंत्वाभिमानिकमित्यभिप्रेत्याभिमानित्वेनेत्युक्तम् । तथा च श्रुतिः—"स[2] समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव" इत्याद्या । इवशब्देन व्यवहारस्याभासतां दर्शयति । तथा न्यायौ[3] च—"कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्", यथा च "तक्षोभयथा" इति च कर्तृत्वाकर्तृत्वयोर्व्यावहारिकपारमार्थिकत्वे व्यवस्थापयतः । पूर्ववन्मनःसम्बद्धमवान्तरभेदमाह—मनस्त्विति । कर्मसाधनानीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि । तानि विभजते—कर्मेन्द्रियाणीति । वचनादानगमनविसर्गानन्दसाधनेन्द्रियत्वं यथाक्रमं वागादीनां प्रत्येकं लक्षणम् । एतेषामपि पूर्ववद्भौतिकत्वमाह—एतानि पुनरिति ॥

ननु कथमिन्द्रियाणां भौतिकत्वं निर्दिश्यते यत एषां भूतयोनेः परमकारणादेवोत्पत्तिः श्रूयते । "[4]एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इति सत्यं श्रूयते । तत्रार्थक्रममेवाश्रित्य भूतभावमापन्नात्तस्माद्भूतयोनेरिन्द्रियोत्पत्तिराश्रिता । तथा च न्यायः[5]—"अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्" इति । न चैतेषां भौतिकत्वे प्रमाणाभावः "अन्नमयं[6] हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" इति श्रौतलिङ्गस्य प्रमाणत्वात् । न च वागादिष्विन्द्रियत्वमप्रसिद्धमिति वाच्यं "प्रज्ञया[7] वाचं समारुह्य वाचा हि सर्वाणि नामान्याप्नोति" इति कौषीतक्यादौ चक्षुरादिभिः सह वाचः समभिव्याहृतत्वात् । आथर्वणे च—"चक्षुश्च[8] द्रष्टव्यं च" इत्यादिना सविषयाणीन्द्रियाण्यनुक्रम्य "हस्तौ[9] चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च" इति सविषयाणां समभिव्याहृतत्वात् । एतानि चेन्द्रियाण्येकादशैव भवन्ति न न्यूनानि न नाधिकानि ।

---

१. *Tait.* 2. 5. 1. २. *Bṛih.* 4.3.7. ३. *Brahmasūtra.* 2. 3. 33,40. ४. *Mund.* 2.1.3. ५. *Brahmasūtra* 2.3.15 ६. *Chh.* 6.5.4. ७. *Kausi.* 3.6. ८. *Praśna* 4.8. ९. *Idem.*

"दशेमे[1] पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः" इति श्रुत्यनुरोधेन सिद्धान्तितत्वात्। अत्रात्मशब्दो मनोविषयः प्राणशब्द इतरेन्द्रियविषय इति भेदः। अणुत्वं चैषां परिच्छिन्नत्वे सति सूक्ष्मत्वलक्षणमभ्युपगन्तव्यं न तु परमाणुलक्षणत्वम्। तथा सति सर्वशरीरव्यापिकार्यानुपपत्तिप्रसङ्गात्। अपरिच्छिन्नत्वे चोत्क्रान्ति[2]गत्यागतिश्रुतिव्याकोपप्रसङ्गः। स्थूलत्वे चोत्क्रान्तिसमये बिलान्नि[3]र्गच्छन्त इव सर्पाः शरीरच्छिद्रेभ्यो निष्क्रममाणानीन्द्रियाणि प्रत्यक्षेणोपलभ्येरन्। न चोपलभ्यन्ते। तस्मादुक्तप्रकारेणाणूनीन्द्रियाणि। ननु "अग्नि[4]र्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" इत्यादिश्रुतेरग्न्यादिदेवतानामेव मुखादिस्थानेषु वागादीन्द्रियात्मना प्रवेशश्रवणात्कथमेतेषां भौतिकत्वमुच्यत इति चेन्नष दोषः - देवतानामप्याधिदैविकप्राणात्मनां भौतिकदेहविशिष्टचेतनानामेवैश्वर्ययोगादध्यात्मं वागादिरूपेण मुखादिष्ववस्थानस्येष्टत्वात्। तथा च भौतिकान्यपीन्द्रियाणि देवताशरीराणि चेति न विरुध्यन्ते। यद्वा इन्द्रियाण्युक्तलक्षणानि भौतिकान्येव देवतानां पुनस्तदधिष्ठातृत्वेन तच्छरीरतया तत्र प्रवेश एव "[5]अग्निर्वाग्भूत्वा" इत्यादावाम्नायत इति। तथा च [5]न्यायः—"ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्" इति। लिङ्गं च "स[6] एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति" इति तेजोमात्राणामिन्द्रियाणामुत्क्रान्तिसमये हृदयप्रवेशमुक्त्वा "स[7] यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति" इत्यादित्यपुरुषस्य चक्षुषोऽपक्रमणं दर्शयति। ये पुनर्मुख्यप्राणस्य वृत्तिभेदा वागादय इति वदन्ति तेऽप्यनयैव नीत्या निराकरणीयाः। "ते ह[8] वाचमूचुस्त्वं न उद्गाय" इत्युपक्रम्यासुरपाप्मविद्धत्वेन वागादीननुद्गातॄन्निर्धार्य समाप्य च वागादिप्रकरणम् "अथ[9] हेममासन्यं प्राणमूचुः" इति पृथगेव मुख्यप्राणस्य निर्देशात्। तथा सुषुप्तावपि वागादीनामुपसंहारो मुख्यप्राणस्य सवृत्तिकस्यास्ति जागरणमिति वैषम्यलिङ्गाच्च प्राणादिन्द्रियाणां भेदः। एवमादिन्यायकलापो द्वितीयेऽध्याये चतुर्थे पादे विस्तृतः। इह पुनर्वेदान्तसारत्वाद्ग्रन्थस्य वेदान्तविहिता न्याया लेशतो दर्शिता इति। तस्माद्युक्तमिन्द्रियाणां भौतिकत्वादिति स्थितम्॥

इदानीं वायुपञ्चकं विभजते—वायव इति। प्राग्गमनमग्रतो निःसरणम्। यद्यपि "प्राणो[10] हृदये" इति श्रुतेः, "हृदि प्राण" इत्यभिधानाच्च[11] हृदयस्थानः

---

१. *Brih.* 3.9.4. २. See Notes ३. *Idem* ४. *Ait* 2. 4. ५. *Brahmasūtra* 2. 4.15. ६. *Brih.* 4.4.1 ७. *Idem* ८. *Idem*. 1.3.2 ९. *Idem* 1.3.7. १०. *Tait Brāhmaṇa* 3.10.8.5 ११. See Notes.

प्राणस्तथापि नासाग्रे प्रत्यक्षमुपलभ्यमानत्वान्नासाग्रस्थानवर्तीत्युक्तम् । अधो नाभेरधस्तादगमनवान्मलापनयनव्यापारेण । पायुर्गुदं तत्स्थानवर्तीत्यर्थः । आदिशब्दादुपस्थग्रहः । तत्रापि मूत्ररेतोविसर्गस्यापानकर्मत्वात् । विष्वक्परितः सर्वतो गमनं विद्यते यस्य स तथा । प्राणापाननियमनकर्मण्यामग्न्युत्पादनादिवीर्यवत्कर्महेतुत्वादखिलशरीरवर्ती व्यान इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—"अथ[1] यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यान" इत्युपक्रम्य "[2]यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणानपानंतानि करोति" इति । यद्यपि "च[3]क्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य" इति श्रुतेरुत्क्रमणस्य चक्षुरादिद्वारेष्वनियमस्तथापि कण्ठसम्बन्धस्य प्रायेण नियतत्वात्कण्ठस्थानवर्त्युदानइत्युक्तम् । अशितादेः समं नयनात्समान इत्यर्थः ॥

मतान्तरमुत्थापयति स्वमतपरिशुद्धये—केचित्त्विति । तेषां लक्षणान्याह—नाग इत्यादिना । उद्गिरणं छर्दिः । उन्मीलनशब्दो निमीलनस्याप्युपलक्षणपरः । पोषणं पुष्टिः । अन्यत्प्रसिद्धम् । उत्थापितं मतं प्रत्याचष्टे—एतेषामिति । केचिच्छब्द औपनिषदविषयः । एतेषां नागादीनां प्राणादिष्वन्तर्भावादित्ययमर्थः । उद्गिरणं ह्यूर्ध्वमुखस्य वायोः क्रिया । ऊर्ध्वमुखस्य वायुरुदान इत्युक्तम् । तथा चोदानेनैवोद्गिरणस्यापि सिद्धौ नागस्य तत्कर्तुरुदानेऽन्तर्भावान्न ततः पृथक्त्वम् । उन्मीलनस्याङ्गचेष्टान्तर्गतत्वात्तस्याश्च व्याननिमित्तकत्वादुन्मीलनकर्तुः कूर्मस्य व्यानेऽन्तर्भावः । समानेनाशितपीतादीनां पाकेन रसादिभावमापद्य सकलशरीरदेशेषु तत्प्रवेशने कृते सत्येव क्षुधोत्पत्तेस्तत्कर्तुः कृकलस्य समानेऽन्तर्भावः । जृम्भणस्य निद्रालस्यादिहेतुकत्वान्निद्रालस्यादेश्च वातुलाद्यन्नोपजीवननिमित्तकत्वादन्नस्वीकरणस्यचापानकर्मत्वादपान एव परम्परया जृम्भणहेतोर्देवदत्तस्यान्तर्भावः । अपानाख्यस्यान्तर्मुखतया शरीरान्तः प्रविशतो वायोरन्नस्वीकरणहेतुत्वमैतरेयके समाम्नायते—"[4]तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत्" इति । रसलोहितमांसादिक्रमेण शरीरेऽन्नपरिणामे सत्येव पोषणापरपर्यायाः पुष्टेः सम्भवाद्रसादिनयनकर्तरि समाने धनञ्जयस्यान्तर्भाव इति । तथा च प्राणादीनामेव यथायथमुद्गारादिक्रियानिमित्ततयावस्थान्तरमापद्यमानानां नागादिसंज्ञाया अप्युपपत्तौ तत्त्वान्तरकल्पनं तेषां गौरवमप्रामाणिकमिति भावः । श्रुतौ च पञ्चानामेव प्राणादीनां तत्र तत्र श्रवणात्तद्विरुद्धा चेयं कल्पना । प्राणादयोऽपि मुख्यस्यैकस्य प्राणस्य वृत्तिविशेषा एव न तत्त्वान्तरभूताः । "प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन" इति बृहदारण्यके[5] वृत्तिमतः प्राणस्य निरु-

१. *Chha.* 1.3.3 २. *Idem.* 1.3.5 ३. *Brih.* 4.4.2. ४. *Ait* 3.10
५. *Brih.* 1.5.3.

सर्गानशब्दवाच्यस्य पृथङ्निर्देशात्। तथाच न्यायः[१]—"पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदेशात्" इति। तथा मुख्यप्राणोऽपि वायोर्बाह्यस्य सूत्रात्मरूपस्य विकारो न शरीरमध्ये नभोवद्वृत्तिलाभमात्रेणावस्थितो बाह्यवायुरेव। नापि वागादीनां सामान्यवृत्तिरूपा वा क्रिया। "एत[२]स्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुः" इतिश्रुतौ वायोरिन्द्रियाणां च प्राणात्पृथगेव निर्दिष्टत्वात्। तथा च न्यायः[३]—"न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्" इति। "अणुश्च" इत्यादिन्याय[४]वशादिन्द्रियवत्सूक्ष्मत्वादिकमपि प्राणस्यानुसन्धेयमिति सङ्ग्रहः।

प्राणादीनामपि पूर्ववदुपादानविशेषं सङ्कीर्तयति—एतदिति। उक्तानामेव कर्मेन्द्रियाणां प्राणादभिर्मिलितानां पूर्ववदवान्तरविशेषमाह—इदं प्राणादीति। प्राणादिपञ्चकस्य रजोंशकार्यत्वे लिङ्गमाह—अस्येति। उक्तं कोशत्रयमनूद्य तेषां प्रतिनियतां व्यवस्थां दर्शयति—एतेषु कोशेष्वित्यादिना। "योऽयं विज्ञानमयः[५] प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" इतिश्रुतेर्विज्ञानस्य चैतन्यं प्रत्यतिसन्निहितत्वाज्ज्ञानशक्तिमत्त्वम्। "कामः[६] सङ्कल्पो विचिकित्सा" इत्यादिश्रुतेः कामापरपर्यायाया इच्छाया मनोवृत्तित्वावधारणादिच्छाशक्तिमत्त्वं मनोमयकोशस्य। "स[७] यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः", "कस्मि[८]न्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यसि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति", "स[९] प्राणमसृजत" इत्यादिश्रुतेः प्राणमयकोशस्य क्रियाशक्तिमत्त्वम्। योग्यत्वादित्यस्यायमर्थः। विज्ञानमयस्य तु कर्तृत्वमुपपादितं मनोमयस्य करणत्वं विवेकसाधनत्वात्। आत्मेन्द्रियविषयाणां सन्निकर्षे विद्यमानेऽपि यदन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानभावाभावौ तन्मनोविवेकसाधनत्वात्करणपक्षपातीति युक्तं मनोमयस्य करणरूपत्वम्। तथा च श्रुतिः—"अन्य[१०]त्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्" इति, "तस्मादपि[११] पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति" इति च। न्यायश्च[१२] भवति—"नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वान्यथा" इति। तथा "तौ मिथुनं[१३] समैतां ततः प्राणोऽजायत" इतिश्रुतेः प्राणस्य वाङ्मनसयोर्मिथुनीभूतयोरुत्पत्तिश्रवणात्प्राणमयस्य कार्यरूपत्वं युक्तमिति। एवं सूक्ष्मशरीरस्यावयवान्सविशेषान्निरूप्यावयविनं निर्दिशति—एतत्कोशेति ॥१३॥

"लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य", "अनन्तं[१४] वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवाः"

१. *Brahmasutra* 2.4.12. २. *Muṇḍ.* 2.1.3. ३. *Brahmasūtra* 2.4.9. ४. *Idem.* 2.4.13. ५. *Bṛih.* 4.3.7. ६. *Idem.* 1.5.3. ७. *Chhā.* 8.12.3. ८. *Praśna.* 6.3. ९. *Idem.* 6.4. १०. *Bṛih.* 1.5.3. ११. *Idem.* १२. *Brahmasūtra* 2.3.32. १३. *Bṛih.* 1.5.12. १४. *Idem.* 4.4.6. १५. *Idem.* 3.1.9.

इत्यादिश्रुतिषु लिङ्गशरीरस्याप्येकत्वबहुत्वश्रवणात्तदेकत्वानेकत्वयोरप्यज्ञानवदेव व्यवस्थेत्यभिप्रेत्याह—अखिलसूक्ष्म° इति । अनयोस्तु व्यष्टिसमष्ट्योरेकत्वं स्पष्टमेव पठ्यते । "वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः" इति बृहदारण्यके[१] । समष्टिलिङ्गशरीराभिमानिनश्चैतन्यस्य व्यवहारसिद्धान् व्यपदेशविशेषानाह—एतत्समष्टीति । व्यपदेशत्रये निमित्तमाह—सर्वत्रेत्यादिना । सर्वत्रानुस्यूतत्वात्सूत्रात्मा । ज्ञानशक्तिमदन्तःकरणोपहितत्वाद्धिरण्यगर्भः । क्रियाशक्तिमदधिदैवतप्राणरूपत्वात्प्राणस्तादृगध्यात्मप्राणरूपत्वाद्वा । यद्वा ज्ञानक्रियाशक्तिमत्समष्टिप्राणेन्द्रियसमुदायात्मकं समष्टिलिङ्गशरीरं तदुपहितत्वाज्ज्ञानशक्तिप्राधान्येन हिरण्यगर्भः क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राण इति च व्यपदेश इति योजना । तथाच श्रुतिवचनानि—"वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेण" इति "हिरण्यगर्भः[३] समवर्तताग्रे", "हिरण्य[४]गर्भं जनयामास पूर्वम्" इति, "कतम[५] एको देव इति प्राण इति" चैवमादीनि । प्राण इति चोच्यते इति चशब्दात्कः प्रजापतिर्ब्रह्मेत्यादिव्यपदेशान्तराणि समुच्चीयन्ते । एवमुपहितस्य व्यपदेशभेदानुक्त्वोपाधेरपि तानाह—अस्यैवेत्यादिना । स्थूलप्रपञ्चो विराड्विज्ञानमयादिकोशत्रयं लिङ्गशरीरं सूक्ष्मशरीरमिति सम्बन्धः । मध्य[६]प्रदीपन्यायेनोत्तरत्रापि जाग्रद्वासनेत्यत्र कोशत्रयपदं सम्बध्यते । वासनामयत्वं चास्य श्रुतिराह—"तस्य[७] हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा [८]माहारजतं वासो यथा पाण्ड्वाविकम्" इत्यादि, "सकृद्विद्युत्तं" इत्यन्तेन । स्वप्नत्वं चास्याव्याकृतविराजोः सन्ध्यस्थानत्वादुपपन्नं "सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्" इति श्रुतेरविशेषाद् । यतो वासनामयोऽत एवेति योजना । "अस्य[१०] लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य" इत्याद्या, "स्वप्नेन[११] शारीरमभिप्रहत्य" इत्याद्या च श्रुतिः स्थूलशरीरस्य स्वप्ने लयं दर्शयन्ती तत्समष्टेर्महाप्रपञ्चस्यापि सन्धौ तं सूचयति । एवं समष्टिलिङ्गतदुपहितचैतन्ययोर्व्यपदेशानुक्त्वा व्यष्टिलिङ्गतदुपहितचैतन्ययोरपि तानाह—एतदिति । तैजसव्यपदेश्यत्वे हेतुमाह—तेजोमया° इति । तेजोमयत्वं वासनामयत्वं "स्वयं[१२] निर्माय स्वेन भासा" इति श्रुतौ भाःशब्देनान्तःकरणस्य वासनात्मनो

---

१. *Bṛih* 3.3.2. २. *Idem.* 3.7.2. ३. *Ṛik-saṁhitā* 10.121.1. ४. *Śvet.* 3.4. ५. *Bṛih.* 3.9.9. ६. "After the marner of a lamp placed in the middle of a door (and throwing light both inwards and outwards)". P. Occurs in Bhāshya on *Muṇḍ.* 1. 1. 3. See Notes. ७. *Bṛih.* 2. 3. 6. ८. महा° MNPQ. ९. *Bṛih.* 4. 3. 9. १०. *Idem.* ११. 4. 3. 11. १२. *Idem.* 4. 3. 9.

व्याख्यातत्वात् । अस्यापीति स्पष्टार्थः । "यो[1] वै प्राणः स वायुः" इति-श्रुतेः । समष्टिव्यष्टिलिङ्गयोस्तदवस्थयोरपि सन्ध्ययोरभेदं सिद्धवत्कृत्य तत्र तैजससूत्रयोर्भोगविशेषं निर्दिशति—एताविति । तदानीं स्वप्नावस्थायाम् । निद्रादिदोषदूषितस्यादृष्टादिसमुद्बोधितसंस्कारविशेषसचिवस्यान्तःकरणस्य याः संस्कारानुरूपा वृत्तयस्तादृगन्तःकरणसंसृष्टचैतन्यस्थाविद्याशक्तिविजृम्भित-विषयाकारास्ताभिः सूक्ष्मविषयान् जाग्रद्वासनामयानीषदस्फुटाननुभवत इत्यर्थः ॥

न स्वप्नः स्मृतिरपरोक्षावभासितत्वात् । नापि प्रत्यक्षप्रमा सम्प्रयोगाद्य-भावात् । न च सुषुप्तिः स्पष्टं विषयानुभवात् । नापि जागरितं तदुचित-देशकालनिमित्तानामसम्भवात् । तथा हि "यथा[2] केशः सहस्रधा भिन्नः" इत्यादिना केशसहस्रांशैर्नाडीरुपमीय "एताभिर्वा[3] एतदास्रवति" इति स्वप्नाय तादृशनाडीप्रवेशं दर्शयति श्रुतिः । तथा चातिसूक्ष्मासु नाडीषु स्वप्नं पश्यतो न नदीसमुद्रवनगिरिनगरीनिवेशोचितो देशोऽस्ति येन तत्र स्थितान्नद्यादीन्पश्येत् । ननु "बहिः[4] कुलायादमृतश्चरित्वा" इति श्रुतेर्बहि-रेव स्वप्नान्पश्यतीति चेन्न । तत्र बहिःशब्देन स्थूलशरीरोपरागाभावमात्रस्य विवक्षितत्वात् । अन्यथा तस्मिन्नेव शरीरे नियमेन पुनर्जागरणानुपपत्तेः । तथा च श्रुत्यन्तरं—"कुरु[5]ष्वहमद्य शयानो निद्राभिप्लुतः स्वप्ने पञ्चालान-धिगतश्चास्मिन्प्रतिबुद्धश्च" इति स्वप्नप्राप्तदेशान्तरात्पुनरागमनरहितस्यापि स्वप्नदेशस्थशरीरे जागरणं दर्शयति । अतो न तत्र जाग्रदुचितो देशः । नापि कालस्तदुचितः सम्भवति । मुहूर्तमात्रेऽपि संवत्सरशतानामनुभवात् । नाप्यु-चितं निमित्तं तत्र सम्भवति । तक्षदारुमृदाद्यभावेऽप्यकस्मादेव प्रासादादे-र्निष्पत्तिदर्शनात् । जाग्रदवस्थापन्नानां वस्तूनां स्वप्नेऽभावं दर्शयित्वा नूतनानां वासनात्मकानां निर्माणं दर्शयति श्रुतिः—"न[6] तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते" इत्यादिना । तस्मान्मा-यामय एव स्वप्न इति द्रष्टव्यम् । तथाच न्यायः[7]—"मायामात्रं तु कार्त्स्न्ये-नानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इति ॥

उक्तेऽर्थे प्रमाणमाह—प्रविविक्तभुगिति । आदिशब्दात् "तस्मादेष[8] प्रविविक्ताहारतर इवैव भवति" इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः । अत्रापीति स्पष्टार्थः । सूक्ष्मशरीरप्रपञ्चनमुपसंहरति—एवमिति ॥१४॥

---

१. *Bṛih.* 3. 1. 5. (योऽयं). २. *Idem* 4. 2. 3. ३. *Idem.* ४. *Idem.* 4. 3. 12. ५. See Notes. ६. *Bṛih.* 4. 3. 10. ७. *Brahmasūtra* 3.2.3. ८. *Bṛih.* 4.2.3.

पूर्वत्र प्रतिज्ञातानि स्थूलभूतानि प्रपञ्चयति—स्थूलं° इति। पूर्वोक्तानामेव भूतानां परस्परं व्यवहर्तृप्राणिनिकायव्यवहारनिर्वाहकतदीयधर्माधर्मापेक्षपरमेश्वरसान्निध्यादिनिमित्तापेक्षया विभागेन मिलितानां स्थूलतापत्तिः पञ्चीकरणमित्याह—पञ्चीकरणं त्विति। ननु कथमित्थं विथागेन पञ्चीकरणं निरूप्यते तत्र प्रमाणाभावादित्याशङ्क्याह—अस्येति। "सेयं[1] देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इतीक्षित्वा सा सदाख्या परमात्मदेवता सृष्टानां तिसृणां देवतानां तेजोबन्नात्मिकानां मध्य एकैकां देवतां त्रिवृतं त्रिवृतं त्रिरूपां त्रिरूपामकरोत्कृतवतीति त्रिवृत्करणश्रुतिः। सा पञ्चीकरणमप्युपलक्षयत्याक्षिपतीत्यर्थः। त्रिवृत्करणं नाम तेजोबन्नानां त्रयाणां मध्य एकैकं द्विधा समं विभज्य पुनरेकैकभागस्य द्विधा विभागं कृत्वा स्वस्वद्वितीयं स्थूलभागं परित्यज्यान्यदीयस्थूलभागयोरेकैकस्य भागस्य संयोजनम्।

अत्र केचित्प्रगल्भन्ते सम्प्रदायाध्वना पञ्चीकरणं यद्यपि स्थितं तथापि [2]युक्तिदुष्टत्वाद्वाचस्पतिमतं शुभमित्यादिना। तत्र युक्तिं चेत्थमाचक्षते गगनपवनयोः किल पृथिव्याद्यात्मत्वे रूपवत्त्वमहत्त्वाभ्यां चाक्षुषत्वं तयोः प्रसज्येतेति तत्र त्रिवृत्करणपक्षेऽपि तेजसः पृथिव्यात्मत्वे काठिन्यद्रवत्वाभ्यां विशिष्टतयोपलम्भप्रसङ्ग इति दोषसाम्ये शङ्कितेऽर्धभूयस्त्वान्न दोष इति परिहारस्य पञ्चीकरणपक्षेऽपि समानत्वेन दूषणोद्धारे व्यवहारमार्गप्राप्तपञ्चीकृतिर्मुधा पञ्चीकरणस्य कुत्राप्यश्रवणादिति। तत्रेदं वक्तव्यम्। किं पञ्चीकरणस्य व्यवहारमार्गसिद्धत्वादप्रामाण्यं किंवाश्रुतत्वादाहोस्वित्त्रिवृत्करणश्रुतिविरोधादिति। आद्येऽष्ट[3]काकरणादीनां शिष्टव्यवहाराणामप्रामाणिकत्वापत्तिः। द्वितीयेऽपि किं साक्षाच्छ्रवणाभावो हेतुरुत श्रुतार्थापत्त्यभावोऽपि। नाद्यः साक्षादश्रुतस्य प्रत्याख्याने परमापूर्वादीनामपि प्रत्याख्यानप्रसङ्गात्। न द्वितीयः श्रुतार्थापत्तेर्विद्यमानत्वात्। तथाहि छान्दोग्ये तेजःप्रभृतीनां त्रयाणां सृष्टिश्रुतौ तावच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धाकाशवायुसृष्टेरप्युपसंहरणीयत्वम्। वियद[4]धिकरणे तेजोधिकरणे[5] च निर्धारितमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाहान्यादिभिर्हेतुभिः। तथा च श्रुत्यन्तरैकवाक्यतया पञ्चानां भूतानां सृष्टिं प्रक्रम्य तेषां सूक्ष्मतयाऽव्यवहार्याणां व्यवहारसिद्धये त्रिवृत्करणं ब्रुवन्ती श्रुतिः पञ्चीकरणाभिप्राया चेन्न स्यात्तदा वाय्वाकाशयोः सूक्ष्मत्वानिवृत्तेरव्यवहार्यतापत्तौ सृष्टानां भूतानां व्यवहाराय त्रिवृत्करणोप-

१. *Chha.* 6,3.2. २. युक्तिदुष्ट° N. युक्तिदब्ध° M. युक्ति° P. ३. See Notes. ४. *Brahmasūtra* 2.3.1-7 ५. *Idem.* 2.3.10.

देशानुपपत्तिः केन वार्यते । न च वाय्वाकाशयोर्व्यवहार एव नास्तीति वाच्यम् । महान्वायुर्महन्नभ इति व्यवहारस्य सर्वजनीनत्वात् । ननु श्रुत्युक्तमित्येव त्रिवृत्करणं स्वीक्रियते न व्यवहारायेति चेन्न । त्रिवृत्करणवाक्ये स्वसम्बन्धिनः फलस्याभावात्फलवदात्मैक्यज्ञानार्थवादत्वे यथासृष्टिन्यायं त्रिवृत्करणं युक्तमर्धंजर[1]तीयस्यान्याय्यत्वात् ॥

ननु शाखान्तरे भूतद्वयसृष्टेः श्रुतत्वात्तत्परित्यागानुपपत्तेश्छान्दोग्यतैत्तिरीयादिश्रुत्योर्विरोधपरिहारायोपसंहारः क्रियते न तथा पञ्चीकरणं क्वचिच्छ्रुतमस्ति येन तन्न्यायोऽनुसरणीयः स्यदिति चेत्सत्यम् । तथापि न्यायानुसरणं युक्तम् । यथा त्रिसर्गश्रुतौ सृष्टानां भूतानां स्फुटतरव्यवहाररूपनामरूपव्याकरणोपायतया त्रिवृत्करणं श्रुतं तद्वद्भूतपञ्चकसर्गश्रुतावपि तथा नामरूपव्याकरणोपायः कश्चिदीश्वरस्येक्षितुर्युक्तः । स चोपायविशेषस्तस्यैवेश्वरस्य भूतयोनेः शाखान्तरे त्रिवृत्करणरूपः श्रुतस्तत्परित्यागेनान्यस्य कल्पनायां प्रमाणाभावात्तस्यैव पञ्चसर्गश्रुतावप्युपसंहारे प्राप्ते तस्य पञ्चीकरणार्थत्वमन्तरेण पञ्चानां भूतानां स्फुटतरव्यवहारोपायतानुपपत्तेर्युक्तं त्रिवृत्करणवाक्यस्य पञ्चीकरणोपलक्षणत्वमित्येतेन चरमः पक्षः प्रतिक्षिप्तः । त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणार्थत्वनिरूपणे कृते तेन पञ्चीकरणस्य विरोधासम्भवात् । श्रुत्यभिप्रायश्चैवं वर्णितो विद्वत्तमाचार्यैः—"आकाशस्य[2] सर्वावकाशतया सर्वव्यतिरेकाद्वायोश्च सर्वचेष्टाहेतुत्वेन सर्वाविनाभूतत्वात्तयोस्तेजःप्रभृतिष्वन्तर्भावं सिद्धवत्कृत्य त्रिवृत्करणं प्रयोगसौकर्यार्थं श्रुतिर्वर्णयाम्बभूव" इति । तस्मादस्ति पञ्चीकरणं प्रामाणिकमित्यलमतिनिर्बन्धेन ॥

ननु पृथिव्यादीनां भूतानां चेत्सर्वभूतात्मकत्वं तथा सति व्यवहारसाङ्कर्यप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—पञ्चानामिति । वैशेष्याद्विशेषभावात् भागाधिक्यात्तद्वादो नभः पवनस्तेजो जलं पृथिवीत्यादिव्यपदेशो भवतीति द्वितीयाध्याय[3]समाप्त्यधिकरणे न्यायेन निर्णयः कृतस्तेन न्यायेनाकाशादौ व्यवहारासाङ्कर्यं सिध्यतीत्यभिप्रायः । इदानीं भूतानां पञ्चीकृतत्वे लिङ्गं चाह—तदानीमिति । तदानीं पञ्चीकरणानन्तरमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते । स्फुटतयेति सर्वत्र योजनीयम् । एतदुक्तं भवति । आकाशादीनां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वेन स्वस्वकार्यापेक्षया व्यापकत्वात्कार्यांशसंवलितत्वेऽपि न कार्यगतगुणाश्रयतयाप्यभिव्यक्तिः किन्तु स्वस्वगुणाश्रयतयैव । तथा कार्याणां स्वकारणापेक्षयाल्पत्वात्तेषां कारणभागसम्मिश्रितानां कारणगुणाश्रयतयापि भवत्यभिव्यक्तिरिति । यथा च लोकेऽनुभवः । प्रचण्डशब्दो वायुः ।

१. See Notest २. Cannt trace this. ३. *Brahmasūtra* 2. 4. 20-22

प्रजल्पति ज्वाला । नदी संघुष्यति । स्फुटचमानः पाषाणः क्रोशतीत्यादि । स्पर्शादीनां तेजःप्रभृतिषु सद्भावोऽविवाद एव । न चैवमनुभवो भ्रान्तिर्व्यवहारदशायां बाधादर्शनात् । तथा च प्रतिनियताश्रया अपि शब्दादयो गुणा यथायथं भूतान्तरेष्वप्युपलभ्यमाना भूतानां पञ्चीकृतत्वं गमयन्तीति ॥१५॥

एवं भूतारोपं प्रपञ्च्य भौतिकारोपमाह—एतेभ्य इति । भूरादयः प्राणिनां कर्मज्ञानफलभोगस्थानविशेषा यथापाठक्रममुपर्युपरि वर्तमानाः सप्त भूमेरधोऽधश्च पाठक्रमेण वर्तमाना अतलादयः सप्तेत्येवं चतुर्दशश्लोकाः । एत एव स्वावरणभूतलोकालोकपर्वततद्बाह्यपृथिवी तद्बाह्यसमुद्रैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते । अस्य च परिमाणं श्रुतौ सङ्कीर्तितं—"[1]द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति तां समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति" इति । शरीराणां चातुर्विध्यं स्पष्टयति—शरीराणीति । यथोद्देशक्रमं शरीराणि लक्षयति—जरायुजानीत्यादिना ॥

ननु वैशेषिकाः प्रत्य[2]क्षाप्रत्यक्षवृत्तेरप्रत्यक्षत्वात्पञ्चात्मकत्वं न विद्यते इति वदन्तोऽप्रत्यक्षाभ्यां वाय्वाकाशाभ्यां सह पृथिव्यादिभिरारभ्यमाणानां शरीराणामप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गान्न पाञ्चभौतिकं शरीरमित्याहुस्तत्कथं पञ्चभ्यो भूतेभ्यश्चतुर्विधभूतग्रामस्योत्पत्तिरुच्यत इति चेदत्राहुः । अस्ति हि शरीरे सर्वेषामपि भूतानां कार्यसम्प्रतिपत्तिरवकाशव्यूहनपचनक्लेदनकाठिन्यानां सर्वजनानुभवसिद्धत्वात् । अतस्तत्कारणतया पञ्चापि भूतान्येकस्मिन्देहे सन्तीति स्थिते यदि तेषां भूतानां देहावयवत्वाभावो वृत्तिलाभमात्रतैव स्यात्तदा तदपगमानपगमाभ्यां देहस्योपचयापचयौ न स्याताम् । दृश्येते च तयोः सतोरुपचयापचयावतस्तन्तुपटयोरिवावयवावयवित्वमेव पञ्चभूतदेहयोर्युक्तम् । पार्थिवे कार्येऽपार्थिवानां भूतानां वृत्तिलाभमात्रत्वे तु तदुपगमापगमाभ्यां तस्योपचयापचयायोगात् । न हि वस्त्रस्यानारम्भकसलिलद्रव्यार्द्रीकृतस्य तदवस्थायामुपचयस्तदपगमे वापचयोऽस्ति तदायामविस्तारयोस्तदवस्थास्वदर्शनात् । तथाच जलदृत्योरपि[3] पावकपवनोपगमापगमाभ्यां परिमाणान्यथात्वं न दृश्यते । तथा च यदि भस्त्रादाविव पार्थिवे देहे भूतान्तरस्य वृत्तिमात्रता स्यात्तर्हि भस्त्रादिदेहयोरविशेषेण व्यूहनादीनां सत्त्वमसत्त्वं वा तुल्यवत्प्रसज्येत । अदृष्टवदात्मनः संयोगतज्जन्यप्रयत्नादिकारणान्तरस्याप्युभयत्र समानस्यापादयितुं शक्यत्वात् । न च प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तेः शरीरस्याप्रत्यक्षत्वं शङ्कनीयम् । प्रत्यक्षाप्रत्यक्षावयववृत्तीनामवयविनामप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । न च स्पर्शशून्यत्वादेकद्रव्यत्वाच्चाकाशस्यारम्भकत्वानुपपत्तिरिति

---

1. Bṛh. 3.3.2 2. See Notes. 3. °दृतो° P.

वाच्यमारम्भ[1]वादस्यानङ्गीकारादेकस्यापि दुग्धावयविनो दध्यारम्भकत्वदर्शनात्। न च दुग्धावयवैरिव दध्यारभ्यत इति वाच्यम्। तथा सति दधिदुग्धयोर्गन्धरसादिवैषम्यं न स्याद्दुग्धस्येव सतः परिणामो दधीत्यभ्युपगमे स्याद्गन्धादिवैषम्यम्। स्पर्शशून्यमपि द्रव्यं यथा गुणारम्भकं दृष्टं तथा द्रव्यारम्भकमप्यस्तु। श्रुतिरपि शरीरस्य सङ्कीर्णद्रव्यारब्धतां श्रावयति—"अन्न[2]मशितं त्रेधा विधीयत" इत्यादौ। याज्ञवल्क्योऽप्याह—

"पञ्च[3] धातून्स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः।" इति।

वस्तुतस्तु पञ्चानां भूतानां पञ्चात्मकत्वस्य दर्शितत्वादारम्भवादस्य निराकृतत्वाच्च [4]नात्रोदयनाद्युक्तदोषशङ्कावकाशोऽपीति गमयितव्यं तस्मात्सिद्धं शरीरं पाञ्चभौतिकमिति ॥१६॥

अत्रापीति स्पष्टार्थः। स्थूलसमष्टयुपहितस्य चैतन्यस्य व्यपदेशभेदानाह—एतत्समष्टयुपहितमिति। चकारात्पुरुषादिशब्दग्रहः। उच्यते। "[5]यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते", "सैषा[6] विराडन्नादी", "पुरुष[7] एवेदम्" इत्यादिश्रुतिभिरिति शेषः। तत्र हेतूनाह—सर्वनरेति। सर्वशब्दो विश्वपदपर्यायः। विश्वनराभिमानत्वाद्वैश्वानरः। विविधं राजमानत्वाद्विराट्। चकारात्पूर्णत्वात्पुरुष इति च द्रष्टव्यम्। उपहितस्य व्यपदेशानुक्त्वोपाधेरपि तानाह—अस्यैषेति। "अन्नं[8] वै विराट्" इतिश्रुतेरन्नविकारत्वम्। स्थूलभोगोऽतिस्पष्टो भोगः। एवं समष्टिस्थूलतदुपहितचैतन्ययोर्व्यपदेशभेदं दर्शयित्वा व्यष्टिस्थूलतदुपहितयोरपि तमाह—एतद्व्यष्टीति। व्यष्टिस्थूलशरीरोपहितस्य विश्वशब्दवाच्यत्वे हेतुमाह—सूक्ष्म इति। सूक्ष्मशरीरं कारणशरीरं तदपरित्यज्य स्थूलशरीरादौ तदपेक्षया स्थूलशरीरं लिङ्गशरीरं तदादिर्यस्य परमस्थूलशरीरस्येति [1]तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिस्तस्मिन्नवेष्टृत्वात्। तथा हि जीवस्य त्रय उपाधयः। सुषुप्त्यादौ बुद्ध्यादिसंस्कारोपरञ्जितमज्ञानमात्रमुपाधिः। स्वप्ने जाग्रद्वासनामयं लिङ्गशरीरमुपाधिः। जाग्रदवस्थायां तु सूक्ष्मशरीरसंसृष्टस्थूलशरीरमुपाधिः। तथा च पूर्वपूर्वोपाधिविशिष्टस्यैवोत्तरोत्तरोपाधिप्रवेशात्सर्वशरीरप्रवेष्टृत्वेन स्थूलभोगायतनाभिमानिनो विश्व इति संज्ञेति। यद्वा सूक्ष्मशरीरं लिङ्गशरीरं तदपरित्यज्य स्थूलशरीरं विराड्व्यष्टिस्तदादिर्यासां चक्षुरादिवृत्तीनां तत्तद्विषयाकाराणां च तत्प्रवेष्टृत्वादिति हेतुयोजना। स्थूलशरीरमपरित्यज्येति क्वचि-

१. *Pañchadaśī* xiii. 6, 7. See Notes. २. *Chhā.* 6.5.1. ३. *Yajñyavalkyasmṛiti* 3.72. ४. Udayanāchārya, a Naiyāyika. ५. *Chhā.* 5.18.1. ६. *Idem.* 4.3.8. ७. *Śvet.* 3.15. ८. *Tait. Brāhmaṇa* 1.6.3.4. (omits वै). ९. See Notes.

त्पाठे स्थूलशरीरे वर्तमानस्यैव सूक्ष्मशरीरकारणशरीरयोरप्यनुगतत्वादिति हेत्वर्थोऽनुसन्धेयः । सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद्विश्व इत्युक्तं भवतीति भावः। अस्यापीति पूर्ववत् । एषेति व्यष्टिरुच्यते । पूर्ववद्विश्ववैश्वानरयोरपि जाग्रत्स्थित्यवस्थापन्नं भोगविशेषं सप्रकारं प्रपञ्चयति—तदानीमित्यादिना । दिगादिपञ्चदेवतानियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन यथापाठक्रमं शब्दादिगन्धान्तान्स्थूलविषयाननुभवत इति प्रत्येकं योजनीयम् । अग्न्यादिदेवतापञ्चकनियन्त्रितेन वागादिपञ्चकेन वचनाद्यानन्दान्तांस्तथा चन्द्रादिदेवताचतुष्टयनियन्त्रितेन मनआदिचतुष्केण सङ्कल्पादिचैत्यान्तां[1]श्चतुरः । सर्वानेतानिति । यथायथं यथोक्तक्रमानुरोधेन सर्वानेतान्स्थूलभोगान्विषयाननुभवत इत्यर्थः । अत्रापि प्रमाणमाह—जागरित इति । आदिशब्दात् "स्थूल[2]भुग्वैश्वानर" इति वाक्यशेषग्रहः ॥

इदमत्र बोद्धव्यम् । जाग्रदवस्थायां हि प्रमातृप्रमाणप्रमेयव्यवहारा भवन्ति तत्र प्रमाणैर्योऽर्थं प्रमिणोति स प्रमाता येन प्रमिणोति तत्प्रमाणं यत्प्रमीयते तत्प्रमेयमिति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः[3] । तत्र यः प्रमाता जीवश्चेतनः स विषयं प्रमिण्वन् कया प्रत्यासत्त्या प्रमिणोतीति विचारणीयम् । आत्ममनइन्द्रियविषयाणां क्रमेण संयोगपरम्परयेति चेन्न । विषयसंयुक्ततत्संयुक्तेष्वपि संयोगपरम्परया युगपत्सर्वावभासप्रसङ्गात् । यावदिन्द्रियसम्बन्धस्तावदेव हि भासत इति नातिप्रसङ्ग इति चेन्नेन्द्रियसन्निकर्षस्यापीयत्तानवधारणात् । इन्द्रियसन्निकर्षानन्तरं योऽर्थः स्फुरति तावन्मात्रं सन्निकृष्यत इति चेन्न । इन्द्रियसन्निकर्षस्येयत्तावधारणात्स्फुरणस्य विषयनियमस्तस्मिन्सतीन्द्रियसन्निकर्षेयत्तावधारणमिति परस्पराश्रयात् । किञ्चोक्तसन्निकर्षस्य ज्ञानोत्पत्तिमात्रे क्लृप्तत्वात्तदनन्तरं तस्यावस्थाने कल्पनाभावान्न ज्ञानस्य विषयेण सह सम्बन्धः स्यात् । तथा च मयेदं विदितमिति स्वात्मनि सम्बन्धानुसन्धानाभावप्रसङ्गः । न चाश्रयद्वारा सम्बन्ध इति वाच्यम्; ज्ञानस्य सर्वगतात्माश्रयत्वे युगपत्सर्वविषयसम्बन्धात्सर्वावभासप्रसङ्गः । देहावच्छिन्नात्मप्रदेशाश्रितत्वे देहस्य बाह्यविषयासम्बन्धान्न बाह्यं किञ्चिदपि भायात् । ननु सम्बन्धाभावेऽपि ज्ञानज्ञेययोरुद्दिष्टे विषये ज्ञानमतिशयं जनयतीति नाव्यवस्थेति चेन्नानुद्दिष्टेष्वपि दुर्गन्धादिषु ज्ञानकृतातिशयदर्शनात् । अदृष्टवशात्किञ्चिदेव भासत इति चेन्न । तस्य दृष्टसामग्रीसम्पादकत्वेनान्यथासिद्धत्वादगतिकत्वाच्च । तस्मान्न किञ्चिदेतत् । अतो वक्तव्या जीवस्य विषयग्रहणव्यवहारे व्यवस्थेति । तदुच्यते । न तावदस्मन्मतेऽनुपपत्तिरस्ति यतो जीवस्य सर्वगतत्वासर्वगत-

१. So NQ; चेत्या° MR; चित्ता° P. २. *Māṇḍū* 3. ३. See अधिकरणसिद्धान्तन्याय in *Maxims* iii.

त्वपक्षयोरप्यन्तः करणकृता व्यवस्था सम्भवति। तथाह्यपरिच्छिन्नपक्षे तावदन्तःकरणमेव मनोबुद्धयादिशब्दवाच्यं प्रमातृत्वादिव्यवहारापादकम्। यतोऽविद्यावृततया सर्वत्राप्रकाशमानमप्यात्मचैतन्यमन्तःकरणसंसृष्टं सदवभासते दर्पणाद्रव्यसंसृष्टरविरश्मिवत्। तच्चान्तःकरणादृष्टादिसहायं विषयसंवेदनवेलायां तडागकुल्या[1]क्षेत्रगतोदकप्रवाहवद्देहतद्बाह्यदेशतद्गतविषयानभिव्याप्यावतिष्ठते। तत्र च तिसृष्वप्यवस्थास्वात्मचैतन्यं तदात्मनैवाभिव्यज्यते। तत्र देहमध्यान्तःकरणभागावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृसंज्ञां लभते। देहविषययोर्मध्ये दीर्घप्रभाकारेणेन्द्रियद्वारा निर्गतान्तःकरणभागावच्छिन्नं प्रमाणसंज्ञाम्। विषयमभिव्याप्य विषयाकारतयावस्थितान्तःकरणभागावच्छिन्नं प्रमेयसंज्ञाम्। इति प्रमातृप्रमाणप्रमेयव्यवस्थोपपत्तिः। एवमभ्युपगमे येन विषयेण सहेन्द्रियस्य सन्निकर्षो दूरे वान्तिके वावतिष्ठमानेन तत्रैव तदाकारमेवान्तःकरणं परिणमते नान्यत्र नान्याकारमिति च लभ्यते। तदनुरक्तचैतन्यात्मनश्चैकत्वान्मयेदं विदितमिति सम्बन्धावभासश्चोपपद्यते नान्यथा। परिच्छिन्नात्मपक्षेऽपि जीवत्वोपाध्यन्तःकरणस्य पूर्वोक्तप्रकारेणावस्थाभेदसम्भवे उपाध्यनुगामित्वादुपहितस्य स्वोपाध्यन्तःकरणं यद्यदात्मनावतिष्ठते तत्तदात्मना प्रत्यगात्मचैतन्यमप्यवभासमानं ग्राह्यग्रहणग्राहकभेदव्यवस्थामनुभवत्यग्निरिवायःपिण्डादिसमारूढ इत्यनवद्यम्। न चेयं कल्पना तार्किककल्पनावत्पुरुषबुद्धयुत्प्रेक्षामूला किन्तु श्रुतिमूला। तथा च श्रुतयः—"स[2] समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव सधीः[3] स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति", "नव[4]द्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः", "आसीनो[5] दूरं व्रजति", "मनोमयो[6] विज्ञानमय" इत्यादयः। उक्तं च भगवत्पादैः सर्वश्रुत्यर्थसङ्ग्रहे [7]दक्षिणामूर्तिस्तोत्रे—

"नानाछिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरं
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्पन्दते।
जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्तं जग-
त्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥"

युक्तिरपि मनसो बाह्यविषयदेशगमनाभावे इन्द्रियसन्निकर्षपरम्परया देहान्तरे च विषयाकारतास्वीकारे बहिरेतावति दूरेयं विषयो मयोपलब्ध

---

१. See Notes. *Bṛih.* 4.3.7. २. This is the reading of the Mādhyandina recension. The Kāṇva has स हि. ३. *Svet.* 3.18. ५. *Katha.* 2.21. ६. *Bṛih.* 4.4.5. ७. Verse 4. See बहुछिद्रघटप्रदीपन्याय in *Maxims* ii (2nd edn).

इति प्रतिसन्धानं न स्यात् । अनेकायामविस्तीर्णदेशतन्निष्ठरथगजाद्याकारभावस्यान्तर्हृदयेऽनुपपत्तेः । न च स्वप्नवदुपपद्यत इति वाच्यम्; स्वप्नस्य मायामयस्योक्तत्वात् । जाग्रदपि मायामयमेवेति चेत्सत्यं तथापि स्वप्नाद्व्यवहारभेदसिद्धये तयोः कियदप्यस्ति वैषम्यं इति प्रमातरि बाध्यमानत्वाबाध्यमानत्वाभिमानादिलक्षणम् । नन्वखण्डब्रह्माकारा वृत्तिरन्तरेव जायत इति चेद्बाढं सा हि देहाद्यावरणमुपमर्दयन्ती जायते बाह्यविषया तु नैवमिति वैषम्यं स्यात् । किञ्च यदि विषयेन्द्रियसम्बन्धमात्रमन्तःकरणस्य विषयाकारताहेतुस्तदा दूरवर्तिविषयगतपरिमाणरूपसंख्यादीनामपि तदाकाराकारितेऽन्तःकरणे यथावदवभासप्रसङ्गः । न च दूरलक्षणाद्दोषात्तथा नावभासत इति वाच्यम् । तस्येन्द्रियसम्बन्धमात्रे प्रतिबन्धकत्वाभावात् । ननु तवापीन्द्रियसंसृष्टाकारता मनस इति स्थिते कथं दूरस्थाविषयेयत्ताद्याकारता मनसो न भवेदिति चेन्मैवं मम तु मनसो बहिर्[1]स्वातन्त्र्याद्यावद्भिरवयवैरवयविभिर्वा चक्षुःसन्निकर्षस्तावन्मात्राकारमेव मनः परिणमत इति श्लिष्यते । तव तु पदार्थसन्निकृष्टेन्द्रिये सति तद्गतभूयस्त्वाल्पत्वदृढत्वादृढत्वविशेषानादरेऽप्यन्तस्तदाकारवृत्त्युदयोपपत्तेर्विषयेयत्तादेरपि स्फुरणं प्रसज्येतेति वैषम्यात्तस्मादस्ति प्रत्यक्षव्यवहारे बाह्यमनोवृत्तिर्विषयाकारेति स्थितम् । परोक्षव्यवहारे तु विशिष्टशब्दलिङ्गादिबलनिबन्धनात्तत्तदर्थाकारा धीरन्तरेव समुन्मिषति विषयसत्तामात्रस्यैव तत्र स्फुरणात्त[2]द्गतविशेषादेरस्फुरणाच्चेति दिक् । तथा च स्वप्नावस्थायामात्मा बुद्ध्युपाधिः स्वप्नदर्शनहेतुकर्मक्षये जागरितमागच्छन्पूर्वगृहीतेषु करणेषु पुनः स्वस्वगोलकयानेषु तयैव बुद्ध्या प्रसारितेषु सत्सु स्वयं स्वयं तद्बुद्ध्यनुगतस्तत्तद्गोलकादिदेशं गच्छन्स्वोपाध्यन्तःकरणेन्द्रियसचिवस्तत्तदिन्द्रियविषयाननुमेयांश्च स्थूलान् व्यावहारिकान्पदार्थाननुभवति । तदिदमस्य जागरितम् । तदुक्तम्[3]—"इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितं" इति । अयमेव विश्ववैश्वानरात्मनः स्थूलभोग इति । अत्राप्यनयोः स्थूल° इत्यादि पूर्ववत् । स्थूलप्रपञ्चाहयासं सावस्थमुपपादितमुपसंहरति—एवमिति ॥१७॥

उक्तं प्रपञ्चत्रयं तदुपहितचैतन्यत्रयं च पूर्ववत्सदृष्टान्तमेकीभावमापादयति—एषामित्यारभ्य आभ्यामित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । स्पष्टार्थोऽयं ग्रन्थः । फलितमाह—आभ्यामिति । तत्पदार्थविषयमध्यारोपमुपसंहरति—एवमिति ॥१८॥

---

१. See परतन्त्रं बहिर्मनः in *Maxims* iii. So PQR; but MN.
२. तद्गतविषया । ३. Śaṅkara's *Pañcīkaraṇa*; See Notes.

अधुना त्वम्पदार्थविषयमध्यारोपं बहुवादिमतोपन्यासेन दर्शयति—इदानीमिति । तत्रा[1]रुन्धतीप्रदर्शनन्यायेन मुञ्जा[2]दिषीकाग्रहणन्यायेन वा प्रत्यञ्चं देहादिविविक्तं चिदेकतानमात्मानं दिदर्शयिषुरतिमूढमतेमंतं तावदाह—अतिप्राकृत इति । अतिप्राकृतस्तु पुत्र आत्मेति वदतीत्यन्वयः । कुत इत्यपेक्षायां श्रुतियुक्त्यनुभवाभासान् क्रमेण प्रमाणयति—आत्मा वेत्यादिना । स्वस्मिन्निवेति युक्तिकीर्तनं लोके हि पुत्रिण इष्टमिष्टं खाद्यादि स्वात्मवचनेनापि पुत्रेषु समर्पयन्तस्तेषु परमप्रेम कुर्वन्तस्तेषामात्मत्वमेव प्रकटयन्तीति भावः । पुत्रे नष्टः इत्याद्यनुभवोक्तिः ।।

मतान्तरमाह—चार्वाक इति स्थूलशरीरमात्मेति वदन्तीत्यन्वयः । अत्रापि श्रुत्यादिप्रमाणं वदन्प्रागुपन्यस्तपक्षे दूषणं सूचयति—स वा एष इत्यादिना । एवमेवोत्तरेष्वपि पक्षेषु प्रमाणादिग्रन्थोत्थानं द्रष्टव्यम् । स वै य ओषधीनां रेतोरूपेण परिणतानां परिणामः प्रसिद्ध एव प्रत्यक्षपुरुषः शिरःपाण्याद्यात्मकोऽन्नरसमयोऽन्नरसविकारोऽन्नरसेनैवोपचीयमानत्वादिति श्रुतेरर्थः । इह पुरुषशब्दस्य लोक आत्मनि प्रयोगात्तस्य च श्रुतावन्नरसमये देहे प्रयुक्तत्वाद्देह आत्मेति गम्यत इत्यभिप्रायः । परमप्रेमगोचरत्वमात्मन्येव विश्रान्तमितरस्य सर्वस्यापि तच्छेषत्वेनैव प्रियत्वात् । "तदेतत्प्रेयः[3] पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा" इति श्रुतेश्च । सा च प्रीतिः पुत्रादपि देहेऽधिकतरा निरतिशया च दृष्टा । अन्यथा दह्यमाने गृहादौ हन्तृषु चोपस्थितेषु पुत्रं परित्यज्य पलायनानुपपत्तेरिति युक्त्यर्थः । अहम्प्रत्यय आत्मानमवगाहत इति सर्ववादिनामविवादः । स च कृशोऽहमित्यादिना देहावलम्बनोऽनुभूयतेऽतो देह एवात्मेत्यर्थः ।।

लोकायतानां चार्वाकविशेषाणां मतभेदानाह—अपरश्चार्वाक इत्यादिना बौद्धस्त्वित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । अन्वयादि पूर्ववत् । प्राणानां वागादीनां प्रजापतिगमनं तं प्रति प्रश्नकरणं चाचेतनत्वे न सम्भवतीत्यनुपपत्त्या तेषां चैतन्यमवश्यम्भावीति श्रुतार्थापत्तिरिह मानं न श्रुतिरेवेति द्रष्टव्यम् । इन्द्रियाणामभावे उपरमे स्वापादौ देहचलनस्य चैतन्यकार्यस्यादर्शनात्तदनुपरमे च तद्दर्शनादन्वयव्यतिरेकाभ्यामिन्द्रियाण्येव चेतनानि न देह इति निश्चीयते । न च तेषां करणत्वेनापि ज्ञानान्वयव्यतिरेकोपपत्तौ तदाश्रयत्वकल्पनमयुक्तमिति वाच्यमाश्रयसिद्ध्युत्तरकालीनत्वात्करणत्वकल्पनायास्तस्य चाश्रयत्वस्य देहेऽव्याप्यसिद्धेर्नान्यथोपपत्तिः । अत इन्द्रियाण्येवात्मानः

1. See Note. 2. Ditto. 3. *Brih.* 1.4.8.

करण[1]त्वादेश्चाहमालम्बनत्वमबाधितम् । देहे तु ममप्रत्ययबाधितत्वाद्भ्राक्तमिति भावः ॥

मुख्यप्राणात्मवादिमतमुत्थापयति—अपर इति । अन्योऽन्नमयादात्मन इति योजना । स चान्नमयादन्तरोऽभ्यन्तर इत्यर्थः । प्राणाभावे प्राणस्य स्वस्थितिनिबन्धनान्नाद्यलाभेन कृशीभावे सतीन्द्रियाणां विद्यमानानामपि स्वस्वविषये प्रवृत्त्यदर्शनात्सति च तस्मिन्पुष्टे तद्दर्शनात्प्राण एवात्मा न प्राणाधीनस्थितिकानीन्द्रियाणीति । इन्द्रियाणां चैतन्यान्वयव्यतिरेकः करणत्वेनाप्युपपद्यत एव । तेषामेव कर्तृत्वे करणाभावप्रसङ्गः । किञ्चैकस्मिञ्छरीरे इन्द्रियाणां सम्भूय भोक्तृत्वं प्रत्येकं वा । द्वितीयेऽपि युगपत्क्रमेण वा । नाद्यः । रूपादौ चक्षुरादिभोग्ये जिह्वादीनां योक्तृत्वादर्शनात् । न हि [2]सम्भूयेन्द्रियाण्येकं कार्यं निर्वर्तयन्ति । तेषां प्रतिनियतासाधारणविषयभेदस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् । न द्वितीयः । उक्तेन प्रकारेण यौगपद्यासम्भवात् । प्रत्येकं क्रमेण भोक्तृणीन्द्रियाणीति । तृतीयेऽपि पक्षे तेषां प्रत्येकं स्वातन्त्र्ये कदाचिदनैकमत्ये सति विरुद्धादिक्रियैस्तैरधिष्ठितं शरीरं विदीर्येत । अस्वातन्त्र्ये यदधीनत्वं तेषां तस्यैवात्मत्वं युक्तं स्वामि[3]भृत्यन्यायस्य शरीरैक्येऽनुपपत्तेः । प्राण एव तु मुख्यः सर्वेषामिन्द्रियाणामाश्रय इति युक्तमतः स एवात्मा स्वापप्रबोधयोरविच्छिन्नस्वभावः । प्रत्येकमिन्द्रियाणामात्मत्वेऽन्यदृष्टेऽन्यस्मरणानुपपत्तेरिह च यश्चैषां रूपमद्राक्षं स इदानीं गन्धं जिघ्रामीति प्रत्यभिज्ञा दृश्यते । तस्मान्नेन्द्रियाण्यात्मान इति भावः । अशनायापिपासयोश्च प्राणधर्मत्वं प्रसिद्धमन्नपानयोरलाभे प्राणविच्छेददर्शनात् । तादृग्धर्मकश्च प्राणोऽहम्प्रत्ययविषय इति प्राण आत्मेत्यनुभव इत्यर्थः ॥

मनसात्मवादिमतमुत्थापयति—अन्यस्त्विति । प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मेति यावत् । मनसि सुप्ते विलीने प्राणादेरभावादृतिवच्छ्वासोच्छ्वासदर्शनस्य द्रष्टृदृष्ट्यध्यारोपितत्वादिन्द्रियाभावेऽपि स्वप्नस्मृत्योर्मनसि सम्प्रतिपत्तेर्मन एवात्मेत्यर्थः । यद्वा प्राणादेरभावादिति तद्व्यापारोपरमे सुषुप्त्यादौ तस्याभावमुपचर्येदमुच्यते । तथा चेन्द्रियेषूपसंहृतव्यापारेषु प्राणे चोपसंहृतप्राणनापानेतरवृत्तौ मनसैव केवलेन स्वप्नादेरुपलम्भान्मन एवात्मेत्यर्थः । मनसश्च सङ्कल्पादिधर्मवत्त्वं प्रसिद्धमित्यनुभवोक्तिः स्पष्टार्था ।

[4]योगाचारमतमुत्थापति—बौद्धस्त्विति । मनोमयादन्योऽन्तरोऽभ्यन्तर

१. कारण° N. P. २. Contrast with this *Nyāyamañjarī* p. 556, line 8 :—"सम्भूय कारकैः कार्यमारभ्या इति न्यायात्". ३. See Notes. ४. See Notes.

आत्मा विज्ञानमयः क्षणिकविज्ञानमय इति बौद्धाभिप्रायः। बुद्धिः क्षणिकविज्ञानमात्मेत्यत्रानुभवमाह—अहं कर्तेति। मनस एव कर्तृत्वं स्यात्किं विज्ञानेनेत्याशङ्क्य मनसः करणपक्षपातित्वान्न कर्त्रनुभवगोचरत्वमित्यभिप्रेत्य युक्तिमाह—कर्तुरभाव इति। मनसः कर्तृत्वे सर्वेन्द्रियाणां स्वस्वविषयैर्युगपत्सम्बन्धे युगपज्ज्ञानोदयप्रसङ्गः। कर्तुर्मनसः सर्वैरिन्द्रियैरधिष्ठातृत्वेन युगपत्सन्निहितत्वादपेक्षणीयान्तरानभ्युपगमाच्च। न चैवं दृश्यते तस्मान्मनसोऽन्यः कर्ता। मनस्तु विज्ञानक्रमहेतुः साधारणं करणमेवेत्यर्थः। एवं वेदबाह्यवादानुपन्यस्य विज्ञानमयकोशपर्यन्तमात्मनः प्रत्यक्त्वमवगमितम्। न च क्षणिकविज्ञानस्यैवात्मत्वमध्यवसातुं शक्यं ज्ञानेच्छाप्रयत्नसंस्कारस्मृतीनामेकाश्रयत्वनियमात्तेषां च क्रमिकत्वात्क्षणिकविज्ञानाश्रयत्वानुपपत्तेः। ज्ञानादीनामेकाश्रयत्वाभावे तु वस्तुनि दृष्टे पूर्वदृष्टसजातीयत्वादिलिङ्गवशादिष्टसाधनताद्यनुमानपूर्वकं प्रवृत्त्याद्यभावः प्रसज्येत। अन्यदृष्टेऽन्यस्मरणानुपपत्तेः। उक्तं च न्याय[१]कुसुमाञ्जलौ—

> "नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात्।
> वासनासंक्रमो नास्ति न च मत्यन्तरं स्थिरे॥" इति।

क्षणिकपक्षे बन्धमोक्षयोरपि वैयधिकरण्यमित्यादिबहुदुष्टत्वादनादरणीयः क्षणिकविज्ञानात्मपक्ष इत्यभिप्रेत्य वेदवादिपक्षमाश्रित्य विज्ञानादप्यन्तरमात्मानं निर्दिधारयिषुस्तावत्तत्रापि स्थूलदर्शिमतभेदमाह—प्राभाकर° इत्यादिना। प्राभाकरतार्किकावज्ञानमात्मेति वदत इत्यर्थः। अज्ञानं क्षणिकविज्ञानादन्यत्तदधिकरणं द्रव्यरूपमात्मतत्त्वमिति वदत इत्यर्थः। विज्ञानमयादप्यन्तरे आत्मनि श्रुतिं प्रमाणयति—अन्योऽन्तर आत्मेति। विज्ञानमयादानन्दमयोऽन्य इति यावत्। न चानन्दमयः परमात्मेति त्वम्पदार्थमध्ये न तस्योदाहरणं युक्तमिति वाच्यम्। अन्नमयादिविकारप्रायपठितमयट्श्रुतिविरोधात्प्रि[२]यशिरस्त्वादिवचनविरोधाच्च। एतच्च भाष्यकारैः "आ-[३]नन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यस्मिन्नधिकरणे निर्णीतम्। तस्माद्युक्तमेव त्वम्पदार्थमध्य आनन्दमयश्रुत्युदाहरणमिति द्रष्टव्यम्। सुषुप्तौ बुद्ध्यादीनां ज्ञानसुखदुःखेच्छादीनामज्ञाने ज्ञानभिन्न आत्मनि लयदर्शनादभावदर्शनान्न ज्ञानमात्मेति युक्तिमाह—बुद्ध्यादीनामिति। सर्वज्ञानाभावस्य सुषुप्तौ सम्प्रतिपन्नत्वात्सुषुप्तिजागरितयोरप्यात्मैक्यप्रत्यभिज्ञानान्न ज्ञानमात्मा किन्तु तदन्य

---

१. *Stavaka* 1. 15. *Maxims* ii (2nd edn). २. See *Tait.* 2.5 ("तस्य प्रियमेव शिरः"), and Bhāṣya on the sūtra quoted below. ३. *Brahmasūtra* 1.1.12.

एवेति भावः । अनुभवमाह—अहमज्ञ इति । अहमज्ञो ज्ञानहीनोऽहं ज्ञानी ज्ञानवानित्यनुभवोऽपि ज्ञानात्मनोर्धर्मधर्मिभावेन भेदं द्रढयतीत्यर्थः ॥

मतान्तरमाह—भाट्ट इति । भाट्टस्त्वज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदतीत्यन्वयः । अज्ञानोपहितत्वमज्ञानसंवलितत्वं ज्ञानाज्ञानरूपत्वं तदपि द्रव्यबोधरूपत्वमिति यावत् । तत्र माण्डूक्यश्रुतिं प्रमाणयति—प्रज्ञानघन इति। प्रज्ञानघनः प्रज्ञानैकरसः । एवकारेण रसान्तरसम्बन्धं वारयति । आनन्दमय इत्यानन्दप्रचुरो नानन्दविकारः । [1]प्राचुर्यार्थे मयडन्तनिर्देशादीषदानन्दस्वभावतापि द्रव्यांशकृतात्मनि गम्यत इति भावः । युक्तिमाह—सुषुप्ताविति । सुषुप्तौ प्रकाशाभावे सुषुप्तिरसाक्षिकेति सुखमहमस्वाप्समित्युत्थितस्य परामर्शो न स्यान्न तदेन्द्रियमनसां व्यापारोऽस्ति येन तज्जन्यज्ञानेनापि तत्परामर्शः स्यात् । नाप्यविद्या प्रकाशिका जडत्वात् । परिशेषादात्मैव बोधांशः प्रकाशक: इति प्रकाशसद्भावसिद्धिः । न किञ्चिदवेदिषमिति परामर्शादात्मन्येव सुषुप्तावशेषविज्ञानाभाववत्त्वमपि कल्प्यतेऽतस्तत्राप्रकाशो द्रव्यांशश्चास्तीति भावः । ननु सुषुप्तावेवात्मनो ज्ञानाज्ञानरूपत्वं नावस्थान्तर इत्याशङ्कामनुभवाभिनयेन प्रत्याचष्टे—मामहमिति । अहमित्यात्मनि कर्तरि भासमानेऽपि मां न जानामीत्यनुपसंहृतविशेषस्य तस्यैव कर्मत्वमपि तस्मिन्नेव ज्ञाने भासत इत्यवस्थान्तरेऽपि द्व्यात्मक आत्मेत्यभिप्रायः । ज्ञानस्यात्मधर्मत्वेऽपि न ततोऽत्यन्तभेदस्तादात्म्याङ्गीकारात् । समवायस्य च समवायिभ्यां सह सम्बद्धत्वासम्बद्धत्वविकल्पासहत्वेनाप्रामाणिकत्वादिति भावः ॥

माध्यमिकमतमुत्थापयति—अपरो बौद्ध इति । इदं नामरूपात्मकं जगदग्रे सृष्टेः प्राक्कालेऽसच्छून्यमेवासीदिति बौद्धाभिप्रायेण श्रुतेरर्थः । युक्तिमाह—सुषुप्ताविति । तामेव स्वानुभवोपन्यासेन द्रढयति—अहमिति । अतः शून्यमात्मा सर्वाभावरूपो न द्रव्यबोधात्मक इति भावः ॥१९॥

एवं प्रत्यगात्मत्वाधिष्ठानं मतभेदेनोपन्यस्तं दूषयितुमारभते—एतेषामिति । तत्र तावत्पूर्वपूर्ववादिमतमुत्तरोत्तरवादिमतेन दूषितमिति पुत्रादिशून्यपर्यन्तस्यानात्मत्वं तैरेव वादिभिः स्फुटीकृतमित्याह—एतैरिति । ननु कथं वावदूकविवाददर्शनमात्रेण पुत्रादीनां शून्यपर्यन्तानामनात्मत्वमवधारयितुं शक्यते श्रुतियुक्त्यनुभवानां प्रत्येकमुपन्यस्तत्वादित्याशङ्क्य सत्यमुपन्यस्तास्तैः श्रुत्यादयः किन्तु ते सर्व एवाभासाः पुत्रादिशून्यपर्यन्तातिरिक्तप्रत्यगात्मस्वरूपसमर्पकप्रबलश्रुत्यनुभवविरोधादित्याह— किञ्चेति । न केवलं परस्परविगीतत्वादेव पुत्रादीनामनात्मत्वं किन्तु प्रबलश्रुत्यादिभिः

1. *Pāṇini* 5.4.21.

पूर्वेषां श्रुत्यादीनां बाधितत्वादपीति योजना। तत्र "आत्मा वै पुत्रनामासि" इतिश्रुतेः प्रत्यक्[1]श्रुत्या बाधः। प्रत्यक्त्वं नाम सर्वान्तरत्वम्। "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय" इतिश्रुतेरस्थूलश्रुत्या बाधः। "ते ह प्राणाः प्रजापतिम्" इत्यादिश्रुतिसामर्थ्यसिद्धेन्द्रियात्मत्वस्याचक्षुरित्यादिना बाधः। "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः", "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय" इत्यनयोरप्राणोऽमना इत्याभ्यां बाधः। "अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय" इत्यस्याः श्रुतेरकर्तेत्यनेन बाधः। "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय" इत्यस्याश्चैतन्यमित्यनेन बाधः। "प्रज्ञानघन एवानन्दमय" इत्यस्याश्चिन्मात्रमित्यनेन बाधः। "असदेवेदम्" इत्यस्याः सदित्यनेन बाध इति प्रत्येकं योजनीयम्। अत्रोदाहृतश्रुतीनामित्थमक्षरविन्यासाः क्रमेण द्रष्टव्याः। "कश्चि[2]द्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्", "अस्थूल[3]मनण्वह्रस्वमदीर्घम्", "अचक्षुः[4]श्रोत्रं तदपाणिपादम्", "अप्राणो[5] ह्यमनाः शुभ्रः", "[6]अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता", "न[7] चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्", "चिन्मात्रो[7]ऽहं सदाशिवः", "सदेव[8] सोम्येदमग्र आसीत्", "सत्यं[10] स आत्मा" इति॥ आदिशब्दात् "एष[11] स आत्मा सर्वान्तरः", "अशरीरं[12] शरीरेषु", "प्राणस्य[13] प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो[14] ये मनो विदुः", "केन[15] प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः", "यतो[16] वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह", "न[17] करोति न लिप्यते", "साक्षी[18] चेता केवलो निर्गुणश्च", "कृत्स्नः[19] प्रज्ञानघन एव", "सन्त[20]मेनं ततो विदुः" इत्याद्याः श्रुतयः संगृह्यन्ते॥

इदमत्रानुसन्धेयम्। पुत्रात्मश्रुतिस्तु देहावलम्बिनीति तस्या गौणार्थत्वं स्पष्टमेव। "ते ह प्राणा" इतिश्रुतिरर्थवादत्वान्न स्वार्थपरा। अन्नमयाद्यानन्दमयान्तश्रुतेर्मुञ्जादिषीकावत्सर्वान्तरब्रह्मपुच्छशब्दवाच्यात्मप्रतिपत्त्युपायार्थत्वेनोपन्यस्तत्वान्न यस्याः स्वार्थपरत्वम्। प्रत्यगादीनां[21] सिद्धान्त्युपन्यस्तश्रुतिवचनानां तु वक्ष्यमाणोपक्रमादिलिङ्गैरात्मयाथात्म्यपरत्वमिति युक्तं प्राबल्यमिति॥

---

१. For this and other Śrutis here referred to, see below. २. *Kaṭha* 4.1. ३. *Bṛih* 3.8.8. ४. *Muṇḍ* 1.1.6. ५ *Idem.* 2.1.2 ६. *Śvet.* 1.9. ७. *Kaivalya* 21. ८. *Idem.* 18. ९. *Chhā.* 6 2.1. १०. *Idem.* 6.8.7 ११. *Bṛih.* 3.4.1. १२. *Kaṭha* 2.22. १३. *Bṛih* 4.4.18. १४. MNR. insert here with the Mādhyandina recension, अन्नस्यान्नं. १५. *Kena* 1. १६. *Tait.* 2.4.1. १७. *Gītā* xiii. 31. १८. *Śvet,* 6.11. १९. *Bṛih* 4. 5. 13. २०. *Tait.* 2.6.1. २१. प्रत्यक्त्वा° NQR.

पुत्रादिशून्यपर्यन्तं न नित्यं जडत्वाद्घटादिवत्। नित्यश्चात्मा तदनित्यत्वेऽकृताभ्यागमकृतविनाशप्रसङ्गात्। अतो न पुत्रादीनामात्मत्वमिति युक्तिमाह—अस्येति। जडत्वमुपपादयति—चैतन्यभास्यत्वेनेति। न चात्मनोऽपि चैतन्यभास्यत्वं कर्मकर्तृभावविरोधात् कर्तृत्वं हि क्रियां प्रति गुणभावः कर्मत्वं तु प्राधान्यम्। तथा चैकस्यां क्रियायामेकस्यात्मनो युगपद्विरुद्धधर्माश्रयत्वे वैरूप्यप्रसङ्गः। नापि ज्ञानाश्रयत्वेनात्मनो भावं सम्भवति। ज्ञानभिन्नस्य ज्ञानकर्मत्वेनैवापरोक्षत्वनियमात्। नापि नित्यानुमेयोऽसन्दिग्धत्वात्। न हि कदाचिदात्मन्यहमस्मि नास्मि वेति सन्देहः कस्यचिद्दृश्यते। परिशेषात्स्वयम्प्रकाश इति न तस्य चैतन्यभास्यता। श्रुत्यश्च भवन्ति स्वप्रकाशसाधिकाः। परप्रकाश्यतानुमानविरोधिन्यः। "न[1] विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः", "विज्ञातारमरे[2] केन विजानीयात्", 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि", "अत्रायं[4] पुरुषः स्वयंज्योतिः", "आत्मै[5]वास्य ज्योतिः", "अप्राप्य[6] मनसा सह", "[7]यन्मनसा न मनुते" इत्येवमाद्याः॥

ननु न चायमात्माणुपरिमाणवास्तथा सति सकलशरीरव्यापिचैतन्यानुपलम्भप्रसङ्गात्। न नापि मध्यमपरिमाणो मध्यमपरिमाणवतः सावयवत्वेनानित्यत्वप्रसङ्गात् "एवं[8] चात्माकात्स्न्र्यम्" इतिन्यायनिरस्तत्वाच्च। नापि परममहत्परिमाण उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिविरोधात्। अतः किम्परिमाणोऽयं प्रत्यगात्मेति। उच्यते स्वतस्तावदखण्डब्रह्मात्मस्वभावत्वात् "स[9] वा एष महानज आत्मा" इत्यादिश्रुतेश्च परममहत्परिमाण एव। ब्रह्मात्मस्वभावत्वं चास्य प्रवेशश्रुतिभ्यः। "तत्सृष्ट्वा[10] तदेवानुप्राविशत्" "स[11] एवमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत", "स[12] एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः", "अनेन[13] जावेनात्मनानुप्रविश्य", "सर्वाणि[14] रूपाणि विचित्य नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते", "एको[15] देवो बहुधा सन्निविष्टः", "यथा[16] ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा", "पुरश्चक्रे[17] द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्", "रूपं[18] रूपं प्रतिरूपो बभूव", "[19]अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" इत्येवमादिभ्यः।

---

१. *Bṛih.* 3.4.2. २. *Idem.* 2.4.14. ३. *Kena* 3. ४. *Bṛih.* 4.3.9. ५. *Idem* 4.3.6. ६. *Tait.* 2.4.1. ७. *Kena* 5. ८. *Brahmasūra.* 2.23.4. ९. *Bṛih.* 4.4.21. १०. 2.6.1. ११. *Ait.* 3.12. १२. *Bṛih* 1.4.7. १३. *Chhā.* 6.3.2. १४. *T. Ar.* 3.12.7. १५. *Idem.* 3.14.1. १६. See Notes १७. *Bṛih.* 2.5.18. १८. *Idem.* 19. १९. *Katha* 5.9.

"क्षेत्रज्ञं[1] चापि मां विद्धि······।"
"[2]अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।"
"[3]ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।"

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च। संसारित्वावस्थायामेव तस्योपाधिनिबन्धनं परिच्छिन्नपरिमाणम्। तच्च यथोपाध्यनुरूपत्वादनियतम्। तथा च दर्शयति श्रुतिः—

"अङ्गुष्ठमात्रो[4] रवितुल्यरूपः।"
"[5]आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः।"
"[6]वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः······॥"
"नैव[7] स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥"

इत्यादिवचनैः। "[8]स च प्रतिशरीरमभिन्न एव" "[9]एको देवो बहुधा सन्निविष्टः", "[10]एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति", "[11]एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति", "[12]त्वमेकोऽसि बहुतनुप्रविष्टः", "[13]इन्द्रस्यात्मानं शतधा चरन्तम्" "[14]एकः सन्बहुधा विचारः" इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः। तस्माद्देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यव्याकृतविलक्षणस्तत्साक्षी चिद्धातुः सद्रूपः प्रत्यगात्मेति निश्चितोऽर्थः।

अनुभवप्राबल्यं दर्शयति—अहमिति। "तं [15]न पश्यन्त्यकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति" इत्युपक्रम्य, प्राणाद्यात्मविज्ञानमकृत्स्नविषयतादोषेण निन्दित्वान्ते तु "[16]आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति" इति कृत्स्नात्मस्वभावं वेदितव्यं निर्दिश्य "तदेतत्पदनीयमस्य[17] सर्वस्य यदयमात्मा" इति तदतिरिक्तस्य ज्ञातव्यस्यानवशेषं दर्शयन्ती श्रुतिस्तद्विज्ञानवत एव विद्वत्तां सूचयति। तथोत्तरत्रापि "[18]तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेत्" इत्याक्षिप्य "[19]तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति च विद्वदनुभवत्वं ब्रह्मात्मज्ञानस्य दर्शयति। अत इतोऽर्वाक्षु देशेषु प्रत्यगात्मत्वाभिमानो भ्रान्तिरिति भावः। प्रत्यगात्मविषयाध्यारोपमुपसंहरति—अत इति। वेदान्तविद्वदनुभव इति विशेषणेन मतान्तरेऽनु-

१. *Gita* xiii. २. *Idem.* x. 20. ३. *Idem.* xv 7. ४. *Śwet.* 5. 8. ५. *Idem.* ६. *Idem.* 5. 9. ७. *Idem.* 5. 10. ८. Untraceable. ९. *T. Ār.* 3. 14. 1. १०. *Rik.* 1. 164. 49. ११. *Idem.* 10. 114. 5. १२. *T. Ār.* 3. 14. 3. See (Jacob's) Notes. १३. *Id.* 3. 11. 5. १४. *Id.* 3. 11. I. १५. १६. १७. *Bṛih.* 1. 4. 7. १८. *Idem,* 1. 4. 9. १९. *Idem.* 1. 4. 10.

भवस्य मूलप्रमाणशैथिल्यम् सूचयति। अध्यारोपप्रकरणमुपसंहरति—एव-मिति ॥२०॥

एवमध्यारोपं सप्रपञ्चं निरूप्यापवादमिदानीं निरूपयिष्यंस्तल्लक्षणमाह—**अपवादो नामेति**। कार्यस्य कारणमात्रसत्तावशेषणं कारणस्वरूपव्यतिरेकेण कार्यस्यासत्तावधारणं वापवाद इत्युक्तं भवति। एवंलक्षणोऽपवादः केन क्रमेणेत्यपेक्षायां "विपर्ययेण[1] तु क्रमोऽत उपपद्यते च" इतिन्यायमाश्रित्योत्पत्तिक्रम-वैपरीत्येनापवादं क्रमेण दर्शयति—**तथाहीत्यादिना**।

प्रत्यक्षसिद्धं चतुर्विधभूतग्रामं चरमकार्यमङ्गुल्या निर्दिशति—**एतद्भोगायतनमिति**। द्वितीय एतच्छब्दोऽन्नादिविषयः। आदिशब्दः पानादिसङ्ग्रहार्थः। भूरादिचतुर्दशभुवनानि तृतीयैतच्छब्दार्थः। एतत्सर्वमित्यत्रैतच्छब्द उक्तसमस्त-सङ्ग्रहार्थः। एतेषामित्यस्यापि स एवार्थः। उत्पत्तिव्युत्क्रमेणेत्यस्यायमर्थः। पृथिवी गन्धतन्मात्रात्मिका रसतन्मात्रात्मिकाम्मात्रं भवति। आपश्च ता रूपतन्मात्रात्मकतेजोमात्रं भवन्ति। तच्च तेजः स्पर्शतन्मात्रात्मकवायुमात्रं भवति। स च वायुः शब्दतन्मात्रात्मकाकाशमात्रं भवति। स चाकाशः स्वकारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवतीति। एतदाधारेत्यत्रैतच्छब्दोऽज्ञानतदुपहितचैतन्यविषयः। एतदाधारेत्यादिब्रह्मान्तानां पदानां कर्मधारयः। तथा च स्मृतिश्रुती भवतः—

"[2]जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले सम्प्रलीयते॥" इति।

"पुरुषान्न[3] परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥" इति च॥२१॥

अध्यारोपापवादनिरूपणे फलितमाह—**आभ्यामिति**। ब्रह्मात्मचैतन्यस्याद्वितीयप्रत्यग्रूपतानिरूपणार्थत्वादध्यारोपादिप्रपञ्चनस्य पदार्थशुद्धिरवान्तरफल-मिति सूचयितुं **पदार्थशोधनमपीत्युक्तम्**। तत्त्वम्पदयोः प्रत्येकं द्विविधोऽर्थो वाच्यो लक्ष्यश्चेति। तदुभयं विभज्य दर्शयति—**तथाहीत्यादिना**। समष्ट्यज्ञानं तदुपहित ईश्वरस्तदुभयाश्रयमनुपहितं स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितमक्षरशब्दवाच्यं चिन्मात्रमित्येतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदविविक्तं तत्पदवाच्यार्थ इत्यर्थः। आदिपदात्समष्टिहिरण्यगर्भविराजौ गृह्यते। तत्राज्ञानादिव्यष्टिरित्यत्रादिपदात्-सूक्ष्मशरीरं स्थूलशरीरं च गृह्यते। एतदुपहितं प्रत्यक्चिन्मात्रम्। शेषं

१. *Brahmasūtra* 2. 3. 14. २. *Mahabhārata* 12. (chap 341) 12893, 12895.

पूर्ववत् । उभयत्रापि यथायोगमव्याकृतं समष्टिस्वप्नजागरौ सुषुप्तिर्व्यष्टिस्वप्नजागरौ चेत्येवमवस्थात्रययुक्तमिति योजयितव्यम् । अज्ञानतत्कार्यसमस्तप्रपञ्चेषु सत्ता स्फूर्तिप्रदत्वेनानुस्यूतं चित्सदानन्दाद्वयात्मकं वस्तु तत्पदलक्ष्यार्थः । देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहंकृतितद्धर्मजाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाभ्यो विलक्षणस्तत्साक्षी चिद्धातुस्त्वम्पदलक्ष्यार्थ इत्याह—**एतदुपाध्युपहितेति** ॥२२॥

पदार्थप्रतिपत्तिपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थप्रतिपत्तेरादावध्यारोपापवादाभ्यामवान्तरवाक्यावष्टम्भेन पदार्थं परिशोध्येदानीं महावाक्यार्थं निरूपयितुमुपक्रमते—**अथेति** । वाक्याद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिक्रममादौ सङ्गृह्णाति—**इदमिति** । उक्तमेव विभजते—**सम्बन्धत्रयं नामेति** । उक्ते विभागे नैष्कर्म्यसिद्धिवचनं संवादयति—**तदुक्तमिति** । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यसम्बन्धः सामानाधिकरण्यमिति ॥

सामानाधिकरण्यलक्षणमभिप्रेत्य तस्योदाहरणं तत्त्वम्पदयोरनुवर्तयति—**सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावदिति** । तत्कालोऽतीतकालः । एतत्कालो वर्तमानकालः । परोक्षत्वादीत्यादिशब्दान्नियन्तृत्वादिग्रहः । अपरोक्षत्वादीत्यादिपदान्नियम्यत्वादिग्रहः ॥

व्यवच्छेदकं विशेषणं व्यवच्छेद्यं विशेष्यं तयोर्भावो विशेषणविशेष्यभावः । स एव सम्बन्धः सम्बन्धवदुभयनिरूपणीयत्वादित्यभिप्रेत्य विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धं सदृष्टान्तमाह—**विशेषण° इति** । सोऽयम्पदार्थयोर्मध्ये कस्य वा विशेषणता कस्य वा विशेष्यता किं तद्विशेषणकृत्यमित्यपेक्षायांद्वयोरपि पदार्थयोः परस्परापेक्षया विशेषणविशेष्यभावो भेदभ्रमापोहश्च विशेषणकृत्यमित्यभिप्रेत्याह—**अन्योन्यभेदव्यावर्तकतयेति** ॥

अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिर्लक्षणा । सा त्रिविधा जहल्लक्षणाजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति । वाच्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा । वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि वृत्तिरजहल्लक्षणा । वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहदजहल्लक्षणा । तत्र प्रकृतवाक्ये लक्ष्यलक्षणसम्बन्धं सोदाहरणमाह—**लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध इति** । पदवाच्यार्थयोः परस्परविरुद्धत्वान्नान्योन्यं विशेषणविशेष्यभाव उपपद्यते । तथा च तत्समर्पकयोरपि पदयोः सामानाधिकरण्यवशात्प्रतीयमानस्यैकवाक्यार्थस्यानुपपत्तिरिति लक्षणायां प्रसक्तायां वक्ष्यमाणप्रकारेण जहदजहल्लक्षणयोः प्रकृतासङ्गतौ पदवाच्यगतविरुद्धांशप्रहाणेनाविरुद्धांशलक्षणया सामानाधिकरण्ये सति वाक्या-

दखण्डार्थप्रतिपत्तिरिति भावः। अंशान्तरपरित्यागेनांशान्तरलक्षणायाः शास्त्रप्रसिद्धां संज्ञां सङ्गिरते—इयमेवेति। जहदजहल्लक्षणेदंशब्दार्थः। अयं भावः। तत्त्वम्पदयोः सामानाधिकरण्यं तावच्छ्रूयते न तत्तयोर्भिन्नार्थत्वे सम्भवति स्तम्भकुम्भपदयोस्तददर्शनात्। नाप्येकार्थाभिधायकत्वेन वैश्वदेव्यामिक्षेतिवत्तद्धितादेरेकार्थसमर्पकस्य कारणस्येहादर्शनात्। तथाहुः—

"[1]आमिक्षां देवतायुक्तां वदत्येवैष तद्धितः।
आमिक्षापदसान्निध्यात्तस्यैव विषयार्पणम्॥"

इति परिशेषादेकार्थलक्षकत्वेनैवेति ॥२३॥

ननु तत्त्वम्पदयोः सामानाधिकरण्यं विनापि लक्षणयैकार्थ्यमुपपत्स्यते नीलमुत्पलमितिवदित्याशङ्क्याह—अस्मिन्निति। अखण्डार्थत्वस्य विवक्षितत्वादित्यभिसन्धिः। ननु नीलोत्पलवाक्येऽपि स्यादखण्डार्थता नेत्याह—तत्रेति। शौक्ल्यादिव्यावर्तकनीलगुणस्य पटादिव्यावर्तकोत्पलद्रव्यस्य च गुणगुणिभावेन विरोधाभावात्तत्संसर्गैक्यस्य वा तदन्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य वा वाक्यार्थत्वान्नाखण्डार्थत्वं मुख्यैक्यस्य तत्राविवक्षितत्वादित्यर्थः। प्रकृतवाक्ये नीलोत्पलवाक्याद्वैषम्यमाह—अत्रत्विति। यद्यपि तत्त्वम्पदार्थयोः स्वरूपतो न प्रत्यक्षत्वं तत्पदार्थस्याद्वितीयत्वात्त्वम्पदार्थस्य च द्रष्टृत्वाद्द्रष्टुर्दृश्यत्वानुपपत्तेस्तथा च तद्भेदस्याप्यप्रत्यक्षता तथापि तत्त्वम्पदयोः परोक्षापरोक्षाधिगतसङ्गत्योः श्रवणसमयेऽपरिशोधितपदार्थस्य पुंसो भवति विरोधस्फूर्तिरिति तदपेक्षया प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधादित्युक्तम्। तथा च तत्त्वम्पदयोः शबलांशे व्युत्पन्नयोर्विरुद्धार्थविषयकत्वेनैक्यनिष्ठत्वाभावान्न विवक्षितं सामानाधिकरण्यमुपपद्यत इति भावः। एतदुक्तं भवति। न तावत्तत्त्वमर्थयोर्नीलोत्पलवद्गुणगुणिभाव उभयोरपि द्रव्यत्वात्। नापि कुण्डलसुवर्णवत्कार्यकारणभावो नित्यत्वादविकृतत्वाच्च। नापि भूम्यूषरादिवदंशांशिभावो निरवयवत्वात्। नापि क्रियातद्वावो बाणादिवन्निष्क्रियत्वात्। नापि गोत्वशाबलेयादिवज्जातिव्यक्तिभावो द्रव्यत्वादेव। अत एव न विशेषविशेषिभावोऽपि। वस्तुतस्तु विज्ञानघनमात्रत्वावधारणान्नेति नेतीत्यशेषविशेषप्रत्याख्यानेन निर्धर्मकत्वावधारणाच्च न केनापि प्रकारेण तत्त्वमस्यादिवाक्यानां संसृष्टार्थनिष्ठत्वशङ्कावकाशं लभते। न चेदं वाक्यं त्वमिन्द्रोऽसीतिवत्स्तुतिपरं नव कृत्वोऽभ्यासवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न हि स्तुतिः पुनःपुनः परिचोदनापूर्वकं क्वचिदभ्यस्यते। अतएव नार्थवादोऽनन्यशेषत्वाच्च। न ह्यस्मिन्प्रकरणेऽन्यत्किञ्चित्प्रधानवाक्यमुपलभ्यते यच्छेषत्वेनेदमर्थवादरूपं भवेत्। नापि राज-

1. *Tantravartika*, 2. 2. 23, p. 533.

पुरुषे राजायमितिवदौपचारिकमप्रमितभेदयोरैक्यस्यौपचारिकत्वानुपपत्तेः। नापि विपर्ययः संशयो वात्र सम्भवति श्रुतेः स्वतःप्रामाण्यात्। तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठमकार्यकारणद्रव्यमात्रनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणवाक्यत्वात्सोऽयं देवदत्त इति वाक्यवदिति। तदेवं पदयोरखण्डार्थनिष्ठत्वेन सामानाधिकरण्यं वाच्यार्थांशे विरोधाद्विना लक्षणां न सङ्गच्छत इत्युक्तम् ॥२४॥

तत्र भागलक्षणामेव परिशेषयितुं लक्षणान्तरं व्युदस्यति—अत्रेत्यादिना। घोष आभीरनिवासः। कुत इत्यपेक्षायां गङ्गापदे जहल्लक्षणा सम्भवति वाच्यार्थस्य तत्राशेपस्यानन्वयेन परित्याज्यत्वादित्याह—तत्र गङ्गाघोषयोरिति। प्रकृते वाच्यार्थस्याशेषपरित्यागायोगान्न जहल्लक्षणा सङ्गच्छत इत्याह—अत्र त्विति। ननु विशेषणांशत्यागेऽपि विशेषणाभावे विशिष्टाभावन्यायेन विशिष्टस्वार्थपरित्यागाज्जहल्लक्षणैव तत्त्वम्पदयोरपि गङ्गापदवत्स्यादित्याशङ्क्य वैषम्येण प्रत्याचष्टे—न चेति। यथा पदादेव वाक्यार्थान्वयिपदार्थप्रतीतौ लक्षणा वैयर्थ्यं तथा विशेष्यांशपरित्यागेऽपि लक्षणावैयर्थ्यं तत्त्वम्पदार्थातिरिक्तस्य तत्सम्बन्धिनो वाक्यार्थान्वयिनोऽर्थस्याप्रसिद्धेरिति भावः ॥२५॥

अजहत्स्वार्थामप्यत्र व्युदस्यति—अत्र शोण इति। शोणपदे स्ववाच्यशोणगुणापरित्यागेन तदाधारलक्षणावत्तत्पदे त्वम्पदे च स्ववाच्यापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्यकस्यचिदनिर्दिष्टविशेषस्यार्थान्तरस्य प्रतीत्यै लक्षणाङ्गीकरणेऽपि वाच्यार्थयोर्विरोधस्यापरिहारान्नाजहल्लक्षणाप्यत्र युज्यत इत्यर्थः। प्रकारान्तरेणाजहल्लक्षणामुट्टङ्क्य निराचष्टे—न चेति। सकृच्छ्रुतस्यैकस्य पदस्य युगपदुभयलक्षकत्वासम्भवादित्यर्थः। अत्रापि पूर्वोक्तं दूषणं प्रसञ्जयति—पदान्तरेणेति ॥२६॥

परिशेषाद्भागलक्षणामन्तरेण नाखण्डवाक्यार्थसिद्धिरतस्तयैव लक्षणयैकार्थपर्यवसायित्वेन पदयोः सामानाधिकरण्यमित्युपसंहरति—तस्मादिति। सोऽयमिति पदद्वयं वाक्यशब्दार्थौ देवदत्तपदस्य सामानाधिकरण्यसिद्धैक्यस्पष्टीकरणार्थत्वाल्लक्षणाविचारानुपयोगात्। यद्यपि पदधर्मो लक्षणा तथाप्यभिहितान्वयमतवत्पदार्थस्यापि लक्षकत्वमभ्युपगम्य पदार्थो वेत्युक्तम्। अन्यत्समानम् ॥

अत्र केचिदाहुः—पदद्वये लक्षणानुपपन्ना। सोऽयं देवदत्त इत्युक्ते सशब्देनातीतदेशकालपरित्यागेन लक्षिते देवदत्तस्वरूपे वर्तमानदेशकालवैशिष्ट्यमयम्पदेन प्रतिपाद्यते तथा च पूर्वापरदेशकालवैशिष्ट्याभिसिद्धिरस्ति। तदयुक्तम्।

विशिष्टस्य केवलाद्भिन्नत्वात् । यथा केवलो विशिष्टाद्भिन्नस्तथा विशिष्टोऽपि केवलाद्भिन्न एव । तथा च विशिष्टविषयस्यायंशब्दस्यापि विना लक्षणां न तत्स्वरूपनिष्ठत्वं सम्भवति । तदभावे च सोऽयम्पदयोः सामानाधिकरण्येन देवदत्तैक्यप्रतिपादकतेत्यास्तां तावत् । अपरे पुनराहुर्न पदवाच्यार्थयोः परस्परविरोधाल्लक्षणाश्रीयते किन्तु वाच्यार्थैक्ये तात्पर्याभावादिति । तन्न । तात्पर्याभावावगमस्यापि विरोधस्फूर्त्यधीनत्वात् । अन्यथा वेदवाक्यप्रतिपादितेऽर्थे संवादिविसंवादिप्रमाणान्तराविषये तात्पर्यानवगमायोगात् । तस्मात्सुष्ठूक्तं वाक्यार्थस्यांशे विरोधादिति ।।२३।।

तदेवं "[1]आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इतिन्यायेन जीवस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यज्ञानानन्तानन्दपरिपूर्णब्रह्मात्मत्वोपदेशवाक्यार्थं सप्रपञ्चं निरूप्येदानीमवगतस्वरूपस्यानुभवावभासिवाक्यार्थं वर्णयितुमुपक्रमते—अथेत्यादिना । उपदेशवाक्यार्थनिरूपणानन्तर्यमथशब्दार्थः । अधिकारिणो विधिवदधीतवेदेत्यादिखण्डलोक्तलक्षणस्यासम्भावनाविपरीतभावनाख्यचित्तदोषरहितस्याध्यारोपादिन्यायेनाचार्योपदेशसमनन्तरमेव नित्यशुद्धबुद्धत्वादिविशेषणं ब्रह्माहमस्मीत्यखण्डाकारान्तःकरणवृत्तिरुदेति साक्षात्काररूपा न पुनः परोक्षार्थाकारितेत्यर्थः । न च शब्दस्य परोक्षज्ञानजनकत्वस्वाभाव्यान्न तेनापरोक्षा चित्तवृत्तिरुदेतीति वाच्यम् । "[2]यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तर" इतिश्रुतेर्नित्यापरोक्षं ब्रह्मात्मस्वरूपं तस्मिन्परोक्षज्ञानं जनयतः शब्दस्याप्रामाण्यापत्तेः । किञ्च ज्ञानस्य परोक्षत्वापरोक्षत्वे न करणनिबन्धने किन्त्वर्थनिबन्धने एकस्यैव मनसः सुखादिविषयकापरोक्षज्ञानहेतुत्वस्यातीतार्थस्मृतिहेतुत्वस्य च दर्शनात् । तत्र सहकारिभेदात्तथाभाव इति चेत्तर्हीहाप्यस्ति सहकारिभेदः शब्दप्रतिपत्तुः शब्दार्थनैकट्यानैकट्यलक्षणः । निकटं ह्यत्यन्तमात्मनः स्वरूपं ब्रह्म न त्वस्वरूपमुपाध्यन्तराविष्टमिन्द्रवरुणादिरूपम् । तस्माद्दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यवत्तत्त्वमस्यादिवाक्यानामपरोक्षज्ञानजनकत्वं[3] युक्तमिति भावः ।।

एवमुत्पन्नाखण्डाकारा चित्तवृत्तिः किं करोतीति तदाह—सा त्विति । वृत्तेर्जडत्वादज्ञानबाधनासम्भवमाशङ्क्य तां विशिनष्टि—चित्प्रतिबिम्ब-

---

१. *Brahmasutra*4. 13. २. *Bṛih* 3. 4. 1. ३. *Upadeśasāhasri* xviii. 174-6; *Pañchadaśī* vii. 23-27.

सहिता सतीति। प्रत्यक्चितिव्याप्तेति यावत्। ब्रह्मणो विषयीकरणं नाम वृत्तेस्तदाभिमुख्यम्। ब्रह्मशब्दस्य कार्यब्रह्मविषयत्वं व्यावर्तयति—परमिति। तस्य प्रमेयत्वमाह—अज्ञातमिति। तस्य ताटस्थ्यं वारयति—प्रत्यगभिन्नमिति। अज्ञानमेव बाधत इत्येवकारेण ब्रह्मणः प्रकाश्यत्वं व्यावर्त्यते। एवंविधया चित्तवृत्त्या संसारमूलाज्ञाने बाधिते सत्यप्यस्या वृत्तेर्बाधकाभावान्मोक्षोऽपि सप्रपञ्चः स्यादित्यत आह—तदेति। वृत्तेर्बाधकाभावेऽपि दग्धेन्धनानलवत्स्वयमेव विनश्यति ततो न सप्रपञ्चो मोक्ष इत्यर्थः। तर्हि वृत्तिप्रतिबिम्बितस्य प्रत्यक्चैतन्यस्य का गतिरिति तामाह—तत्रेति। तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमप्यखण्डचित्तवृत्तेर्बाधितत्वात्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवतीत्यन्वयः। स्वोपाधिविलये उपहितस्य स्वरूपमात्रावस्थाने दृष्टान्तो दर्पणाभाव इति। उपाध्यनुगामिनो निरुपाधिप्रकाशनासामर्थ्ये दृष्टान्तमाह—यथा दीपप्रभेति। यद्वा परिच्छिन्नप्रकाशस्यापरिच्छिन्नानवभासने दृष्टान्तो यथा दीपेति ॥२८॥

वाक्यजनिता ब्रह्मात्माकारा चित्तवृत्तिस्तद्गताज्ञानमेव बाधते नतु तत्प्रकाशयतीति विशेषनिरूपणे फलितमाह—एवं चेति। अविरोधः सिद्ध इति शेषः। तत्रैवंशब्दसूचितमर्थं हेतुमाह—वृत्तिव्याप्त्वा° इति। विशिष्टशब्दादिप्रमाणबलात्तत्तद्विषयाकारधीसमुन्मेषाभिव्यक्तत्वं वृत्तिव्याप्यत्वम्। बाह्येन्द्रियसन्निकृष्टार्थाकारबाह्यधीपरिणामावच्छिन्नचिदंशकृतप्राकट्याश्रयत्वं फलव्याप्यत्वमिति भेदः। उक्तेऽर्थे वृद्धसम्मतिमाह—फलव्याप्यत्वमिति। फलव्याप्यत्वाभावं सम्मत्यन्तरेण साधयति—स्वयम्प्रकाशेति। ननु ब्रह्म फलव्याप्यं साभासान्तःकरणव्यङ्ग्यत्वात्प्रत्यक्षत्वाद्वा घटादिवद्यद्वा ब्रह्माकारा वृत्तिः सकर्मिकापरोक्षवृत्तित्वाद्घटादिवृत्तिवदित्याशङ्क्य पूर्वस्मिन्ननुमाने जडत्वमुपाधिरुत्तरस्मिंस्तु जडविषयत्वमुपाधिरित्यभिप्रेत्याह—जडपदार्थेति। प्रतिज्ञातमर्थं सदृष्टान्तमुपपादयति—तथा हीत्यादिना। इतिशब्दोऽनुभववाक्यार्थनिरूपणसमाप्त्यर्थः ॥२९॥

इदानीं "[1]आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इतिन्यायमाश्रित्यैवंविधसाक्षात्काररूपानुभवदार्ढ्यपर्यन्तमनुष्ठेयं श्रवणादिसाधनजातं निरूपयितुमारभते—एवमित्यादिना। तथा च [2]श्रुतिः—"तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः" इति पाण्डित्यबाल्यमुनिशब्दैः क्रमेण श्रवणमननिदिध्यासनानि विधत्ते। तथा—

---

१. *Brahmasūtra* 4. 1. 1. २. *Brih* 3. 5. 1.

"तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्-
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥"

इति[१] श्वेताश्वतरीयो मन्त्रः समाधिमनुष्ठेयं सूचयति । "[२]सहकार्यन्तरविधि-पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्" इतिन्यायेनायमर्थो निर्णीतः । श्रवणा-दीनां लक्षणमाह—**श्रवणं नामे**त्यादिना । "गतिसामान्यात्[३]" इतिन्यायमा-श्रित्य अशेषवेदान्तानामित्युक्तम् । "[४]न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि' इतिन्यायमाश्रित्य अद्वितीयवस्तुनीत्युक्तम् ।

लिङ्गानि कानीत्यपेक्षायां तानि विभजते---**लिङ्गानि त्विति** । उपक्रमोप-संहाराख्यमाद्यं लिङ्गं लक्षयित्वोदाहरति—**यथा छान्दोग्य** इति । पुनः-पुनरित्यस्य भावः पौनःपुन्यम् । तत्रैव छान्दोग्यषष्ठे मानान्तराविषयीकरण-माचार्यवान्पुरुषो वेदेति सूचितमिति शेषः । तदनुष्ठानस्य चेति[५] सगुण-विद्याभिप्रायेणोक्तम् । आचार्यवान्पुरुषो वेदेति साहचर्यादिहोदाहृतं न पुनः फलवचनं तत् । तस्य तावदिति तु फलवचनमिहोदाहरणमिति द्रष्टव्यम् । उदाहरणान्तरं स्पष्टार्थम् । तथा च न्यायो वाचारम्भणश्रुतेरुपपत्तिपरत्वनिर्णय-परः "[६]तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" इति ॥

एवं शाखान्तरेष्वप्युपक्रमोपसंहारादि निरूपणीयम् । तथा हि बृहदारण्यके तावत्—"[७]आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति" इत्युपक्रमः । "[८]पूर्ण-मद" इत्युपसंहारः । "[९]स एष नेति नेत्यात्मा" इत्यभ्यासः । "[१०]तं त्वौपनिषदं पृच्छामि" इत्यपूर्वत्वं सूचितम् । "[११]अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि", "[१२]ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इत्यादि फलम् । "[१३]तद्यो यो देवानां" इत्या-द्यर्थवादः । "स[१४]यथा दुन्दुभेः" इत्याद्युपपत्तिः ॥

तथा तैत्तिरीयके—"[१५]ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्युपक्रमः । "[१६]आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्युपसंहारः । "स[१७] यश्चायम्" इत्यभ्यासः । "यो[१८]वेद निहितं गुहायां" इत्यपूर्वतासूचनम् । "[१९]अभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति" इति फलश्रुतिः । "[२०]सोऽकामयत" इत्याद्यर्थवादः "[२१]अस-

---

१. *Śwet* 1. 10. २. *Brahmasūtra* 3. 4. 47. ३. *Idem.* 1. 1. 10. ४. *Idem.* 3. 2. 11. ५. वेत्ति. M. ६. *Idem.* 2. 1. 14. ७. *Bṛih.* 1. 4. 7. ८. *Idem.* 5. 1. 1. ९. *Idem.* 3. 9. 26. १०. *Idem.* ११. *Idem.* 4. 2. 4. १२. *Idem.* 4. 4. 6. १३. *Idem.* 1.4. 10. १४. *Idem.* 2. 4. 7. १५. *Tait.* 2. 1. 1. १६. *Idem.* 3. 6. 1. १७. Idem. 2. 8. 1. १८. *Idem.* 2. 1. 1. १९. *Idem.* 2. 7. 1. २०. *Idem.* 2. 6. 1. २१. *Idem.*

न्नेव स भवति असदब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः" इति, "को[1] ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इत्युपपत्तिः ।।

तथा मुण्डके च—"अथ[2] परा यया तदक्षरमधिगम्यते" इत्युपक्रमः। "[3]ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्" इत्युपसंहारः। येनाक्षरं[4] पुरुषं वेद सत्यं", "[5]तदेतदक्षरं ब्रह्म", "[6]तमेवैकं जानथ आत्मानम्" इत्याद्यभ्यासः। "न[7] चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" इत्यारभ्य "[8]वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" इत्यन्तेनापूर्वतासूचनम्। "[9]निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति", "ब्रह्म[10] वेद ब्रह्मैव भवति" इति फलश्रुतिः। "[11]यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः" इत्याद्यर्थवादः। "[12]कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञारूपा ह्युपपत्तिः। एवमैतरेयादिष्वपि शाखान्तरेषूपक्रमाद्यूहनीयम् ।।

मननं लक्षयति—**मनन त्विति** केवलं पुरुषबुद्ध्युत्प्रेक्षितशुष्कतर्कव्यावृत्त्यर्थं **वेदान्तनुगुण°** इति विशेषणम्।

> "[13]**आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्रविरोधिना।**
> **यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।।"**

इति स्मृतेः। अत्र धर्मशब्दो ब्रह्मणोऽप्युपलक्षणार्थः। अनवरतपदं मननस्यावश्यकत्वद्योतनार्थम् ।।

निदिध्यासनलक्षणमाह—**विजातीय°** इति। चित्तस्य ज्ञेयात्मना निश्चलावस्थानं समाधिस्तं विभज्य लक्षयति—**समाधिरित्यादिना**। सविकल्पकः सम्प्रज्ञातसमाधिर्निर्विकल्पकोऽसम्प्रज्ञातसमाधिरिति साम्प्रदायिकी संज्ञा द्रष्टव्या। तत्रेत्युद्दिष्टसमाधिद्वयं सप्तम्यर्थः। ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयं चेति यो विकल्पो विभागोल्लेखस्तस्य लयोऽभावस्तदनपेक्षया ज्ञात्रादिविकल्पोल्लेखपूर्वकमिति यावत्। **अद्वितीय°** इति च्छेदः। सविकल्पकसमाधिलक्षणार्थमुदाहरणेन प्रत्याययति—**तदा मृदिति**। यथा मृद्विकारे गजे कुम्भकारादिनिर्मिते गजोऽयमित्यस्यां बुद्धौ गजाकारोल्लेखेऽपि मृन्मात्रमेव सत्यं भासते गजाकारस्य मिथ्यात्वनिश्चयादेवं ब्रह्माकारायां वृत्तौ ज्ञात्राद्याकारे उल्लिख्यमानेऽपि ब्रह्मैव सत्यं भासते न ज्ञात्रादिविकल्प इत्यर्थः ।।

---

१. *Tait.* 2. 7. 1. २. *Muṇḍ.* 1. 1. 5. ३. *Idem.* 2. 2. 11. ४. *Idem.* 1. 2. 18. ५. *Idem.* 2. 2. 2. ६. *Idem.* 2. 2. 5. ७. *Idem* 3. 1. 8. ८. *Idem.* 3. 2. 6. ९. *Idem.* 3. 1. 3. १०. *Idem.* 3. 2. 9. ११. *Idem.* 2. 1. 1. १२. *Idem.* 1. 1. 3. १३. *Manu.* xii. 106.

कथं तत्र ब्रह्म भासत इत्यपेक्षायां पूर्वाचार्यसम्मत्युदाहरणेन तत्स्वरूपमाह— तदुक्तमभिनीयेति। अभिनयभङ्गचेष्टाविशेषं कृत्वेत्यर्थः। दृशिस्वरूपं चैतन्यघनं "विज्ञानघन[1] एव" इत्यादिश्रुतेः। गगनोपमं सर्वगतं "आकाशवत्सर्वगतञ्च" इतिश्रुतेः। परं मायातीतं "[2]अक्षरात्परतः परं" इत्यादिश्रुतेः। सकृद्विभातमेकदैव कृत्स्नमभिव्यक्तं "[3]सकृद्दिवा हैवास्मै भवति" इत्यादिश्रुतेः। तुशब्दः पादपूरणार्थः। अजं जन्मादिविकारशून्यं "न[4] जायते म्रियते वा विपश्चित्" इत्यादिश्रुतेः। एकं सजातीयविजातीयशून्यं "एको[5] देवः", "[6]एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" इतिश्रुतेः। अक्षरं कूटस्थं नित्यं "येनाक्षरं[7] पुरुषं वेद सत्यम्" इतिश्रुतेः। अलेपकं "निरवद्यं[8] निरञ्जनम्" इतिश्रुतेः। सर्वगतं सर्वानुस्यूतं सन्मात्रं "[9]यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्" इत्यादिश्रुतेः। यदद्वयं स्वागतभेदशून्यं "[10]अशब्दमस्पर्शमरूपम्" इत्यादिश्रुतेः। तदेव चाहमस्मि "अहं[11] ब्रह्मास्मि" इतिश्रुतेः। अतोऽहं सततं सर्वदैव विमुक्तो न कदापि बद्धो "विमुक्तश्च[12] विमुच्यत" इतिश्रुतेरिति श्लोकार्थः॥

निर्विकल्पकसमाधिं लक्षयति—निर्विकल्पकस्त्विति। अत्राप्यद्वितीयेतिच्छेदः। अतितरामेकीभावेनावस्थाने दृष्टान्तः—तदा जलेति। दृष्टान्तदर्शितमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—अद्वितीयेति। ननु सुषुप्तावपि ज्ञातृज्ञेयज्ञानविभागानां लयसम्भवात्तत्र निर्विकल्पकसमाधिलक्षणमतिव्याप्नोतीत्यत आह—ततश्चेति। तत्र हेतुमाह उभयत्रेति। सुषुप्तौ बुद्धिरेव नास्ति बुद्धेः कारणात्मनावस्थानस्य तल्लक्षणत्वात्। इह तु बुद्धिवृत्तेरद्वितीयवस्त्वाकाराकारितया अवस्थानाङ्गीकारात्सुषुप्तेर्भेदोपपत्तेरित्यर्थः। नापि मुक्तावतिव्याप्तिस्तत्राविद्यातत्कार्यसंस्काराणामत्यन्तमुच्छेदात्। इह पुनर्व्युत्थानादिव्यवहारदर्शनेन तेषामनुवृत्तेरिष्टत्वात्। नापि जीवन्मुक्तौ प्रसङ्गस्तस्य व्युत्थानदशायामपि बाधितानुवृत्तिमात्रप्रपञ्चावभासेऽपि स्वस्वरूप एवावस्थानात्साधकस्य बाधितानुवृत्तिमात्रप्रपञ्चावभासाभावादिति द्रष्टव्यम्॥३०॥

उक्तनिर्विकल्पकसमाधिस्वरूपोपकारकाण्यङ्गान्याह—अस्येति। तत्र यमानाह—तत्रेति। वाङ्मनःकायैः परपीडावर्जनमहिंसा। सत्यं यथार्थभाषणम्। अस्तेयमदत्तादानरूपपरस्वहरणराहित्यम्। ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गमैथुनवर्जनम् तथा चोक्तं—

---

१. *Brih*. 2. 4. 12. २. *Muṇḍ*. 2. 1. 2? ३. *Chha*. 3. 11. 3. ४. *Katha*. 2. 18. ५. *Śwet*. 6. 11. ६. *Rik-saṁhitā* 10? 114. 5. ७. *Muṇḍ*. 1. 2. 13. ८. *Śwet*. 6. 19. ९. *Muṇḍ*. 2. 2. 5. १०. *Katha*. 6. 15. ११. *Brih*. 1. 4. 10. १२. *Katha*. 5. 1.

"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥" इति ।

अपरिग्रहः समाध्यनुष्ठानानुपयुक्तस्य वस्तुमात्रस्यासङ्ग्रहः ॥

नियमानाह—शौच° इति । शौचं बाह्याभ्यन्तरलक्षणम् । तदुक्तं[1]—

"शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥" इति ।

सन्तोषो यदृच्छालाभसन्तुष्टिरलाभे चाविषादः । तपः कामानशनं "[2]तपो नानशनात्परम्" इतिश्रुतेः । अनशनं च कामानशनमेव । केचित्तु "[3]मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तप" इत्याद्युक्तलक्षणं तप इत्याहुः । सर्वथा तु नात्र चान्द्रायणादिः तपःशब्दार्थस्तस्य समाधिविरोधादिति द्रष्टव्यम् । स्वाध्यायः प्रणवजप उपनिषद्ग्रन्थावृत्तिश्च "ओमित्येवं[4] ध्यायथ आत्मानम्", "[5]उपनिषदमावर्तयेत्" इतिश्रुतेः । ईश्वरप्रणिधानं तस्य मानसैरुपचारैरभ्यर्चनं "तं ह[6] देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" इतिमन्त्रलिङ्गात् ॥

अथासनादीनि कथयति—कर इति । स्वस्तिकादीनीत्यादिपदाद्भद्रवीरासनादिग्रहः । रेचकः प्राणवायोः शनैर्वामनासापुटाद्दक्षिणनासापुटाद्वा सव्यापसव्यन्यायेन बहिर्निःसारणम् । पूरकस्तस्य तथैवान्तःप्रवेशनम् । कुम्भकस्तु पूरितस्य वायोरन्तरेव निरोध इति भेदः । समाधेर्ध्यानस्वभेदं द्योतयितुं विच्छिद्य विच्छिद्येत्युक्तम् । सुगममन्यत् ॥३१॥

एवं साङ्गसमाधिमनुतिष्ठतो यदातिवृष्टिरनावृष्टिराष्ट्रविप्लवव्याघ्रचौरज्वराद्युपद्रवविघ्नसम्भावना भवति तदा तन्निवृत्तिर्लोकावगतसाधनावलम्बनेन कार्या । यदा तु मनस्येव विघ्नाः प्रादुर्भविष्यन्ति तदा तन्निवारणोपायमुपदेष्टुकामस्तत्रत्यान्विघ्नान्निर्दिशति—अस्येति । लयादीन्विभज्य लक्षयति—लयस्तावदिति ॥३२॥

---

१. *Yājñavalkyagītā* i 69, and *Dakṣasaṁhitā*. 5. २. *Mahānārā*. 21. 2. ३. *Upadeśasāhasrī* xvii ४. *Muṇḍ*. 2. 2. 6. ५. *Āruṇeya*. 2. ६. *Śvet*. 6. 18.

उत्कलयादिविघ्नचतुष्टयाभावेन चित्तस्य ज्ञेये वस्तुनि यन्नैश्चल्यं तद्दृष्टान्तेन निर्विकल्पकसमाधिलक्षणमित्याह—तदेति। विघ्ननिवृत्त्युपायं सम्मतिप्रदर्शनेनाह—तदुक्तमित्यादिना। लये सम्बोधयेत् उत्तम्भयेत्सोत्साहं मनः कुर्यादिति यावत्। विक्षिप्तं चित्तं धैर्यावलम्बनेन पुनः शमयेत्पुनरद्वितीयवस्तुनिष्ठं कुर्यादित्येतत्। सकषायं चित्तं विजानीयात्कलुषितं मे चित्तमिति विज्ञाय चसमेऽद्वितीयचैतन्यात्मनि निवेशयेत्। पुनः शमप्राप्तं तन्न चालयेत्तत्रैव प्रयत्नपूर्वकं स्थिरीकुर्यादित्यर्थः। रसं सविकल्पकानन्दं नास्वादयेत्तदानन्दमात्रेण कृतार्थतां न मन्वीत किन्तु प्रज्ञया विवेकबुद्ध्या निःसङ्गः सविकल्पकानन्देऽनासक्तो भवेदित्यर्थः। एवं विघ्नपरिहारे सति यन्निर्विकल्पकसमाध्यवस्थानं चित्तस्य तद्भगवद्वाक्योदाहरणेन दर्शयति—यथा दीप इति॥३३॥

एवंविधसमाध्यन्तसाधनानुष्ठानपरिपाके सति पूर्वोक्तप्रकारेण ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारे दृढीभूतेऽविद्यातत्कार्यात्मकसर्वसंसारनिवृत्तौ जायमानायां काकतालीयन्यायेन यदि प्रारब्धकर्मक्षयात्तत्काल एव विदुषः शरीरपातस्तदा सद्य एव मुक्तिः स्यात्। यदा तु ज्ञानोत्पत्तिसमये प्रारब्धकर्म न क्षीयते तदा तत्क्षयपर्यन्तं शरीरस्यावस्थानाज्जीवन्नेव मुक्तसंसारो भवति। तस्य लक्षणं वक्तुं प्रतिजानीते—अथेति। अथ शब्दः साधननिरूपणानन्तर्यार्थः। लक्षणमाह—जीवन्मुक्तो नाम इति। ब्रह्मनिष्ठत्वं वेदान्तवेद्यब्रह्मात्मनावस्थितत्वम्। ब्रह्मनिष्ठो जीवन्मुक्त इत्युक्ते परमार्थतो ब्रह्मनिष्ठत्वममुक्तस्याप्यस्तीत्यतो विशिनष्टि—अखिलबन्धरहित इति। परममुक्तवैधर्म्यसिद्धये प्रारब्धकर्ममात्रशेष इति विशेषणान्तरमध्याहर्तव्यम्। कथमसौ मुक्त इत्यपेक्षायामाह—अज्ञानतत्कार्य° इति। अज्ञानं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमित्याद्युक्तलक्षणम्। स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चद्वयम्। तत्कार्यं सञ्चितं कर्म ज्ञानोत्पत्तेः प्रागुत्पन्नमनारब्धफलम्। संशयो देहाद्यतिरिक्तो ब्रह्मस्वरूप आत्मा भवति न वेति। अथवा ब्रह्मात्मविज्ञानान्मोक्षो भवेन्न वेत्यादिविचिकित्सा। विपर्ययो देहादिष्वात्माभिमानादिलक्षणः। आदिशब्दाद्बाह्यप्रपञ्चे सत्यत्वबुद्धिः। एतेषां बाधितत्वान्मुक्त इत्यर्थः। एतत्कदा स्यादित्याकाङ्क्षायामाह—स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृते सतीति°। साक्षात्कारे साधनमाह—स्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेनेति॥

तत्त्वसाक्षात्कारानन्तरं मुक्त एवं भवतीत्यत्र प्रमाणमाह—भिद्यत इति। हृदयग्रन्थिरहङ्कारश्चिज्जडात्मकत्वाद् ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः। सर्वसंशया दृष्टा-

दृष्टार्थविषया विचिकित्साः । अस्यात्मनः कर्माणि जीवन्मुक्तिपक्षे प्रारब्धातिरिक्तानि सञ्चितानि क्रियमाणानि च । तथा च न्यायः—"[1]तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्" इति । परममुक्तिपक्षे प्रारब्धसहितान्यपि क्षीयन्ते । कदा । तस्मिन्निष्प्रपञ्चे ब्रह्मात्मनि दृष्टे सति साक्षात्कृते सति । कथम्भूते । परावरे सर्वात्मके । अत्र सर्वात्मकत्ववचनं तद्व्यतिरिक्तस्याभावपरम् । चौरः स्थाणुरितिवद्बाधायां सामानाधिकरण्यस्य विवक्षितत्वात् । यद्वा परो हिरण्यगर्भः सोऽवरो न्यूनो यस्मात्तस्मिन्परावर इत्याथर्वणीयश्रुत्यर्थः । आदिपदात् "यस्तु सर्वाणि भूतानि", "यस्मिन्सर्वाणि भूतानि" इति च मन्त्रद्वयमीशावास्यगतं[2] परिगृह्यते । श्रुतेश्चेति । चकारात् "[3]यथैधांसि समिद्धोऽग्निः", "यज्ज्ञात्वा[4] न पुनर्मोहं", "ब्रह्मभूतः[5] प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति" इत्यादिस्मृतयः समुच्चीयन्ते । न च जीवन्मुक्तौ प्रमाणाभावः "तद्यथा हि[6] निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते", "तस्य[7] तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इत्यादिश्रुतेः "[8]प्रजहाति यदा कामान्", "[9]प्रकाशं च प्रवृत्तिं च" इत्यादिस्मृतेश्च प्रमाणत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥३४॥

ननु जीवन्मुक्तो देहेन्द्रियादिभिर्व्यवहरति न वा ? आद्ये तस्य बद्धान्न विलक्षणता । द्वितीये देहस्यानुपयोगात्सद्यःपातप्रसङ्ग इत्याह—**अयं तु** इति । प्रारब्धफलानि भुज्यमानानि पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि च कर्माणि साक्षितया कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानहीनोऽन्यदृष्ट्या पश्यन्निव भासमानोऽपि परमार्थतः स्वदृष्ट्या न पश्यति ज्ञानेन कर्तृत्वाद्यभिमानमूलाज्ञानस्य बाधितत्वाद्बद्धाद्विलक्षण एवायमित्यर्थः । बलवत्प्रयुक्तबाणपाषाणादिवत्प्रवृत्तफलस्य कर्मणो यावद्वेगक्षयं निवारकाभावात्तदधीनस्य देहस्य न सद्यःपातप्रसङ्ग इति द्रष्टव्यम् । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—**यथेन्द्रजालम्** इति । बाधितत्वबुद्धेरनुवृत्तेरित्यर्थः । जीवन्मुक्तो देहादिभिर्व्यवहरन्निव दृश्यमानोऽपि न परमार्थतो व्यवहरतीत्यत्र श्रुतिं प्रमाणयति—**सचक्षुरचक्षुरिवेति** । चक्षुरादिमानपि प्रपञ्चरूपाद्यदर्शनाच्चक्षुरादिहीन इव भवतीत्यर्थः । आदिपदात् "[10]तदेजति तन्नैजति" इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः । उक्तेऽर्थे पूर्वाचार्यसम्मतिमाह—**उक्तं च सुषुप्तवदिति** । जाग्रति जाग्रदवस्थायां द्वयं पश्यन्नपि यः सुषुप्तिं गतवद्विशेषतो न पश्यति स आत्मवित् । विशेषादर्शने हेतुः—**अद्वयत्वतः** इति । द्वयस्य बाधितत्वादित्यर्थः तथा कुर्वन्नपि न करोति

१. *Brahmasūtra* 4. 1. 13. २. *Īśa* 6, 7. ३. *Gītā* iv. 37. ४. *Idem*. iv. 35. ५. *Idem*. xviii. 54. ६. *Brih*. 4. 4. 7. ७. *Chhā*. 6. 14. 2. ८. *Gītā* ii. 55. ९. *Idem*. xiv. 22. १०. *Īśa*. 5.

यतो निष्क्रिय इति योजना । तथा च वसिष्ठः—"सुषुप्तवद्यश्चरति[१] स मुक्त इति कथ्यते" इति ॥३५॥

नन्वसौ जीवन्मुक्त इति कथमन्यैर्ज्ञायत इति तदाह—अस्य ज्ञानात्पूर्वमिति । अशुभवासनानां साधकावस्थायामेव निर्वर्तितत्वाच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । ननु शास्त्रविहितं शुभमेवाचरतो न साधकाद्भेद इत्यपरितुष्यन्निवाह—'शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा' इति । औदासीन्यमुपेक्षा "हिंसानुग्रहयोरनारम्भी" इति गौतमस्मरणात् ।[२]

"[३]निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥"

इति व्यासवचनात् । "[४]अमौनं मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण" इति बृहदारण्यकश्रुतेश्च । तथा चौदासीन्यमेव मुक्तलक्षणं न विधिपरतन्त्रप्रवृत्तिमत्त्वं न वा निषेधातिक्रम इति भावः ॥

विधिनिषेधशास्त्रपरवशत्वं चेन्मुक्तस्य न भवेत्तर्हि यथेष्टाचरणं प्राप्नोतीत्याशङ्कां नैष्कर्म्यसिद्धिवाक्येन प्रत्याचष्टे—तदुक्तं बद्ध इति । सतत्त्वं याथात्म्यम् । मुमुक्षोरपि नास्ति यथेष्टचेष्टा विदुषो मुक्तस्य कुत एव सा । तदप्युक्तम्[५]—

यो हि यत्र विरक्तः स्यान्नासौ तस्मिन्प्रवर्तते ।
लोकत्रयाद्विरक्तत्वान्मुमुक्षुः किमितीहते ॥
क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नामूढस्तज्जिघत्सति ॥
रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु ।
कुतः शाड्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः ॥" इत्यादि ॥३६॥

नन्वविद्याकार्यत्वाद्यथेष्टचेष्टाया अविद्यानिवृत्त्या तन्निवृत्तिवदमानित्वादीनामद्वेष्टृत्वादीनामप्यविद्याकार्यत्वाविशेषान्निवृत्तिरेव स्यान्नानुवृत्तिरित्याशङ्क्य नियोगवशादनुवृत्त्यभावेऽपि निवृत्तिशास्त्रविरुद्धस्वभावत्वान्न निवर्तेरन्निति दर्शयति—तदानीमिति । तत्रापि नैष्कर्म्यसिद्धिमुदाहरति तदुक्तमुत्पन्ना इति ॥३७॥

---

१. *Yogavāsiṣṭha* 5., 16. 19. २. *Gautamadharmaśāstra* iii. 24.25 ३. Mahābhārata 12. 9430 (chap. 264.) ४. *Brih.* 3. 5. 1. ५. *Naiṣkarmyasidhi* iv. 65-67.

इदानीमुक्तं जीवन्मुक्तमनूद्य तस्य परममुक्तिं दर्शयति—किं बहुना इति । देहयात्रा देहस्थितिः । तन्मात्रार्थं न त्विन्द्रियप्रीत्यर्थम् । सुखदुःखलक्षणानि सुखदुःखसाधनानि । प्रारब्धफलानि भोग्यानि । अनुभवन्नसङ्गतया भुञ्जानः । कथं भुञ्जान इत्युच्यते अन्तःकरणाभासादीनां विषयाकारवृत्तीनां साक्षितयावभासकः सन्निति यावत् । तदवसाने प्रारब्धफलभोगावसाने जात आश्रयाभावात्प्राणे ब्रह्मणि लीने सति पूर्वसिद्धज्ञानेनैव प्रारब्धकर्माक्षिप्ताज्ञानतत्कार्यतत्संस्काराणामपि विनाशात्सञ्चितकर्मणां ज्ञानेन दाहात्क्रियमाणैश्चासंश्लेषात्पुनर्देहान्तरहेत्वभावात्परमकैवल्येत्यादिनोक्तब्रह्मस्वरूप एवावतिष्ठते विद्वानित्यर्थः ॥

निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारवतः प्राणा नोत्क्रमन्ति किन्तु प्रत्यग्ब्रह्मण्येव तप्तायःपीताम्बुवल्लीयन्त इत्यत्र प्रमाणमाह—न तस्येति । मुक्तेरसाध्यत्वे काठकश्रुतिं प्रमाणयति—विमुक्तश्च विमुच्यत इति । पूर्वमपि मुक्त एव सन्नविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपोपाध्यविवेकनिबन्धनस्य संसाराभासस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयप्रत्यग्ब्रह्मरूपोऽहमस्मीत्यपरोक्षज्ञानाद्विलयापेक्षया विमुच्यत इत्यर्थः । वस्तुतस्तु न बन्धो न वा मोक्षः । तथा च श्रुतिः—

"न[2] निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥"

इत्याद्याः ॥३८॥

विद्यासीतावियोगक्षुभितनिजसुखः शोकमोहाभिपन्न-
श्चेतःसौमित्रिमित्रो भवगहनगतः शास्त्रसुग्रीवसख्यः ।
हत्वास्ते दैन्यवालिं मदनजलनिधौ धैर्यसेतुं प्रबध्य
प्रध्वस्ताबोधरक्षःपतिरधिगतचिज्जानकिः स्वात्मरामः ॥

वेदान्तसारविवृतिं रामतीर्थाभिधो यतिः ।
चक्रे श्रीकृष्णतीर्थश्रीपदपङ्कजषट्पदः ॥

इति श्रीकृष्णतीर्थपूज्यपादशिष्यश्रीरामतीर्थयतिविरचिता
विद्वन्मनोरञ्जनीनाम्नी वेदान्तसारटीका समाप्ता ॥

—:०:—

2. Gauḍapāda's *Kārikās* 2. 32. Cf. *Brahmabindu* 10.

सङ्केतनिर्देश

ई० उ०	ईशोपनिषद्
उ० सा०	उपदेशसाहस्री
क० उ०	कठोपनिषद्
गौ० का०	गौडपादकारिका
छा० उ०	छान्दोग्योपनिपद्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीयब्राह्मण
बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र० सू० शा. भा.	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य
मा० उ०	माण्डूक्योपनिषद्
वि० चू०	विवेकचूडामणि
श्वे० उ०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सि० ले० स०	सिद्धान्तलेशसंग्रह

पारिभाषिकशब्दपरिचय

अजहल्लक्षणा—

वाच्यार्थ का परित्याग किए बिना वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति को अजहल्लक्षणा कहते हैं।

"तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति।"

वेदान्तसार २६

"वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनी वृत्तिः अजहल्लक्षणा। यथा "शोणो धावति।" विद्वन्मनोरञ्जनी

अज्ञान—

"अज्ञान सत् एवं असत् रूप से अनिर्वचनीय त्रिगुणात्मक, ज्ञान का विरोधी एवं भाव रूप है। यत्किञ्चित्—(कुछ है) रूप में उसकी प्रतीति होती है।

अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् 'देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादिश्रुतेश्च।" वेदान्तसार ६

अद्वैत—

अद्वैत शब्द का अर्थ द्वैतविरोधी एवं भेदरहित तत्त्व है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अद्वैत तत्त्व प्रमाण आदि का विषय नहीं है।

"नह्यदेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति॥" ब्रह्मसूत्र—शाङ्करभाष्य १।१।४

अधिकारी—

जिसने इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में वेदों एवं वेदाङ्गों का विधिपूर्वक अध्ययन कर समस्त वेदान्त के अर्थ को समझ लिया है तथा काम्य और निषिद्ध कर्मों के परित्यागपूर्वक, नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त एवं उपासना-कर्मों का अनुष्ठान करने से समस्त पापों के दूर हो जाने के कारण, जिसका अन्तःकरण निर्मल हो गया है तथा जो साधन-चतुष्टय से सम्पन्न है, उसे ही (ब्रह्मविद्या के अध्ययन का) अधिकारी कहते हैं।

"अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन्

जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तःसाधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता।" वेदान्तसार ४

अध्यारोप—

वस्तु में अवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं। ब्रह्म वस्तु एवं उसमें आरोपित जड़ प्रपञ्च अवस्तु है। 'वस्तुनि अवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।'

वेदान्तसार ६

अध्यास—

जो वस्तु जिसमें नहीं है उसको उस वस्तु में देखना अध्यास है। अध्यास अविद्यारूप है। शुक्ति में रजत एवं रज्जु में सर्प का भ्रम अध्यास रूप ही है।

'अतस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यासः।' ब्र० सू० शा० भा० १।१।१

'अध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते।' ब्र० सू० शा० भा० उपोद्घात

अनिर्वचनीय—

वेदान्त में सत् एवं असत् से विलक्षण को अनिर्वचनीय कहते हैं। सत् का अर्थ परमार्थ सत् एवं असत् का अर्थ अलीक असत् (शशश्रृंग या आकाशकुसुम) है। जो इन दोनों से विलक्षण है, वह अनिर्वचनीय है। माया एवं मायिक जगत् अनिर्वचनीय है, क्योंकि वह न तो पारमार्थिक सत् ब्रह्म की तरह सत् और न शशश्रृंग की तरह सर्वथा असत्।

अनुबन्ध—

किसी ग्रन्थ के अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन को अनुबन्ध कहते हैं।

"तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि।" वेदान्तसार, ३

अन्तर्यामी—

अन्तर्यामी का अर्थ है भीतर से नियमन करने वाला। अज्ञान की समष्टि उपाधि से युक्त चैतन्य को वेदान्त में अन्तर्यामी कहा जाता है।

"एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणम् ईश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलज्ञानावभासकत्वात्।"

वेदान्तसार ७

अपरिग्रह—

समाधि का अनुष्ठान करने में जिन वस्तुओं का कोई उपयोग नहीं है उनका संग्रह न करना अपरिग्रह है।

"समाध्यनुष्ठानानुपयुक्तस्य वस्तुमात्रस्यासङ्ग्रहः।" विद्वन्मनोरञ्जनी

"विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः।"

व्यासभाष्य २।३०

अपवाद—

अपवाद का अर्थ आरोपित वस्तु का निराकरण है। अध्यारोप के द्वारा वस्तु (ब्रह्म) में अवस्तु (प्रपञ्च) का आरोप किया जाता है, किन्तु अपवाद के द्वारा यह सिद्ध किया जाता है कि वस्तु में जिस अवस्तु का आरोप किया जाता है, वह सत्य नहीं है, अपितु वस्तु (ब्रह्म) मात्र ही सत्य है। इसी तथ्य को रस्सी और सर्प के दृष्टान्त से भी समझा जा सकता है। जिस प्रकार रज्जु में आरोपित सर्प का मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार वस्तु-स्वरूप ब्रह्म में आरोपित जगत् भी मिथ्या है।

"अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद् वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। वेदान्तसार, ११। विशेष देखिए विवेक।

अभ्यास—

प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु का मध्य में पुनः-पुनः प्रतिपादन करना अभ्यास है।

"प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः।"

वेदान्तसार ३०

अवस्तु—

अज्ञानादि सम्पूर्ण जड़समूह अवस्तु कहलाता है।

'अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु॥' वेदान्तसार ६

अविद्या—

अविद्या का अर्थ अज्ञान है। अविद्या जीवाश्रया है। अविद्या के कारण ही जीव परमार्थ सत् स्वरूप ब्रह्मतत्त्व का बोध करने में असमर्थ होता है तथा मिथ्या जगत् को सत्य समझ लेता है। इस प्रकार समस्त प्रपञ्च की जननी अविद्या ही है। अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः। ब्र० सू० शा० भा० १.४३

अस्तेय—

विना दी हुई वस्तु को ग्रहण करने से बचना अर्थात् दूसरे की वस्तु का अपहरण न करना अस्तेय है।

"अस्तेयमदत्तादानरूपपरस्वहरणसाहित्यम्।" विद्वन्मनोरञ्जनी

"स्तेयम शास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।" व्यासभाष्य २।३०

अहं ब्रह्मास्मि—

वेदान्तसार में 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य को 'अनुभव वाक्य' संज्ञा से अभिहित किया गया है। जब आचार्य के द्वारा अध्यारोप और अपवाद के माध्यम से अधिकारी शिष्य को 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थबोध करा दिया जाता है, तो अधिकारी शिष्य के चित्त में "मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाववाला अद्वितीय ब्रह्म हूँ" इस प्रकार की ऐक्यबोधक चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। एवंविध अनुभूति के बोधक वाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' को वेदान्तसार में अनुभव-वाक्य कहा गया है, 'अहं ब्रह्मास्मि' अलौकिक वृत्ति ही है, ब्रह्मसाक्षात्कार की स्थिति नहीं।

अहिंसा—

वाणी, मन और शरीर से दूसरों को पीड़ा न पहुंचाना अहिंसा है।

"वाङ्मनःकायैः परपीडावर्जनमहिंसा।" विद्वन्मनोरञ्जनी

"अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। व्यासभाष्य २।१०

आत्मविद्—

अद्वैत का निश्चय (ज्ञान) हो जाने के कारण जो जागरणकाल में भी सुषुप्ति में सोए हुए पुरुष के समान नहीं देखता तथा जो कार्यों को करता हुआ भी, निष्क्रिय रहता है अर्थात् उन कार्यों में लिप्त नहीं होता, उसे आत्मविद् (जीवन्मुक्त) कहते हैं।

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति
द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः
स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः॥

उपदेशसाहस्री १०।१३

आनन्दमयकोश—

ईश्वर के उपाधिभूत समष्टिरूप अज्ञान को आनन्द के प्राचुर्य से युक्त होने के कारण और कोश के समान चैतन्य का आच्छादक होने के कारण आनन्दमय कोश कहते हैं।

"...आनन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः..."

वेदान्तसारः ७

आवरणशक्ति—

अज्ञान की उस शक्ति को आवरण शक्ति कहते हैं, जो स्वयं परिच्छिन्न

होते हुए भी (अज्ञानावरण के प्रसार द्वारा) अपरिच्छिन्न आत्मस्वरूप को उसी प्रकार आच्छादित कर लेती है जिस प्रकार एक छोटा-सा मेघ का टुकड़ा दर्शक के नेत्रों के सम्मुख आकर अनेक योजन विस्तृत सूर्य को भी ढक लेता है और परिणामस्वरूप दर्शक सूर्य को नहीं देख पाता ।

"आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायततमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम् ।"

वेदान्तसार १०

आसन—

हस्त, चरण आदि अङ्गों को स्थिरतापूर्वक किसी विशेष स्थिति में रखना 'आसन' कहलाता है। स्वस्तिक, गोमुख, पद्म एवं हंस आदि भेदों से आसन अनेक प्रकार के माने गए हैं—

"करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि ।"

वेदान्तसार ३१

उपपत्ति—

प्रकरणप्रतिपाद्य विषय को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं, उन्हें उपपत्ति कहते हैं। जैसे जगत् को ब्रह्म का विवर्त सिद्ध करने के लिए 'सौम्येकेन मृत्पिण्डेन' आदि युक्तियाँ उपपत्ति है।

"प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः ।"

वेदान्तसार ३०

उपरति—

श्रवण-मननादि से अतिरिक्त विषयों से हटाई गई—मन-रूप अन्तरिन्द्रिय एवं चक्षु-श्रोत्र प्रभृति बाह्येन्द्रियों का पुनः श्रवण आदि से अतिरिक्त विषयों में प्रवृत्त न होना, उपरति कहलाता है अथवा शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक आदि कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग (संन्यास) भी उपरति है।

"निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिः अथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः ।" वेदान्तसार ४

उपादान—

उपादान कारण वह सामग्री है जिससे कार्य का निर्माण होता है। उदाहरणतः तन्तु पट का उपादान कारण है। वेदान्त में स्वोपाधिभूत अज्ञान की प्रधानता से ईश्वर ही उपादान कारण है।

"अज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति ।"

वेदान्तसार ११

"यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाह्यक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।"
मुण्डकोपनिषद्

उपासना—

चराचर जगत् को ब्रह्म का रूप जानकर उसमें आदरपूर्वक चिरकाल-पर्यन्त अपनी मनोवृत्ति को स्थिर करने के लिए किए जाने वाले कर्मों को उपासना कर्म कहते हैं।

"उपासनानि—सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि···" ।
वेदान्तसार ४

"उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्थितं किञ्चिद् आलम्बनमुपादाय तस्मिन् समानचित्तवृत्तिसन्तानकरणं तद्विलक्षणप्रत्ययानन्तरितमिति ।"
छान्दोग्योपनिषद् भाष्य भूमिका

कषाय—

लय और विक्षेप का अभाव होने पर भी जब चित्तवृत्ति रागादि वास-नाओं के कारण जडभाव को प्राप्त हो जाती है और फलतः अखण्ड ब्रह्म का अवलम्बन नहीं कर सकती तो चित्तवृत्ति की उस अवस्था को निर्विकल्पक समाधि का 'कषाय' नामक विघ्न कहा गया है।

"लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्ते रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वनव लम्बनं कषायः ।" वेदान्तसार ३२

कारणशरीर—

ईश्वर का समष्टिभूत अज्ञान सब का कारण है, अतः इसे कारणशरीर कहते हैं।

"ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् कारणशरीरम्······ ।"
वेदान्तसार ७

कुम्भक—

प्राणवायु को बाहर या भीतर ले जाने का प्रयत्न न करके वह जहाँ पर हो वहीं पर उसकी गति को स्तम्भित कर देना कुम्भक प्राणायाम है।

"न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम् ।"
"सुनिश्चलं धारयति क्रमेण कुम्भाख्यमेतत् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।"
भास्वती २।५०

"रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवल कुम्भकः" ।। वसिष्ठ संहिता

चार्वाक—

भारत में भौतिकवादियों को 'चार्वाक' कहा जाता है। ये लोग समस्त जगत् को पृथिवी आदि चार भूतों का परिणाम मानते हैं। चैतन्य आत्मा को इन भूतों से पृथक् नहीं मानते। आत्मा का अस्तित्व न मानने से परलोक, पुनर्जन्म श्राद्ध और कर्मफल में भी इनकी आस्था नहीं है। ये केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। इनका दर्शन है—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।"

इन चार्वाकों में भी कई भेद हैं, जैसे—स्थूलदेहात्मवादी, इन्द्रियात्मवादी प्राणात्मवादी और मनआत्मवादी।

जहदजहल्लक्षणा—

वाच्यार्थ के एक अंश का परित्याग करके अवशिष्ट अंश का बोध कराने वाली वृत्ति 'जहदजहल्लक्षणा' कहलाती है। इस वृत्ति के द्वारा वाच्यार्थ के एक भाग का परित्याग कर दिया जाता है और एक भाग को ग्रहण कर लिया जाता है।

"तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्काल-विशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाविद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविकलं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा 'तत्त्वमसी'ति..."

वेदान्तसार २७

"वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहदजहल्लक्षणा ।"

विद्वन्मनोरञ्जनी

जहदजहल्लक्षणा को ही भागलक्षणा या भागत्यागलक्षणा भी कहते हैं।

"तत्त्वमस्यादिविषयेषु लक्षणा भागलक्षणा ।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ।।" पञ्चदशी ७।७४

जहल्लक्षणा—

वाच्यार्थ का पूर्णरूप से परित्याग करके वाच्यार्थ से सम्बद्ध किसी दूसरे अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति को जहल्लक्षणा कहते हैं।

"तत्र तु गंगाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वा-

द्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते।" वेदान्तसार २६

"वाच्यार्थम् अशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा यथा गंगायां घोषः।" विद्वन्मनोरञ्जनी

जीवन्मुक्त—

स्वरूपभूत ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्मविषयक अज्ञान के नाश द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर, जिसका अज्ञान एवं तत्कार्य तथा सञ्चित कर्म, संशय और विपर्यय (विपरीत ज्ञान) आदि नष्ट हो जाते हैं और फलतः जो सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है, ऐसा ब्रह्मनिष्ठ पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है—

"जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा, स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः।" वेदान्तसार ३४

जीवन्मुक्ति—

जब जीव को शरीर रहते हुए ही ब्रह्म तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तो उस स्थिति को जीवन्मुक्ति की स्थिति कहते हैं। प्रारब्ध कर्मों का नाश न होने के कारण तत्त्वज्ञानी भी जीवन्मुक्तावस्था में शरीर धारण करता है।

"तर्हि तत्त्वसाक्षात्कारे जातेऽप्याप्रारब्धक्षयमविद्यालेशानुवृत्त्या जीवन्मुक्तिरस्तु।"
विवरणप्रमेयसंग्रह १।१

तत्त्वमसि—

अर्थात् 'तुम वही हो।' प्रकृत में 'तत्' पद परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य का वाचक है एवं 'त्वम्' पद अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य का बोधक है। सदानन्द ने सामानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यभाव तथा लक्ष्यलक्षणभाव नामक सम्बन्धों के आश्रयण से 'तत्त्वमसि' वाक्य को अखण्ड (निर्गुणब्रह्मरूप) अर्थ का बोधक सिद्ध किया है।

"इदं 'तत्त्वमसि' वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मपदार्थयोर्लक्षणभावश्चेति।

"...तथात्र 'तत्त्वमसि' इति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।" वेदान्तसार, २३

तितिक्षा—

शीत-उष्ण, जय-पराजय, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करना तितिक्षा कहलाता है।

"तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता।" वेदान्तसार ४

तैजस्—

सूक्ष्मशरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को तेजोमय अन्तःकरण की उपाधि से विशिष्ट होने के कारण तैजस् कहते हैं।

"एतद्व्यष्टयुपहितं चैतन्यं तेजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्।" वेदान्तसार १४

'प्रविविक्तभुक् तैजसः।'

'स्वप्नस्थानस्तैजस उकारः।' माण्डूक्योपनिषद् १।४

'ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः'; 'तैजसः प्रविविक्तभुक्'। गौडपादकारिक १।१

'सूक्ष्मभुक् चतुरात्मा तैजसः।'

'स्वप्नस्थानश्चतुरात्मा तैजसः।' नृसिंहोत्तरतापनी १।१-२

दम—

श्रवण-मननादि से अतिरिक्त विषयों से चक्षु-श्रोत्र आदि बाह्येन्द्रियों का हटा लेना दम कहलाता है।

"दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्त्तनम्॥" वेदान्तसार ४

धारणा—

अन्तःकरण को अद्वितीय वस्तु ब्रह्म में नियुक्त करना धारणा कहलाता है—

"अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा।" वेदान्तसार ३१

ध्यान—

अद्वितीय वस्तु ब्रह्म में रुक-रुक कर अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रवाहित करना 'ध्यान' कहलाता है।

"तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्।" वेदान्तसार ३१

नित्य—

जिन कर्मों को करने से कोई विशेष पुण्य नहीं होता किन्तु न करने से पाप बढ़ जाता है, वे नित्य कर्म कहे जाते हैं। जैसे—सन्ध्यावन्दनादि।

"नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि।" वेदान्तसार ४

निदिध्यासन—

ब्रह्मभिन्न प्रतीत होने वाले विविध प्रकार के देहादि पदार्थों के प्रति ब्रह्म-भिन्नत्व भावना का त्यागकर, उन सम्पूर्ण पदार्थों को ब्रह्माभिन्न मानना निदिध्यासन है—

"विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यास-नम्।"

वेदान्तसार ३०

निमित्त—

निमित्त कारण वह कारण है, जिसकी प्रेरणा से कार्य की उत्पत्ति होती है। अर्थात् कार्य का प्रयोजन या साधन जिससे कार्य की उत्पत्ति होती है। वेदान्त में अपने चैतन्यांश की प्रधानता से ईश्वर जड़ जगत् का निमित्त कारण है।

"अज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तम्…।" वेदान्तसार ११

नियम—

शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान को नियम कहा गया है—

"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।" वेदान्तसार ३१

निर्विकल्पक समाधि—

जिस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय रूप भेदों के विलीन हो जाने पर अद्वितीय वस्तु ब्रह्म के आकार को धारण करने वाली चित्तवृत्ति का एकमात्र अद्वितीय वस्तु में आत्यन्तिक एकीभाव हो जाता है, उस अवस्था को निर्विकल्पक-समाधि कहते हैं। उस अवस्था में वस्तुतः अद्वितीय वस्तु के आकार की धारणा करने वाली चित्तवृत्ति का बोध न होकर, केवल अद्वितीय वस्तु का ही ज्ञान होता है, जिस प्रकार जल में घुलने के पश्चात् जल का आकार धारण करने वाले लवण का भान न होकर जलमात्र का ही भान होता है—

"निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकार-कारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकारकारित-लवणानवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते।" वेदान्तसार ३०

नैमित्तिक—

किसी निमित्त को उपलब्ध कर अवश्यकर्तव्यता होने के कारण श्रुति

द्वारा अभिहित किए गए कर्म नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं।

"नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि।"

वेदान्तसार ४

"निमित्तमात्रमासाद्यावश्यकर्तव्यत्वमा विहितानि नैमित्तिकानि।"

विद्वन्मनोरञ्जनी

पञ्चीकरण—

सृष्टिविकासार्थं पञ्च भूतों का परस्पर सम्मिश्रण ही पञ्चीकरण है। इस प्रक्रियानुसार पाँचों भूतों के प्रत्येक के दो बराबर भाग करके उन-उन भूतों के आधे-आधे भागों में अन्य-अन्य भूतों के आठवें अंश को मिला देने से पञ्चीकृत महाभूत बनते हैं।

"द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते॥" पञ्चदशी १।२७

तथा वेदान्तसार १५

परमकैवल्य—

एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म का ही त्रिकालाबाधित अस्तित्व होने के कारण तथा नानात्व के अविद्या निर्मित होने के कारण ब्रह्म ही परम कैवल्य कहा जाता है।

पूरक—

प्राणवायु को भीतर खींचकर (जितनी देर सुखपूर्वक रोक सके) भीतर ही रोके रहना पूरक प्राणायाम है।

"बाह्यस्थितं घ्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात्।
नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः॥"

भास्वती २।५०

प्रत्याहार—

इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटा लेना 'प्रत्याहार' कहलाता है—

"इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः।" वेदान्तसार ३१

प्राणायाम—

रेचक (नासिका द्वारा वायु का त्याग), पूरक (नासिका द्वारा वायु का भीतर खींचना) एवं कुम्भकरूप (भीतर खींची गई वायु को भीतर अवरुद्ध किए रहना) लक्षणों वाले प्राण वायु निग्रह के उपाय प्राणायाम कहलाते हैं।

"रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः।"

वेदान्तसार ३१

प्रायश्चित्त—

शास्त्रों में विहित कर्म को न करने से तथा शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्मों को करने से जो पाप उत्पन्न होता है, उसके निवारणार्थ जो कर्म किए जाते हैं उन्हें प्रायश्चित्त कर्म कहते हैं।

"प्रायश्चित्तानि—पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि।" वेदान्तसार ४

"विहितान्तःकरणप्रतिषिद्धसेवारूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चित्तानि।" विद्वन्मनोरञ्जनी

फल—

प्रतिपाद्य आत्मज्ञान अथवा उनके अनुष्ठान का उस विषय में श्रूयमाण प्रयोजन ही फल है।

"...फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्।" वेदान्तसार ३०

फलव्याप्ति—

अन्तःकरण के विषयाकार में परिणत हो जाने पर उससे अवच्छिन्न या उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य (चिदाभास) के द्वारा उस विषय का एक ही कारण फलव्याप्ति है।

"बाह्येन्द्रियसन्निकृष्टार्थाकारबाह्यधीपरिणामावच्छिन्नचिदंशकृतप्राकट्याश्रयत्वं फलव्याप्यत्वम्।" विद्वन्मनोरञ्जनी

बुद्धि—

निश्चय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति को बुद्धि कहते हैं।

"बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः...।" वेदान्तसार १३

"बुद्धिं तु सारथिं विद्धि।" कठोपनिषद् ३।३

"बुद्धिर्धृतिः स्मृतिः प्रज्ञानम्।" मैत्रायणी उपनिषद् ६।३१

ब्रह्मचर्य—

पुरुष या नारी का अपनी उपस्थेन्द्रिय को नियन्त्रण में रखना ब्रह्मचर्य है।

"ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गमैथुनवर्जनम्।" विद्वन्मनोरञ्जनी

"ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।"

व्यासभाष्य २।३०

ब्रह्मनिष्ठ—

एकमात्र ब्रह्म में निष्ठा (आस्था) रखने वाले पुरुष को ब्रह्मनिष्ठ कहा गया है। सदानन्द ने वेदान्तसार में ब्रह्मनिष्ठ को ही 'जीवन्मुक्त' संज्ञा दी है।

मनन—

श्रुत अद्वितीय ब्रह्म का वेदान्त के अनुरूप तर्कों द्वारा निरन्तर चिन्तन करना 'मनन' कहलाता है—

"मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्।"
वेदान्तसार ३०

मनस्—

आन्तरिक भावनाओं की करणभूत इन्द्रिय अन्तःकरण में जब "मैं चिद्रूप हूँ, मैं देह हूँ"—इस प्रकार की संकल्पयुक्त अथवा "मैं पढ़ूँ या न पढ़ूँ"—इस प्रकार की विकल्पात्मक वृत्ति उत्पन्न होती है तो उसे मन कहते हैं—

"मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः।" वेदान्तसार १३

"एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतम्।" कौषीतकी उपनिषद् २।१

मनोमयकोश—

ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मन को मनोमयकोश कहते हैं।

"मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति।" वेदान्तसार १३

"मनोमयः प्राणशरीरः।" छान्दोग्योपनिषद्, ३।१४।२

"सात्त्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः।"
पञ्चदशी १।३५

महाप्रपञ्च—

स्थूल, सूक्ष्म और कारण प्रपञ्चों का समुदाय महाप्रपञ्च कहलाता है।

'एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महान् प्रपञ्चो भवति।" वेदान्तसार १८

महावाक्य—

महान् अखण्ड ब्रह्मतत्त्व के प्रतिपादक वाक्यों को वेदान्त में महावाक्य की संज्ञा दी गई है। विना महावाक्य के अद्वैत ब्रह्म को जानना असम्भव ही है। इसीलिए संक्षेपशारीरिककार सर्वज्ञात्ममुनि ने कहा है—

"विनाग्रमहावाक्यमतो न कश्चित् पुमांसमद्वैतमवैति जन्तुः।
संक्षेप शारीरिक ३।३०२

तत्त्वमसि आदि महावाक्यों की संख्या १२ मानी गई है। (देखिए विवेक—तत्त्वमसि निरूपण)

माया—

ईश्वर की शक्ति का नाम माया है। माया सत् तथा असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। माया का एक रूप विषयात्मक भी है। जिसके अनुरूप जगत् माया मात्र है—

"ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिः।" शा० भा० श्वे० उ० १।४।३१

"मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।" गौडपादकारिका

यम—

यह निर्विकल्पक समाधि के आठ अङ्गों में से एक है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को 'यम' कहा गया है।

तत्र "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।" वेदान्तसार ३१

रसास्वाद—

अखण्डवस्तु (ब्रह्म) का अवलम्बन न करने पर भी चित्तवृत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करना 'रसास्वाद' कहलाता है अथवा निर्विकल्पकसमाधि के प्रारम्भिक काल में सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन 'रसास्वाद' कहलाता है—

"अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा।" वेदान्तसार ३२

लय—

'लय' निर्विकल्पकसमाधिकाल में होने वाले विक्षेप कषाय आदि चार प्रकार के विघ्नों में से एक है।

आलस्यवश अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का अवलम्बन न करने के कारण चित्तवृत्ति का सो जाना 'लय' कहलाता है।

"लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा।"

वेदान्तसार ३२

लिङ्ग—

जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य-रूप अर्थ का बोध कराने के कारण उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद एवं उपपत्ति—ये छः लिङ्ग कहलाते हैं—

'लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि।"

वेदान्तसार

"उपक्रमोपसंहाराभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥" सर्वदर्शनसंग्रह

विकार—

जब कोई वस्तु अपने स्वरूप को छोड़कर किसी दूसरे रूप को ग्रहण कर लेती है, तो उसे विकारभाव कहते हैं। विकार को ही परिणाम भी कहते हैं

'सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः ।" वेदान्तसार २१

"तत्त्वतोऽन्यथाभावः परिणामः ।"

ब्रह्मसूत्र १।२।२ पर वेदान्तकल्पतरुपरिमल

"अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य परिणामिता ।
स्यात् क्षीरंदधि मृत्कुम्भः सुवर्णं कुण्डलं यथा ॥" पञ्चदशी १३।८

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् ।" छान्दोग्योपनिषद् ६।१।४

विक्षेप—

अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का अवलम्बन न करने के कारण, चित्तवृत्ति का अन्य वस्तुओं में 'अवलम्बन' 'विक्षेप' कहा गया है—

"अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः ।"

वेदान्तसार ३२

विज्ञानमयकोश—

पांच ज्ञानेन्द्रियों (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, तथा घ्राण) सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं।

"इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति ।" वेदान्तसार १३

"अन्योऽन्यतर आत्मा विज्ञानमयः ।" तैत्तिरीयोपनिषद् २।४।१

"तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ।"

पञ्चदशी १।३५

विश्व—

स्थूलशरीरों की व्यष्टि से उपहित चैतन्य को, सूक्ष्म शरीर के अभिमान का परित्याग किए बिना स्थूल शरीर आदि में प्रविष्ट होने के कारण, 'विश्व' कहते हैं।

"एतद्व्यष्टयुपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात् ।" वेदान्तसार १७

"सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद्विश्व इत्युक्तं भवति ।" विद्वन्मनोरञ्जनी

वृत्ति—

अन्तःकरण के चक्षु आदि द्वारा घटादि विषय देश में जाकर तत्तदाकार में परिवर्तित होने को वृत्ति कहते हैं।

"यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादि द्वारा घटादि विषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते।" वेदान्तपरिभाषा, परिच्छेद १

वेदान्त—

जो दर्शन उपनिषदों पर आधारित है उसे वेदान्त कहते हैं। ब्रह्मसूत्र, गीता एवं प्रस्थानत्रयी का शाङ्करभाष्य वेदान्त का उपकारक साहित्य है। यद्यपि रामानुज, निम्बार्क एवं वल्लभ का दर्शन भी वेदान्त है, किन्तु आज प्रायः वेदान्त शब्द से शङ्कराचार्य के अद्वैत वेदान्त का ही आशय ग्रहण किया जाता है।

"वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरिकसूत्रादीनि च।"

वेदान्तसार ३

व्यष्टि—

व्यष्टि शब्द का तात्पर्य है सीमित को व्याप्त करने वाली। वेदान्त में अज्ञान की व्यष्टि के लिए अविद्या शब्द आया है।

"यथा वनस्य व्यष्टयभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्टयभिप्रायेण जलानीति तथा अज्ञानस्य व्यष्टयभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत' इत्यादि श्रुतेः।" वेदान्तसार ७

"सत्त्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते। पञ्चदशी १।१६

शम—

श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से अतिरिक्त विषयों से मन को हटाना शम कहलाता है।

"शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः।"

वेदान्तसार ४

श्रद्धा—

गुरु के द्वारा कहे गए वेदान्त-वाक्यों में विश्वास रखना श्रद्धा है।

"गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा।" वेदान्तसार ४

श्रवण—

छः प्रकार के लिङ्गों (उपक्रम और उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद एवं उपपत्ति) द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म में मानना श्रवण कहलाता है—

"श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम् । लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि ।"

वेदान्तसार ३०

श्रोत्रिय—

वेद एवं वेदाङ्गों के विद्वान् को श्रोत्रिय कहते हैं। श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार श्रोत्रिय को पाप एवं कामना से रहित होना चाहिए। 'यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः।' (वृ० उ० ४।३।३३)

इस सम्बन्ध में एक अन्य श्लोक भी मिलता है—

जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर् द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्चयते ॥

संसर्ग—

किसी वाक्य में आए हुए पदों से निर्दिष्ट पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध को संसर्ग कहते हैं। यह संसर्ग दो प्रकार का होता है—भेदरूपसंसर्ग और अभेदरूपसंसर्ग । जहां पर वाक्यगत पदों में भिन्न-भिन्न विभक्तियों का प्रयोग होने से सामानाधिकरण्य का अभाव होता है, वहाँ पर वाक्यार्थ अभेदरूपसंसर्ग माना जाता है।

सत्य —

वस्तुस्थिति का बिना अतिक्रमण किए हुए बोलना सत्य है।

"सत्यं यथार्थभाषणम् ।" विद्वन्मनोरञ्जनी

"सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति ।" व्यासभाष्य, २।३०

समाधान—

वश में किए गए मन का श्रवणादि के अनुकूल विषयों (यथा गुरुसेवा, गुरुवचनों में श्रद्धा आदि) में स्थिरता को समाधान कहते हैं।

"निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम् ॥"

वेदान्तसार ४

समाधि—

चित्त को समाहित करने का नाम समाधि है। इस स्थिति में ध्यान एवं ध्येय में अभेद होता है। तथा ध्येय ध्यान के आधार—चित्त पर प्रतिष्ठित होता है। इस अवस्था में ध्यान की स्वरूपशून्यता रहती है।

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।" योगसूत्र ३।३

सर्वज्ञ—

सर्वज्ञ का अर्थ है सब कुछ जानने वाला। वेदान्त में समष्टि उपाधि से युक्त चैतन्य को सर्वज्ञ कहा जाता है।

"इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादि गुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सन्ततज्ञानावभासकत्वम्।" वेदान्तसार ७

"सः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते॥" मुण्डकोपनिषद् १।१।९

सविकल्पकसमाधि—

जिस समाधि-अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान आदि भेदों के बने रहने पर भी अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) के आकार वाली चित्तवृत्ति का एकमात्र अद्वितीय (ब्रह्म) में ही अवस्थान रहता है, उस अवस्था को सविकल्पक-समाधि कहते हैं। जिस प्रकार मृत्तिका से बने हुए गज, मृग आदि भेदों के बने रहने पर भी एकमात्र मृत्तिका का भान होता है उसी प्रकार सविकल्पक समाधि में ज्ञानादि भेदों का भान होने पर भी एकमात्र अद्वैत वस्तु ही भासित होती है—

"तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम् तदा मृन्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद् द्वैतभानेऽप्यद्वैतं भासते। वेदान्तसार ३०

सुषुप्ति—

आत्मा की मायोपहित प्राथमिक अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर उपाधि बनता है, जिसे आनन्दमयकोश भी कहा जाता है। सुषुप्ति में जागरण और स्वप्न का संसार अज्ञान के साथ एकीभूत हो जाता है।

"...सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते।" वेदान्तसार ७

सूक्ष्मशरीर—

मृत्यु के बाद तथा जन्म से पूर्व जीव के कर्म-संस्कार जिस शरीर में रहते हैं, उसे सूक्ष्मशरीर कहते हैं। सूक्ष्मशरीर को लिङ्गशरीर भी कहा जाता है क्योंकि इसके द्वारा प्रत्यगात्मा के अस्तित्व का ज्ञापन होता है। पांच ज्ञानेन्द्रियां—बुद्धि और मन, पांच कर्मेन्द्रियां, तथा पांच प्राण इन सत्रह अवयवों से मिलकर सूक्ष्मशरीर बनता है।

"सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि।" वेदान्तसार १३

सूत्रात्मा—

सूक्ष्म शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य को समस्त प्राणियों के लिङ्ग-शरीरों में सूत्र के समान अनुस्यूत होने के कारण सूत्रात्मा कहते हैं।

"एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा…।" वेदान्तसार १४

हिरण्यगर्भ—

'हिरण्यस्य गर्भः' वृत्ति के अनुसार ज्ञानशक्तिमान विज्ञानमयकोश ही हिरण्यमय अण्डा है। उससे आच्छादित होने के कारण उसके अभिमानी चैतन्य को हिरण्यगर्भ कहते हैं।

"हिरण्य गर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च।" वेदान्तसार १४

"एष हि खल्वात्मा……हिरण्यगर्भः। मैत्रायणी उपनिषद् ६।८

वेदान्तसारान्तर्गत उद्धरणों की अनुक्रमणिका

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वज्ञ प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥
माण्डूक्योपनिषद् ६, पृ० २६

ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् । छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७, पृ० १०८

कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः । बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।१६, पृ० ६

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं
यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः ।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥ हस्तामलक १०, पृ० ३६

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः ॥
माण्डूक्योपनिषद् ३, पृ० ६४

तत्त्वमसि । छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७। पृ ८६

तपसा कल्मषं हन्ति । मनुस्मृति १२।१०४, पृ० ६

तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन ।
बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।२२, पृ० ६

तरति शोकमात्मवित् । छान्दोग्योपनिषद् ७।१।३, पृ० ७

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।१, पृ० ४२

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह । मुण्डकोपनिषद् १।२।१३, पृ० १६

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिस्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥
श्वेताश्वतरोपनिषद् १।३, पृ० १८

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः । छान्दोग्योपनिषद् ५।१।७, पृ० ६९

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं
सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम् ।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं
तदेव चाहं सततं विमुक्त ओम् ॥ उपदेशसाहस्री १०।१
पृ० १०८

देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम् । श्वे० उ० १।३, पृ० १८

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥ पञ्चदशी १।२७, पृ० ५८

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति । बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।६, पृ १३०

प्रज्ञानघन एवानन्दमयः । माण्डूक्योपनिषद् ५, पृ० ७०

प्रविविक्तभुक्तैजसः । माण्डूक्योपनिषद् ४, पृ० ५४

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च
प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे ।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा
प्रदेयमेतत् सकलं मुमुक्षवे ।। उपदेशसाहस्री १६।७२,
पृ० ६

फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ।। पञ्चदशी ७।९०, पृ० १०४

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ।। नैष्कर्म्यसिद्धि ४।६२, पृ० १२७

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ।। पञ्चदशी ७।९१, पृ० १०४

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।
स्वयम्प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते ।। पञ्चदशी ७।९२, पृ० १०४

ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा सा आत्मज्ञो न चेतर. । उपदेशसाहस्री १२।१३ पृ० १२७

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । मुण्डकोपनिषद् ३।२।९, पृ० ७

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।। मुण्डकोपनिषद् २।२।८, पृ० १२३

मनसैवानुद्रष्टव्यम् । बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।१९, पृ० १०५

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ।। मुण्डकोपनिषद् १।१।९, पृ० २२

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तीयः पादः । माण्डूक्योपनिषद् ५, पृ० २९

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता । श्रीमद्भगवद्गीता ६।१९, पृ० १२१

यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् । छान्दोग्योपनिषद् ६।१।४, पृ० १०८

यन्मनसा न मनुते । केनोपनिषद् १।५, पृ० १०५

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः ।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत् ।।
नास्वादयेद् रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् । माण्डूक्यकारिका ३।४४,४५
पृ० १२१

विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत् । वाक्यसुधा १३, पृ० ३६

विमुक्तश्च विमुच्यते । कठोपनिषद् २।२।१, पृ० १३०

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः । ब्रह्मसूत्र २।४।२२, पृ० ५८

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति । बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।२२, पृ० ६

शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते । माण्डूक्योपनिषद् ७, पृ० ३२

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । योगसूत्र २।३२, पृ० ११६

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः ।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥ पञ्चदशी ७।७५, पृ० ९१

सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव । पृ० १२५

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः ।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त्त इत्युदीरितः ॥ पृ० ७९

समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । मुण्डकोपनिषद् १।२।१२, पृ० १६

सर्वं खल्विदं ब्रह्म । छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१, पृ० ६७

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।१, पृ० ६९

सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता ।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ॥ नैष्कर्म्यसिद्धि ३।३, पृ० ८६

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति
द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः ।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः
स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः ॥ उपदेशसाहस्री १०।१३, पृ० १२५

सेयं दैवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो
देवता अनेन
जीवेनात्मनानुप्रविश्य
नामरूपे व्याकरवाणीति तासां
त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां
करवाणीति । छान्दोग्योपनिषद् ६।३।२३, पृ० ६०-६१

सौम्यैकेन मृत्पिण्डेनसर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्यैव सत्यम्। छा० उ० १।१।४, पृ० १०८

शब्दानुक्रमणिका

विशिष्टसहायकग्रन्थ

अद्वैतसिद्धि	मधुसूदन सरस्वती	बम्बई १९१७
अपरोक्षानुभूति	शङ्कराचार्य	श्रीरंगम् १९७२
आत्मबोध	शङ्कराचार्य	श्रीरंगम् १९७२
उपदेशसाहस्री	शङ्कराचार्य	निर्णयसागर १९१४
गौडपादकारिका (शाङ्करभाष्य तथा आनन्दगिरि की टीकासहित)	गौडपादाचार्य	बनारस १९४२
नैष्कर्म्यसिद्धि	सुरेश्वराचार्य	पूना १९२५
पञ्चदशी	विद्यारण्य	काशी १९४२
ब्रह्मसिद्धि	मण्डनमिश्र	मद्रास १९३७
ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य	शङ्कराचार्य	निर्णयसागर १९१७
भामती	वाचस्पतिमिश्र	निर्णयसागर १९१७
मानसोल्लास	सुरेश्वराचार्य	मद्रास, प्रथम संस्करण
रत्नप्रभा	गोविन्दानन्द	काशी सं० १९९२
लङ्कावतारसूत्र		लन्दन १९२३
वाक्यसुधा	शङ्कराचार्य	बनारस १९०१
विवरणप्रमेयसंग्रह	विद्यारण्य	काशी सं० १९९६
विवेकचूडामणि	शङ्कराचार्य	अल्मोड़ा सं० १९५२
वेदान्तपरिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	बनारस १९३७
वेदान्तसार (विद्वन्मनोरञ्जनी तथा सुबोधिनी सहित)	सदानन्द	बम्बई १८९३
वेदान्तसार (जैकब द्वारा सम्पादित)	सदानन्द	पूना १९२९
(हिरियन्ना द्वारा सम्पादित)		

वेदान्तसार	सदानन्द (निखिलानन्द द्वारा सम्पादित)	अल्मोड़ा १९४९
वेदान्तसार	सदानन्द (रामशरण शास्त्री द्वारा सम्पादित)	बनारस १९५४
संक्षेपशारीरक	सर्वज्ञात्ममुनि	बनारस १९२४
सिद्धान्तलेशसंग्रह	अप्पयदीक्षित	काशी सं० २००१
A Study of Śaṅkara	*Nalini Mohan Shastri*	Calcutta 1942
Hinduism and Buddhism	*Illiot*	London, IInd Edition
History of Indian Philosophy Vol. II	*S. Radhakrishnan*	London 1930
History of Indian Philosophy Vol. I	*S. N. DasGupta*	London 1951
Brahmasūtra, Introduction	*Thibaut*	London 1896

—:o:—

